बी.ए. द्वितीय वर्ष
संस्कृत, प्रथम प्रश्नपत्र

गद्य दर्शन एवं व्याकरण

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr Hariram Raidas
   Professor
   Govt Hamidia College, Bhopal

2. Dr H.P.Dikxit
   Professor
   Govt Ramanand Sanskrit College, Lalghati, Bhopal

3. Dr .S.Jamra
   Professor
   Govt Ramanand Sanskrit College, Lalghati, Bhopal

Advisory Committee

1. Dr Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

2. Dr L.S.Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

3. Dr Anjali Singh
   Director
   Department of Student Support
   Madhya Pradesh Bhoj (open) University, Bhopal

4. Dr Hariram Raidas
   Professor
   Govt Hamidia College, Bhopal

5. Dr H.P.Dikxit
   Professor
   Govt Ramanand Sanskrit College, Lalghati, Bhopal

6. Dr .S.Jamra
   Professor
   Govt Ramanand Sanskrit College, Lalghati, Bhopal

COURSE WRITERS

Dr. Kuldeep Kumar, Assistant Professor, Deptt. of Sanskrit, Central University of Himachal Pradesh, Dharamshala, Himachal Pradesh
Units: (1, 4, 5)

Dr. Asha Kiran, Assistant Editor of Vaisharadi, Sahitya, Purnanetihas Department, S.L.B.S.R.S. Vidyapeetha, New Delhi
Unit: (2.0-2.1, 2.2-2.8, 2.12-2.16)

Dr Shruti Kant Pandey, Senior Lecturer, Amity Institute of Education, Amity University Uttar Pradesh, Noida
Unit: (2.9-2.11)

Dr Anjali Thapliyal Kaul, Post Doctoral Fellow, Indian Council of Historical Research, New Delhi
Dr Aruna Sharma, Reader & Head, Department of History, Ginni Devi Modi Girls (PG) College, Modinagar
Unit: (3)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

VIKAS®

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

गद्य दर्शन एवं व्याकरण

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 : शुकनासोपदेशः बाणभट्ट विरचित कादम्बरी से (व्याख्या एवं समालोचनात्मक प्रश्न)	**इकाई 1** : शुकनासोपदेशः (बाणभट्ट विरचित कादम्बरी से) **(पृष्ठ 3–30)**
इकाई–2 : आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त तथा मीमांसा) चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन का सामान्य परिचय अपेक्षित है।	**इकाई 2** : आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, मीमांसा, चार्वाक, जैन एवं बौद्ध) **(पृष्ठ 31–92)**
इकाई–3 : षोडश संस्कारों का परिचय (विधान एवं महत्व का ज्ञान अपेक्षित है)।	**इकाई 3** : षोडश संस्कारों का परिचय **(पृष्ठ 93–108)**
इकाई–4 : वाच्य परिवर्तन (कर्तृ, कर्म एवं भाव वाच्य नियम तथा उदाहरण अपेक्षित हैं)। संस्कृत में एक निबंध।	**इकाई 4** : वाच्य परिवर्तन **(पृष्ठ 109–132)**
इकाई–5 : समास (लघुसिद्धांतकौमुदी से विग्रह एवं समास का ज्ञान अपेक्षित है)।	**इकाई 5** : समास (लघुसिद्धांतकौमुदी से) **(पृष्ठ 133–190)**

विषय–सूची

परिचय **1**

इकाई 1 शुकनासोपदेशः (बाणभट्ट विरचित कादम्बरी से) **3–30**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 शुकनासोपदेश के रचनाकार बाणभट्ट
1.3 मूल शुकनासोपदेश व हिंदी अर्थ
1.4 शुकनासोपदेश की व्याख्या व समालोचना
  1.4.1 गद्यांशों की व्याख्या
  1.4.2 कादम्बरी–सार
  1.4.3 शुकनासोपदेश का सार
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, मीमांसा, चार्वाक, जैन एवं बौद्ध) **31–92**

2.0 परिचय
2.1 इकाई के उद्देश्य
2.2 भारतीय दर्शन का स्वरूप
2.3 सांख्य दर्शन
2.4 योग दर्शन
2.5 न्याय दर्शन
2.6 वैशेषिक दर्शन
2.7 वेदान्त दर्शन
  2.7.1 वेदान्त की आचार्य परंपरा एवं साहित्य
  2.7.2 वेदान्त दर्शन में विवेचित दार्शनिक विषय
2.8 मीमांसा दर्शन
  2.8.1 मीमांसा दर्शन का इतिहास
  2.8.2 मीमांसा दर्शन के प्रमुख सिद्धांत
2.9 चार्वाक दर्शन – सामान्य परिचय
2.10 जैन दर्शन
  2.10.1 जैन दर्शन – सामान्य परिचय
  2.10.2 जैन दर्शन – अनेकान्तवाद और स्याद्वाद
  2.10.3 जैन दर्शन – जीव, बंध और मुक्ति का सिद्धांत
2.11 बौद्ध दर्शन – सामान्य परिचय
2.12 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.13 सारांश
2.14 मुख्य शब्दावली
2.15 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.16 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 षोडश संस्कारों का परिचय **93—108**
3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 षोडश संस्कार
3.2.1 संस्कार का विधान और महत्व
3.2.2 विविध संस्कारों के नाम व रूप
3.2.3 संस्कारों के प्रयोजन एवं उद्देश्य
3.3 अपनी प्रगति जांचिए के उत्तर
3.4 सारांश
3.5 मुख्य शब्दावली
3.6 स्व—मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.7 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 वाच्य परिवर्तन **109—132**
4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 वाच्य : अर्थ, परिभाषा एवं भेद
4.2.1 वाच्य का अर्थ एवं परिभाषा
4.2.2 वाच्य—विभेद
4.3 वाच्य परिवर्तन नियम व सिद्धान्त
4.3.1 कर्तृवाच्य तालिका (सकर्मक क्रिया)
4.3.2 कर्तृवाच्य तालिका (अकर्मक क्रिया)
4.3.3 कर्मवाच्य तालिका (सदा सकर्मक क्रिया)
4.3.4 भाववाच्य तालिका (सदा अकर्मक क्रिया)
4.3.5 वाच्य परिवर्तन अभ्यास
4.4 संस्कृत निबंध
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व—मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 समास (लघुसिद्धांतकौमुदी से) **133—190**
5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 समास : परिभाषा एवं भेद
5.3 समास प्रकरणम् (स—विग्रह : लघुसिद्धांतकौमुदी से)
5.3.1 केवल समासः
5.3.2 अथ अव्ययीभाव समासः
5.3.3 अथ तत्पुरुष समासः
5.3.4 अथ बहुव्रीहि समासः
5.3.5 अथ द्वन्द्व समासः
5.3.6 अथ समासान्ताः
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व—मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.7 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'गद्य दर्शन एवं व्याकरण' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित बी.ए. (संस्कृत) द्वितीय वर्ष के प्रथम प्रश्नपत्रानुरूप तैयार की गई है।

सामान्यतः लोगों को यह भ्रांति रहती है कि संस्कृत का समस्त वाङ्मय पद्यात्मक अथवा मन्त्रात्मक है, परन्तु यथार्थतः संस्कृत में समृद्ध गद्य साहित्य के दर्शन न केवल वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होते हैं अपितु लौकिक साहित्य में भी दण्डी, बाणभट्ट आदि के उत्कृष्ट गद्य के समान विश्वभर में उपलब्ध नहीं है। समग्र गद्य साहित्य में बाणभट्ट की कादम्बरी का यथा सर्वोच्च स्थान है तथैव कादम्बरी का शुकनासोपदेश काम्बदरी का भी देदीप्यमान आभूषण है। इसी प्रकार संस्कृत में उपलब्ध दार्शनिक चिंतन परम्परा भी भारत को जगद्गुरु के रूप में प्रतिष्ठित करती है। इस सारे साहित्य के मन्थन के लिए संस्कृत के व्याकरण का तत्वज्ञ होना संस्कृत के विद्यार्थियों के लिए अत्यंत गुणकारी है। अतएव इस पुस्तक में गद्य, दर्शन एवं व्याकरण के बिंदु षोडश संस्कारों के परिचय सहित निबद्ध हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिए संपूर्ण पुस्तक को पांच इकाइयों में समायोजित किया गया है। प्रत्येक इकाई के प्रारंभ में विषय का विश्लेषण करने से पहले उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया है तथा इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता को परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं। इन इकाइयों का विवरण निम्नांकित है–

प्रथम इकाई में 'कादम्बरी' से सङ्कलित 'शुकनासोपदेश' का स–व्याख्या समालोचनात्मक विवेचन हुआ है।

द्वितीय इकाई में छह आस्तिक दर्शनों का और तीन नास्तिक दर्शनों का यथावश्यक प्रस्तुतीकरण किया गया है।

तृतीय इकाई में भारतीय संस्कृति के प्रकाशमान स्तंभ षोडश संस्कारों की जानकारी क्रमबद्ध रूप से उपस्थापित की गई है।

चतुर्थ इकाई में संस्कृत के वाक्यों के तात्पर्य के बोध के लिए अनिवार्य वाच्य एवं वाच्य परिवर्तन की विधि को नियमों एवं उदाहरणों सहित निबद्ध किया गया है।

पांचवीं और अन्तिम इकाई में पाणिनि की अष्टाध्यायी के आधार पर वरदराज द्वारा सम्पादित 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' के समास प्रकरण के सूत्रों को वृत्ति और उदाहरणों सहित संजोया गया है।

सम्पूर्ण पुस्तक छात्रों के लिए बोधगम्य सरल–सुबोध भाषा में लिखी गई है, अतः सविश्वास आशा है कि छात्र इससे पूर्णतया लाभान्वित होंगे।

इकाई 1 शुकनासोपदेशः (बाणभट्ट विरचित कादम्बरी से)

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 शुकनासोपदेश के रचनाकार बाणभट्ट
1.3 मूल शुकनासोपदेश व हिंदी अर्थ
1.4 शुकनासोपदेश की व्याख्या व समालोचना
  1.4.1 गद्यांशों की व्याख्या
  1.4.2 कादम्बरी–सार
  1.4.3 शुकनासोपदेश का सार
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

बाणभट्ट रचित कादम्बरी न केवल संस्कृत की अपितु विश्व की समस्त भाषाओं में रचित गद्य साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है, सुधी पाठकों का ऐसा अनुभव सहजगम्य है। इस कादम्बरी रूपी क्षीरसागर का ही नवनीत है 'शुकनासोपदेश'। जिस प्रकार सम्पूर्ण लक्षश्लोकी महाभारत में श्रीमद्भगवद्गीता अपना विशिष्ट स्थान रखती है और एक पृथक् ग्रन्थ के रूप में लब्ध–ख्याति है उसी प्रकार 'शुकनासोपदेश' भी कादम्बरी से अपना पृथक् स्थान रखते हुए भी 'लब्ध–ख्याति' और उपकारक ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसके लघु और दीर्घ वाक्य पाठक के मन को न केवल सुहाते हैं अपितु श्रेष्ठ संस्कारों की अमिट छाप भी मन पर छोड़ते हैं। पदे–पदे बाणभट्ट के वचन अपनी सत्यता को स्वीकार करने के लिए पाठक को विवश करते हैं। यही एक श्रेष्ठ उपदेश की पहचान भी है। इन उपदेशों का अनुसरण करके कोई भी अपने जीवन को निर्दोष बनाने की प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। यही काव्य के उद्देश्य के रूप में कहे गए काव्य प्रकाश के रचयिता मम्मटाचार्य के लक्षण की कसौटी भी है–

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतर–क्षतये'

(काव्य वह है जो यश, अर्थ की प्राप्ति, व्यवहारज्ञान और अमंगल की क्षति कराने के लिए समर्थ हो)

राजकुमार चन्द्रापीड को शुकनास का उपदेश 'चन्द्रापीड' के बहाने से समस्त धनिकों को ठीक उसी प्रकार सन्मार्ग की शिक्षा देता है जैसे रामायण में सती अनसूया द्वारा सीता को उपदेश के माध्यम से समस्त स्त्री जाति को सन्मार्ग का उपदेश प्रदान किया गया है। इसी तथ्य को प्रमाणित करता हुआ उपदेशान्त में शुकनास का अधोलिखित वाक्य दर्शनीय है–

कामं भवान् प्रकृत्यैव धीरः, पित्रा च महता प्रयत्नेन समारोपितसंस्कारः, तरलहृदयमप्रतिबुद्धञ्च मदयन्ति धनानि, तथापि भवद्गुणसन्तोषो मामेवं मुखरीकृतवान्।

टिप्पणी

'शुकनास' राजा तारापीड का मन्त्री है। युवराज पद पर अभिषिक्त होने जा रहे चन्द्रापीड को राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति से होने वाले अहंकार से बचने का उपदेश वह इन वाक्यों से प्रदान करता है। अधिकांश रूप में इसमें लक्ष्मी की निन्दा दिखाई देती है। परन्तु ये सारे आक्षेप लक्ष्मी पर लागू न होकर लक्ष्मीवानों पर ही लागू होते हैं, अतः इसे व्याजनिन्दा कहा जा सकता है। ध्यातव्य है कि भारत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पर्वों में 'दीपावली' है जो कि लक्ष्मीपूजन पर आधृत है। लक्ष्मीपूजन पर भी यही कामना की जाती है कि घर में ऐसी लक्ष्मी आए जो सन्मार्ग पर चलाने में सहायक हो न कि व्यसनादि पर व्यय करने की शक्ति प्रदान करे।

व्यसनादि पर व्यय होने वाली लक्ष्मी को ही कुलक्ष्मी अथवा 'अलक्ष्मी' कहा गया है। ऋग्वेद के श्रीसूक्त में भी इसी अलक्ष्मी के नाश का मन्त्र द्रष्टव्य है–

1. **तां पद्मिनीं शरणं प्र पद्ये अलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणे।**
2. **क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्हम्।**

अतः सम्पूर्ण शुकनासोपदेश को प्राचीनतम भारतीय संस्कृति के प्रतिबिम्ब का उज्ज्वल स्वरूप माना जाना स्वीकार किया गया है।

इस इकाई में शुकनासोपदेश से व्याख्या एवं समालोचनात्मक प्रश्नों की विवेचना की गई है।

1.1. उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- शुकनास द्वारा चंद्रापीड को उपदिष्ट धन की प्राप्ति से मनुष्य में किन–किन दोषों का प्रवेश हो सकता है यह जान पाएंगे;
- विषयों के विष से किस प्रकार जीवन विनाश के पथ पर अग्रसर होता है इसे समझ पाएंगे;
- प्रमुख गद्याशों की व्याख्या के अध्ययन से गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या शैली को सीख पाएंगे;
- बाणभट्ट की लेखन शैली से भलीभांति परिचित हो पाएंगे।

1.2 शुकनासोपदेश के रचनाकार बाणभट्ट

बाणभट्ट को विश्व के प्रथम उपन्यासकार के रूप में जाना जाता है। उनके द्वारा रचित 'कादम्बरी' ही विश्व का प्रथम उपन्यास है। बाणभट्ट की दो गद्य रचनाएं हैं, 'कादम्बरी' और 'हर्षचरितम्'।

प्रायः संस्कृत के प्राचीन कवियों के सुस्पष्ट कालनिर्णय में कठिनाई आती है, परन्तु बाणभट्ट के विषय में ऐसी कोई समस्या नहीं है। वे राजा हर्ष के समकालीन थे।

कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का राज्यकाल 606 ईस्वी से 646 ईस्वी तक प्रमाणित है अतः बाणभट्ट निश्चितरूप से सातवीं शताब्दी के प्रारंभिक साहित्यकार प्रमाणित होते हैं।

शोण (सोन) नदी के तट पर स्थित प्रीतिकूट नामक गांव में इनका जन्म एक सम्पन्न परिवार में हुआ। इनके पिता का नाम चित्रभानु राव और पितामह का नाम अर्थपति था। माता का नाम राज्यदेवी था। बाण के शैशव में ही इनकी माता चल बसीं। चौदह वर्ष की अवस्था में पिता भी असार संसार को छोड़कर चले गए।

किशोरावस्था में बाणभट्ट की रुचि भ्रमण में होने से उन्होंने अनेक स्थानों की यात्राएं कीं और अनेक मैत्री संबंध बनाए। इनके मित्रों में प्राकृत के कवि ईशान राव का नाम भी सम्मिलित है। इसी भ्रमण क्रम में इन्हें राजा हर्षवर्धन के चचेरे भाई कृष्ण का यह सन्देश मिला कि कुछ चुगलखोरों ने राजा के कान बाणभट्ट के विरुद्ध भरे हैं अतः इन्हें शीघ्र राजा से आकर मिलना चाहिए। इस संदेश को प्राप्त करके वे राज्यसभा में पहुंचे। सम्राट के साथी मालवाधीश ने इन्हें देखकर प्रश्न किया, 'कोऽसौभुजङ्गः' अर्थात् 'यह सांप कौन है।' प्रत्युत्पन्नमति बाणभट्ट ने भी तत्काल पूछा, "का मे भुजङ्गता अर्थात क्या है मुझमें सर्पत्व अथवा कौन है जो मेरी भुजाओं में समाई है?'' बाणभट्ट के इस विलक्षण उत्तर से राजा इन पर प्रसन्न हो गए। तदुपरान्त वे राज्याश्रय में ही रहे। 'हर्षचरितम्' लिखकर मानो बाणभट्ट ने राज्याश्रय का मूल्य कई गुना करके चुका दिया।

'कादम्बरी' इनकी श्रेष्ठतम कृति है तथापि इसे पूर्ण करने से पहले ही इनका अंत निकट आ गया। अपना अंत निकट जानकर इन्होंने कादम्बरी की पूर्ति का भार अपने दो पुत्रों में से किसी एक को देना चाहा। इसके लिए उन्होंने अपने पुत्रों के वाग्वैदग्ध्य की परीक्षा ली। सामने एक पत्रविहीन सूखे पेड़ का वर्णन करने के लिए उन्होंने अपने पुत्रों से कहा। ज्येष्ठ पुत्र ने वर्णन करते हुए कहा–

'शुष्कः काष्ठस्तिष्ठत्यग्रे'

कनिष्ठ पुत्र ने उसी वृक्ष का वर्णन करते हुए कहा–

''नीरसतरुरिह विलसति पुरतः।''

कनिष्ठ पुत्र की सरस शैली को देखते हुए बाणभट्ट ने कादम्बरी की पूर्ति का दायित्व उसे सौंप दिया। कनिष्ठ पुत्र भूषण भट्ट अथवा पुलिन्द भट्ट ने ही तत्पश्चात् कादम्बरी के उत्तरार्द्ध को पूरा किया।

बाणभट्ट की शैली– बाणभट्ट की शैली समास प्रधान व प्रायः दीर्घ वाक्य रचना कौशल से सम्पन्न है, तथापि लघु वाक्यों के लालित्य में भी बाणभट्ट अनुपम हैं। कादम्बरी में महाश्वेता के विलाप में ऐसा ही कौशल देखा जा सकता है–

''किं वा मया वामया पापया''

दीर्घ वाक्य रचना में इनका विशेषण बाहुल्य देखते ही बनता है। विशेषणों की लंबी पंक्ति के चलते वाक्य यद्यपि दीर्घ से दीर्घतर होते जाते हैं तथापि उनमें प्रवाह का अवरोध एवं नीरसता नहीं आती। उदाहरण के लिए शुकनासोपदेश का ही निम्नलिखित वाक्य द्रष्टव्य है–

लब्धापि खलु दुःखेन परिपाल्यते, दृढगुणपाश–सन्दान–निष्पन्दीकृतापि नश्यति, उद्दाम–दर्प–भटसहस्रोल्लासितासिलतापञ्जर–विधृताप्यपक्रामति,

मदजलदुर्दिनान्धकार–गज–घनघटा–परिपालितापि प्रपलायते, न परिचयं रक्षति, नाभिजनमीक्षते, न रूपमालोकयते, न कुलक्रममनुवर्तते, न शीलं पश्यति, न वैदग्ध्यं गणयति, न श्रुतमाकर्णयति, न धर्ममनुरुध्यते, न त्यागमाद्रियते, न विशेषज्ञतां विचारयति, नाचारं पालयति न सत्यमवबुध्यते, न लक्षणं प्रमाणीकरोति।

अलंकारों के सहज प्रयोग में भी बाणभट्ट की निपुणता पाठक को चमत्कृत करती है। उपमा, रूपक, श्लेष उत्प्रेक्षा, विरोधाभास और परिसंख्या अलंकार का अनेकत्र सुंदर प्रयोग इनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। उत्प्रेक्षा अलंकार की छटा शुकनासोपदेश में भी विशेषतः दर्शनीय है–

गन्धर्वनगरलेखेव पश्यत एव नश्यति। अद्याप्यारूढमन्दर–परिवर्त्तावर्तभ्रान्ति–जनितसंस्कारेव परिभ्रमति। कमलिनीसञ्चरण–व्यतिकर–लग्न–नलिन–नाल–कण्टकक्षतेव न क्वचिदपि निर्भरमाबध्नाति पदम्। अतिप्रयत्नविधृतापि परमेश्वरगृहेषु विविधगन्धगजगण्ड–मधुपानमत्तेव परिस्खलति। पारुष्यमिवोपशिक्षितुमसिधारासु निवसति। विश्वरूपत्वमिव ग्रहीतुमाश्रिता नारायणमूर्तिम्।

प्रकृति वर्णन में बाणभट्ट की सौंदर्य दृष्टि संभवतः उनकी भ्रमणरुचि का सुंदर परिणाम है। कादम्बरी में अच्छोदसरोवर का वर्णन पढ़कर पाठक का मन प्रफुल्लित हो उठता है। संसार के समग्र आचार–व्यवहार का विस्तारपूर्वक उद्घाटन करने के बाण के कौशल को देखकर यह लगता है कि उन्होंने जगत् के व्यवहार के किसी पक्ष को अछूता नहीं छोड़ा है। इसी को लेकर साहित्य जगत् में निम्नलिखित सूक्ति प्रसिद्ध है–

''बाणोच्छिटं जगत् सर्वम्।''

इस सूक्ति का यही तात्पर्य है कि बाण ने किसी भी वर्ण्य विषय को अछूता नहीं छोड़ा है। बाणभट्ट की शैली के समग्र सौन्दर्य को 'विदग्धमुखमण्डनम्' नामक ग्रन्थ में कवि धर्मदास ने एक श्लोक में इस प्रकार व्यक्त किया है–

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभावती जगन्मनोहरति।
सा किं तरुणी नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य।।

अपनी प्रगति जांचिए

1. बाणभट्ट किस शताब्दी के कवि थे?
   (क) छठी (ख) सातवीं
   (ग) चौथी (घ) आठवीं
2. बाणभट्ट के आश्रयदाता राजा हर्ष किस स्थान के राजा थे?
   (क) कन्नौज (ख) धारा
   (ग) श्रावस्ती (घ) पाटलिपुत्र

1.3 मूल शुकनासोपदेश व हिंदी अर्थ

टिप्पणी

'तात! चन्द्रापीड! विदितवेदितव्यस्य' अधीतसर्वशास्त्रस्य ते नाल्पमप्युपदेष्टव्यमस्ति। केवलञ्च निसर्गत एव अभानुभेद्यमरत्नालोकच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्। अपरिणामोपशमो दारुणो लक्ष्मीमदः। कष्टमनञ्जनवर्त्तिसाध्यमपरम् ऐश्वर्यतिमिरान्धत्वम्। अशिशिरोपचारहार्य्योऽतितीव्रः दर्पदाहज्वरोष्मा। सततममूलमन्त्रशम्यः विषयो विषयविषास्वादमोहः। नित्यमस्नानशौचबाध्यः बलवान् रागमलावलेपः। अजस्रमक्षपावसानाप्रबोधा घोरा च राज्यसुखसन्निपातनिद्रा भवति, इत्यतः विस्तरेणाभिधीयसे।

समासपरिचयः – विदितवेदितव्यस्य – विदिंत ज्ञातं ज्ञातव्यषियः येन तस्य (बहुव्रीहि समास), अधीतानि सर्वाणि शास्त्राणि, येन तस्य (बहुव्रीहि समास), भानुना अभेद्यम् (नञ्तत्पुरुष), लक्ष्मीमदः–लक्ष्मयाः मदः (षष्ठी तत्पुरुष), अपरिणामोशमः नास्ति परिणामे अन्तिमावस्थायाम् उपशमः निवृत्तिः यस्य सः (बहुव्रीहि समास), दर्पदाहज्वरोष्मा– दर्पस्य दाहज्वरः तस्य ऊष्मा (षष्ठी तत्पुरुष), राग–मलावलेपः–रागः एवं मलं, तस्य अवलेपः (षष्ठी तत्पुरुष), राज्यसुखसन्निपातनिद्रा–राज्यसुखस्य सन्निपातः (षष्ठी तत्पुरुष), अक्षपावसानप्रबोधा– न विद्यते–क्षपावसाने प्रबोधः, यस्याः सा तादृशी (नञ्+बहुव्रीहि समास)।

हिन्दी अनुवाद–वत्स चन्द्रापीड! तुम समस्त जानने योग्य विषयों को जानने वाले हो एवम् समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर चुके हो, अतः तुम्हें थोड़े से उपदेश की भी आवश्यकता नहीं है। केवल (यही वक्तव्य है कि) युवावस्था में उत्पन्न होने वाला (अज्ञानात्मक) अन्धकार स्वभाव से ही सूर्य के द्वारा विनष्ट हो सकने वाला नहीं होता, मणियों की प्रभा से उसे काटा नहीं जा सकता, दीपक के प्रकाश से उसे हटाया नहीं जा सकता और वह अत्यंत दुर्दमनीय होता है, धन–सम्पत्ति का भयंकर अभिमान जो कि अन्तिम अवस्था आने पर भी शान्त नहीं होता। ऐश्वर्य रूप तिमिर (रतौंधी नामक रोग) से उत्पन्न होने वाला अन्धापन अन्य है, जिसकी चिकित्सा अंजन में लपेटी गई शलाका से नहीं की जा सकती, वह दुःखदायी होता है। अभिमान रूपी तीव्र ज्वर की गरमी शीतल उपचारों से दूर करने योग्य नहीं होती। विष के उपभोग से जन्म लेने वाला कठिन मोह निरन्तर औषधियों एवम् मन्त्रों द्वारा शमनीय नहीं होता। (विषयों के प्रति) अनुराग के मल का अत्यधिक लेप, नित्य किए जाने वाले स्नान एवम् शौच के द्वारा भी नहीं हटता और सर्वदा राज्य–सुखों की समूह रूपी भयानक निद्रा रात्रि के बीतने पर भी नहीं खुलती। इसलिए विस्तार पूर्वक तुम्हें कहा जा रहा है।

गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वञ्चेति महतीयं खल्वनर्थपरम्परा। सर्वाविनयानामेकैकमप्येषामायतनम्, किमुत समवायः। यौवनारम्भे च प्रायः शास्त्रजलप्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः। अनुज्झितधवलतापि सरागेव भवति यूनां दृष्टिः। अपहरति च वात्येव शुष्कपत्रं समुद्भूतरजोभ्रान्तिरतिदूरम् आत्मेच्छया यौवनसमये पुरुषं प्रकृतिः। इन्द्रियहरिणहारिणी च सततमतिदुरन्तेयम् उपभोगमृगतृष्णिका।

नवयौवनकषायितात्मनश्च सलिलानीव तान्येव विषयस्वरूपाण्यास्वाद्यमानानि मधुरतराण्यापतन्ति मनसः। नाशयति च दिङ्मोह इवोन्मार्ग–प्रवर्तकः पुरुषमत्यासङ्गो विषयेषु।

टिप्पणी

समासपरिचयः – गर्भात्, ईश्वरत्वम् (पञ्चमी तत्पुरुष), यौवनारम्भे– यौवनस्य आरम्भे (षष्ठी तत्पुरुष), इन्द्रियहरिणहारिणी–इन्द्रियाणि एव हरिणाः तेषां हारिणी (षष्ठी तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद– जन्म से ही प्राप्त ऐश्वर्य, नवीन यौवन, अनुपम सौन्दर्य और अलौकिक शक्ति– यह निश्चय ही अनर्थों की महान परम्परा (कारणों की लड़ी) है। इनमें से एक–एक करके भी सभी प्रकार के अविनयों (घमंडों) के निवास स्थान हैं, (इनके एकत्रित) समूह का तो कहना ही क्या। (एक श्लोक में भी कहा गया है–"वृश्चिकस्य सुरापानं ततो वृश्चिकदंशनम्। ततो भूतस्य सञ्चारो यद्वा तद्वा भविष्यति।" यहां भी इसी प्रकार की स्थिति कही जा रही है।) युवावस्था के आरम्भ में (मनुष्य की) बुद्धि शास्त्र रूपी जल से धुल कर निर्मल होने पर भी प्रायः मैली हो जाती है। युवकों की दृष्टि (मोतियाबिंद आदि से रहित) स्वच्छता का त्याग न करने पर भी राग (वासनाओं) से युक्त ही रहती है। जवानी के समय रजोगुण से उत्पन्न भ्रान्ति वाली (वायु–पक्ष में मिट्टी के बवंडर से युक्त) प्रकृति पुरुष को उसी प्रकार अपनी इच्छा से बहुत दूर (अर्थात् विवेक से परे; वायु–पक्ष में–सुदूर स्थान पर) खींचकर ले जाती है जैसे आंधी (बवंडर) सूखे पत्ते को। अत्यन्त दुःखद परिणाम वाली यह (विषयों के) उपभोग की मृगतृष्णा सदा इन्द्रिय रूपी हरिणों का नाश करने वाली है। नव यौवन द्वारा कसैले (अर्थात् राग–द्वेषादि से लिपटे) मन को जल की भांति वे ही भोग्य वस्तुएं आस्वादित होने पर मधुर प्रतीत होती हैं (अर्थात् जैसे जल मधुर न होने पर भी कषायरस को ग्रहण करने के बाद जिह्वा को मधुर प्रतीत होता है, उसी तरह भोग्य वस्तुएं मधुर न होने पर भी जवानी से कसैले मन को मधुर लगती हैं)। दिग्भ्रम की तरह कुमार्ग पर चलाने वाली विषयों की अत्यन्त आसक्ति मनुष्य को विनष्ट कर देती है।

भवादृशा एव भवन्ति भाजनानि उपदेशानाम्। अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणिविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखेन उपदेशगुणाः। गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य। इतरस्य तु, करिण इव शङ्खाभरणमाननशोभासमुदयमधिकतरमुपजनयति। हरति च सकलम् अतिमलिनमप्यन्धकारमिव दोषजातं प्रदोषसमयनिशाकर इव। गुरूपदेशः प्रशमहेतुर्वयःपरिणाम इव पलितरूपेण शिरसिजजालममलीकुर्वन् गुणरूपेण तदेव परिणमयति।

समासपरिचयः – अपगतमले–अपगतः मलः यस्मात् तस्मिन् (बहुव्रीहि समास) राजनिकरगभस्तय–रजनिकरः तस्य गभस्तयः (षष्ठी तत्पुरुष) आननशोभासमुदयम्–आननस्य शोभा तस्याः समुदयः (षष्ठी तत्पुरुष) प्रदोषसमयनिशाकरः– प्रदोषसमयः तस्य निशाकरः (षष्ठी तत्पुरुष) प्रशमहेतुः–प्रशमस्य हेतुः (षष्ठी तत्पुरुष) वयः परिणामः वयसः परिणामः (षष्ठी तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद– आप जैसे (लोग) ही उपदेशों के पात्र होते हैं क्योंकि उपदेश के गुण निर्मल अन्तःकरण में उसी तरह आसानी से प्रवेश करते हैं जैसे स्फटिक मणि में सूर्य की किरणें। गुरु का कल्याणकारी वचन भी अशिष्ट (जन) के कान में पड़ने पर जल की भांति बहुत कष्ट उत्पन्न करता है, किन्तु (वही वचन) अन्य (अर्थात् शिष्ट जन) के

टिप्पणी

मुख की शोभा राशि को हाथी के शंखाभूषण की भांति और अधिक संवर्धित कर देता है। फिर प्रदोषकाल के चन्द्रमा की तरह (गुरु का उपदेश) अत्यन्त काले अन्धकार के समान समस्त दोषों को भी दूर कर देता है। गुरु का शान्तिजनक उपदेश केश–राशि को सफेद होने के रूप में निर्मल करती हुई वृद्धावस्था की भांति उसी (दोष–समूह) को गुण रूप में परिणत कर देता है।

अयमेव चानास्वादितविषयरसस्य ते काल उपदेशस्य। कुसुमशरशरप्रहारजर्जरिते हि हृदये जलमिव गलत्युपदिष्टम्। अकारणञ्च भवति दुष्प्रकृतेरन्वयः श्रुतं चाविनयस्य। चन्दनप्रभवो न दहति किमनलः, किं वा प्रशमहेतुनापि न प्रचण्डतरीभवति बडवानलो वारिणा।

समासपरिचयः – अनास्वादितविषयरसस्य– न आस्वादितः विषयरसः येन तस्य (नञ्+बहुव्रीहि समास) कुसुमशरशरप्रहारजर्जरिते–कुसुमशरः (कामदेवः) तस्य शराः (षष्ठी तत्पुरुष) तेषां प्रहाराः (षष्ठी तत्पुरुष) तैः जर्जरितम् (तृतीया तत्पुरुष) चन्दनप्रभवः– चन्दनं तस्मात् प्रभवः यस्य (बहुव्रीहि समास)।

हिन्दी अनुवाद–अब तक तुमने विषय के रस का उपभोग नहीं किया अतः तुम्हें उपदेश (प्रदान) का यही (उचित) समय है क्योंकि कामदेव के बाणों की मार से जर्जर हो चुके हृदय में से उपदेश (छलनी में से) जल की भांति टपक जाता है। दुष्ट स्वभाव वाले (व्यक्ति) का उत्तम वंश (अर्थात् कुलीनता) शास्त्र का ज्ञान, विनम्रता (या सन्मार्गप्रवृत्ति) का कारण नहीं बन पाता। क्या चन्दन से उत्पन्न होने वाली अग्नि जलाती नहीं है? (अपितु अवश्य ही जलाती है) अथवा क्या शमन के कारणभूत (अर्थात् शान्त करने वाले) जल से वाडवाग्नि (समुद्र के गर्भ की आग) और अधिक प्रचंड नहीं हो जाती है? (अपितु होती ही है)।

गुरूपदेशश्च नाम पुरुषाणामविरलमलप्रक्षालनक्षममजलस्नानम्,

अनुपजातपलितादिवैरूप्यमजरं वृद्धत्वम्, अनारोपितमेदोदोषं गुरूकरणम् असुवर्णविरचनमग्राम्यं कर्णाभरणम्, अतीतज्योतिरालोकः, नोद्वेगकरः प्रजागरः। विशेषेण राज्ञाम्। विरला हि तेषामुपदेष्टारः। प्रतिशब्दक इव राजवचनमनुगच्छति जनो भयात्। उद्दामदर्पश्वयथुस्थगित–श्रवणविवराश्चोपदिश्यमानमपि ते न शृण्वन्ति। शृण्वन्तोऽपि च गजनिमीलितेनावधीरयन्तः खेदयन्ति हितोपदेशदायिनो गुरून्। अहङ्कारदाहज्वरमूर्च्छान्धकारिता विह्वला हि राजप्रकृतिः, अलीकाभिमानोन्मादकारीणि धनानि, राज्यविषविकारतन्द्रीप्रदा राजलक्ष्मीः।

समासपरिचयः – गुरूणाम् उपदेशः (षष्ठी तत्पुरुष) अविरलमलप्रक्षालनक्षमम्–अविरलः मलः (कर्मधारय समास) तस्य प्रक्षालनं (शुचीकरणं) (षष्ठी तत्पुरुष) अनु–पजातपलितादिवैरूप्यम्– अनुपजातम् पलितादि वैरूप्यं यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि समास) असुवर्णविरचनम्–न सुवर्णेन विरचना यस्य तत् (नञ्+बहुव्रीहि समास) अतीतज्योतिः–अतीतं ज्योतिः यस्मात् सः (बहुव्रीहि समास)।

हिन्दी अनुवाद–गुरुजन का उपदेश मनुष्यों के समस्त प्रकार के मल (कलुष भावनाओं) को धोने में समर्थ जलविहीन स्नान है, केशों के श्वेत होने आदि के कारण होने वाली कुरूपता एवं अंगों की जीर्णता से रहित बुढ़ापा है, बिना मेदोदोष (मोटापे) के गुरुत्व (गौरव) उत्पन्न करने वाला है, सोने से न बना हुआ एवं ग्राम्यता (दोष) से रहित

टिप्पणी

कानों का आभूषण है, बिना तेज का प्रकाश है और बेचैनी न उत्पन्न करने वाला जागरण है। विशेष करके राजाओं के लिए (गुरु का उपदेश अत्यन्त लाभप्रद होता है) क्योंकि उनको उपदेश देने वाले विरले (ही संगी–साथी) होते हैं। भय के कारण मनुष्य प्रतिध्वनि की तरह राजा के वचन का अनुसरण करते हैं (उनकी हां में हां मिलाते रहते हैं) किन्तु उत्कट गर्व रूपी सूजन से ढके हुए कानों के छेद वाले वे (राजा लोग) कहे जाते हुए (हितकारी वचन) को भी नहीं सुनते। सुनते हुए भी हाथी की तरह आंखें मूंदे, तिरस्कार करते हुए हित की बात बताने वाले हितैषियों को कष्ट पहुंचाते हैं। राजा का स्वभाव अभिमान रूपी तीव्र ताप से उत्पन्न होने वाली बेहोशी के कारण अन्धकार तुल्य बना हुआ (अर्थात विवेकहीन) एवं व्याकुल रहता है, सम्पत्तियां मिथ्या अभिमान के कारण उन्माद उत्पन्न करने वाली होती हैं और राजलक्ष्मी राज्य रूपी विष के विकार से उत्पन्न तन्द्रा प्रदान करने वाली होती है।

आलोकयतु तावत्–कल्याणाभिनिवेशी लक्ष्मीमेव प्रथमम्। इयं हि सुभट–खड्गमण्डलोत्पलवनविभ्रमभ्रमरी लक्ष्मीः क्षीरसागरात् पारिजातपल्लवेभ्यो रागम्, इन्दुशकलादेकान्तवक्रताम्, उच्चैःश्रवसश्चञ्चलताम्, कालकूटान्मोहनशक्तिम्, मदिराया मदम्, कौस्तुभमणेरतिनैष्ठुर्यम्, इत्येतानि सहवास–परिचयवशाद्विरह–विनोदचिह्नानि गृहीत्वेवोद्गता।

समासपरिचयः – कल्याणाभिनिवेशी–कल्याणे अभिनिवेशः (आग्रहः) यस्य सः (बहुव्रीहि समास) सुभटखड्गमण्डलोत्पलवनविभ्रमभ्रमरी–सुभटाः तेषां खड्गमण्डलम् (षष्ठी तत्पुरुष) तदेव उत्पलवनं तस्मिन् भ्रमरी (सप्तमी तत्पुरुष) सहवासपरिचयवशात्–सहवासः तेन परिचयः (तृतीया तत्पुरुष) विरहविनोदचिह्नानि–विरहस्य विनोदचिह्नानि (षष्ठी तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद– कल्याण के आग्रही (या अत्यधिक लालायित) आप पहले लक्ष्मी को ही देखें। निपुण योद्धाओं की तलवारों के समूह रूपी कमल वन में घूमने वाली भ्रमरी जैसी यह लक्ष्मी मानो पारिजात के नये पत्तों से राग (लालिमा, अनुराग), चन्द्र–खंड की अत्यंत कुटिलता, उच्चैश्रवाः (अश्व) से चंचलता, कालकूट से मोहन–शक्ति (मूर्च्छित अथवा वशीकरण करने की शक्ति), मदिरा से मादकता और कौस्तुभमणि से अत्यंत कठोरता रूपी चिह्नों को, जो एक साथ रहने के कारण परिचय के प्रभाव से वियोग की पीड़ा को दूर करने वाले थे, लेकर क्षीर सागर से निकली थी (समुद्र मंथन के समय पारिजात, चंद्रमा, उच्चैःश्रवा अश्व, कालकूट विष और कौस्तुभमणि का जन्म भी लक्ष्मी के साथ हुआ था)।

नह्येवंविधमपरम् अपरिचितमिह जगति किञ्चिदस्ति, यथेयमनार्या। लब्धापि खलु दुःखेन परिपाल्यते, दृढगुणपाश–सन्दान–निष्पन्दीकृतापि नश्यति, उद्दाम–दर्प–भटसहस्रोल्लासितासिलतापञ्जर–विधृताप्यपक्रामति, मदजलदुर्दिनान्ध–कार–गज–घनघटा–परिपालितापि प्रपलायते। न परिचयं रक्षति, नाभिजनमीक्षते, न रूपमालोकयते, न कुलक्रम–मनुवर्तते, न शीलं पश्यति, न वैदग्ध्यं गणयति, न श्रुतमाकर्णयति, न धर्ममनुरुध्यते, न त्यागमाद्रियते, न विशेषज्ञतां विचारयति, नाचारं पालयति न सत्यमवबुध्यते, न लक्षणं प्रमाणीकरोति।

समासपरिचय– न परिचयं रक्षति – परिचयस्य न रक्षति (षष्ठी तत्पुरुष)

हिन्दी अनुवाद–इस संसार में इस प्रकार की कोई अन्य वस्तु अपरिचित (जानकर भी मुंह फिरा देने वाली) नहीं है जैसी कि यह अनार्या स्वभाव वाली (लक्ष्मी)। इसको प्राप्त कर लेने पर भी कष्ट से (इसका) परिरक्षण करना होता है। सुदृढ़ गुण रूपी जाल के बन्धन से निश्चल कर देने पर भी यह भाग जाती है। उत्कट अहंकार से युक्त सहस्रों योद्धाओं द्वारा उठाई गई खड्गलता रूपी पिंजरे में बन्द रखी जाने पर भी निकल जाती है। मद–जल रूप मेघाच्छन्न दिन के कारण अन्धकार उत्पन्न करने वाले हाथी रूपी मेघों के समूह से रोके जाने पर भी भाग जाती है (अर्थात बादलों में जैसे जल नहीं टिक सकता वैसे ही यह हाथियों की सुरक्षा में से भी निकल जाती है)। यह न परिचय की रक्षा (चिंता) करती है, न कुल (खानदान) देखती है, न सुंदरता देखती है, न वंशपरम्परा का अनुगमन करती है, न सच्चरित्रता देखती है, न विद्वत्ता का आदर करती है, न शास्त्र को सुनती है, न धर्म को मानती है, न त्याग को महत्व देती है, न विशेषता पर विचार करती है, न आचार का पालन करती है, न सत्य को जानती है और न (सामुद्रिक शास्त्र में कहे हुए भाग्य के) लक्षणों को प्रमाणित करती है (इसीलिए अकुलीन, चरित्रहीन, मूर्ख आदि भी धनवान होते हैं)।

गन्धर्वनगरलेखेव पश्यत एव नश्यति। अद्याप्यारूढमन्दरपरिवर्त्तावर्तभ्रान्ति–जनितसंस्कारेव परिभ्रमति। कमलिनीसञ्चरण–व्यतिकर–लग्न–नलिन–नाल–कण्टकक्षतेव न क्वचिदपि निर्भरमाबध्नाति पदम्। अतिप्रयत्नविधृतापि परमेश्वरगृहेषु विविध–गन्धगज–गण्ड–मधुपानमत्तेव परिस्खलति। पारुष्यमिवोपशिक्षितुमसिधारासु निवसति। विश्वरूपत्वमिव ग्रहीतुमाश्रिता नारायणमूर्तिम्।

समासपरिचयः – गन्धर्वनगरलेखा–गन्धर्वनगरस्य लेखा (षष्ठी तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद– (यह लक्ष्मी आकाश में दिखाई देने वाली) गन्धर्वनगर की रेखा के समान देखते ही देखते नष्ट हो जाती है, (समुद्र मंथन में मन्दराचल को मथनी बनाया गया था) अतः मानो मन्दराचल के घूमने से उत्पन्न भंवर के साथ घूमने के संस्कारवश आज भी घूमा करती है। मानो कमल–वन में विचरण करते समय कमल नाल के कांटे चुभ जाने के कारण कहीं भी जमकर पैर नहीं रखती है (अत्यंत अस्थिर स्वभाव वाली है)। महाराजाओं के भवनों में बड़े प्रयत्न से रखी जाने पर भी मानो अनेक प्रकार की गन्ध से उन्मत्त गजों के गंड–स्थल के मद्य पीने से मत्त होकर स्खलित हो जाती है (अर्थात पूर्व स्वामी राजा को छोड़कर दूसरे राजाओं के पास चली जाती है)। मानो कठोरता सीखने के लिए तलवार की धार पर निवास करती है (जिसकी तलवार तेज निकली उसी की हो गई)। मानो विश्वरूपता (अनेक प्रकार के रूप) धारण करने के लिए (बहुरूपिणी होने के लिए) ही इसने विष्णु के शरीर का आश्रय लिया है।

अप्रत्ययबहुला च दिवसान्तकमलमिव समुपचितमूल–दण्ड–कोषमण्डलमपि मुञ्चति भूभुजम्। लतेव विटपकानध्यारोहति। गङ्गेव वसुजनन्यपि तरङ्गबुद्बुदचञ्चला, दिवसकरगतिरिव प्रकटितविविध–संक्रान्तिः। पातालगुहेव तमोबहुला। हिडिम्बेव भीमसाहसैकहार्य्यहृदया। प्रावृडिवाचिरद्युतिकारिणी।

टिप्पणी

समासपरिचयः – अचिरद्युतिकारिणी–अचिरं (न चिरम् नञ्) द्युतेः कारिणी (षष्ठी तत्पुरुष)। अचिरा स्वल्पकालीना या द्युति; प्रकाशः तां कर्तुं शीलं यस्या. सा तथाभूता (पक्षे अचिरद्युतिः विद्युत् तां कर्तुं शीलं यस्याः सा तादृशी)। **समुपचितमूल–दण्डकोषमण्डलम्**–मूलं च दण्डश्च कोषश्च मण्डलं च (द्वन्द्व समास)। समुपचितानि मूलदण्डकोषमण्डलानि यस्य सः (बहुव्रीहि समास) तम्।

हिन्दी अनुवाद–अत्यधिक अविश्वसनीया लक्ष्मी संध्याकालीन कमल की भांति भली–भांति वृद्धि को प्राप्त सैन्य, दण्ड शक्ति, कोश (खजाना) और राज्य (कमल पक्ष में–जड़, नाल, कली और विस्तार) वाले राजा को भी छोड़ देती है। लता की भांति यह धूर्तों (पक्षान्तर में–वृक्षों) का सहारा लेती है। लहरों और बुलबुले के समान (पक्षान्तर में–लहरों और बुलबुलों में चमकने के समान) चंचल है। सूर्य की गति के समान अनेक प्रकार के लोगों में संचरण करती है (जैसे सूर्य विभिन्न राशियों में संक्रान्ति करता है, वैसे ही यह पूर्व धनवानों को छोड़कर किसी और के पास चली जाती है)। पाताल की गुफा के समान अत्यंत तमोगुणजनित अज्ञान (पक्षान्तर में–अंधेरे) से युक्त है। हिडिम्बा (नामक राक्षसी) की भांति एकमात्र भयंकर साहस (पक्षान्तर में भीमसेन के साहस) से हरण करने योग्य ह्रदय वाली है (दुःसाहसियों की हो जाती है)। वर्षा ऋतु के समान क्षणिक प्रकाश (पक्षान्तर में बिजली) उत्पन्न करने वाली है।

दुष्टपिशाचीव दर्शितानेकपुरुषोछ्राया स्वल्पसत्त्वमुन्मत्तीकरोति, सरस्वती परिगृहीतमीर्ष्ययेव नालिङ्गति जनम्, गुणवन्तमपवित्रमिव न स्पृशति, उदारसत्वममङ्गलमिव न बहु मन्यते, सुजनमनिमित्तमिव न पश्यति, अभिजातमहिमिव लङ्घयति, शूरं कण्टकमिव परिहरति, दातारं दुःस्वप्नमिव न स्मरति, विनीतं पातकिनमिव नोपसर्पति, मनस्विनमुन्मत्तमिवोपहसति।

समासपरिचयः – दुष्टपिशाची–दुष्टा या पिशाची (कर्मधारय)

हिन्दी अनुवाद–(बहुत ऊंची दिखने वाली) क्रूर पिशाचिनी की तरह लक्ष्मी अनेक पुरुषों की मिली–जुली उन्नति (पक्षान्तर में–ऊंचाई) दिखाकर, अल्प बुद्धि (पक्षान्तर में–अल्प–बल) वाले व्यक्ति को (अभिमान के द्वारा, पक्षान्तर में–भय से) पागल बना देती है। सरस्वती द्वारा स्वीकार किए गए विद्वान् पुरुष को स्त्रीस्वभाव वाली ईर्ष्या से गले नहीं लगाती है। अमंगल के समान उदारचित्त वाले को सम्मान नहीं देती है। अपशकुन या उल्कापात आदि दुर्लक्षण के समान सज्जन व्यक्ति को नहीं देखती है (सज्जनों को देखना अपशकुन मानती है)। सांप समझकर कुलीन का उल्लंघन करती है। कांटे के समान वीर को छोड़कर चल देती है। दुःस्वप्न के समान दानी का स्मरण नहीं करती है। पातकों के समान समझकर विनयशील के पास नहीं जाती है। उन्मत्त के समान मानकर मनस्वी का उपहास करती है (सम्मान नहीं देती)।

परस्परविरुद्धञ्चेन्द्रजालमिव दर्शयन्ती प्रकटयति जगति निजं चरितम्। तथाहि सततम् ऊष्माणमारोपयन्त्यपि जाड्यमुपजनयति। उन्नतिमादधानापि नीचस्वभावतामाविष्करोति। तोयराशिसम्भवापि तृष्णां संवर्धयति। ईश्वरतां दधानापि अतिशयप्रकृतित्वमातनोति। बलोपचयमाहरन्त्यपि लघिमानमापादयति। अमृतसहोदरापि कटुविपाका। विग्रहवत्यपि अप्रत्यक्षदर्शना। पुरुषोत्तमरतापि खलजनप्रिया। रेणुमयीव स्वच्छमपि कलुषीकरोति।

समासपरिचयः – अमृतसदोहरा– अमृतस्य सहोदरा (सोदर भगिनी) (षष्ठी तत्पुरुष) खलजनप्रिया – खलः जनः तस्य प्रिया (कर्मधारय षष्ठी तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद–यह लक्ष्मी मानो इन्द्रजाल दिखाती हुई संसार में परस्पर विरुद्ध गुणों से युक्त अपने चरित्र को प्रकट करती है, जैसे कि निरन्तर गर्मी उत्पन्न करती हुई भी जड़ता को उत्पन्न करती है (अर्थात् मनुष्य में अहंकार उत्पन्न करके उसे विवेकशून्य कर देती है)। ऊपर उठा करके भी नीच स्वभाव वाला कर देती है (अर्थात् मनुष्य को धनी बनाकर के भी नीच स्वभाव वाला बना देती है)। समुद्र से उत्पन्न होकर भी प्यास (अर्थात् धन लिप्सा को) बढ़ाती है। शिवत्व को धारण करती हुई भी अशिव स्वभाव का विस्तार करती है (अर्थात् लोगों को प्रभुता सम्पन्न करके दूसरे को पीड़ा पहुंचाने वाले अमंगल स्वभाव को बढ़ाती है)। बल की वृद्धि करती हुई भी हलकापन उत्पन्न करती है (अर्थात् सेना की वृद्धि करती है पर स्वभाव निम्न प्रकार की वृत्ति वाला बना देती है, (बलम् = शक्ति / सेना)। अमृत की सगी बहन होने पर भी कड़वे रस वाली है (अर्थात् परिणाम में दुःखदायिनी है)। शरीरधारिणी होने पर भी आंखों से न दिखाई पड़ने वाली है (अर्थात् मूर्तिमती लक्ष्मी होकर भी सम्पत्ति के अकूत विस्तार से दिखाई नहीं पड़ती है; क्योंकि लक्ष्मी देवी है)। (पुरुषोत्तम) उत्तम पुरुष में आसक्त होने पर भी दुष्ट जनों से प्रीति करती है (अर्थात् विष्णु में आसक्त रहती हुई भी दुर्जनों को चाहती है, क्योंकि अधिकतर दुर्जनों के पास ही लक्ष्मी रहती है)। मानो धूलिमयी होकर स्वच्छ को भी मलिन कर देती है।

यथा यथा चेयं चपला दीप्यते तथा तथा दीपशिखेव कज्जलमलिनमेव कर्म केवलमुद्वमति। तथाहि, इयं संवर्धनवारिधारा तृष्णाविषवल्लीनाम्, व्याधगीतिरिन्द्रियमृगाणाम् परामर्शधूमलेखा सच्चरितचित्राणाम्, विभ्रमशय्या मोहदीर्घनिद्राणाम्, निवासजीर्णवलभी धनमदपिशाचिकानाम्, तिमिरोद्गतिः शास्त्रदृष्टीनाम्, पुरःपताकाः सर्वाविनयानाम्, उत्पत्तिनिम्नगा क्रोधावेगग्राहाणाम्, आपानभूमिः विषयमधूनाम्, सङ्गीतशाला भ्रूविकारनाट्यानाम्, आवासदरी दोषाशीविषाणाम्, उत्सारणवेत्रलता सत्पुरुषव्यवहाराणाम्, अकालप्रावृट् गुणकलहंसकानाम्, विसर्पणभूमिर्लोकापवादविस्फोटकानाम्, प्रस्तावना कपटनाटकस्य, कदलिका कामकरिणः, वध्यशाला साधुभावस्य, राहुजिह्वा धर्मेन्दुमण्डलस्य।

समासपरिचयः – इन्द्रियमृगाणाम्–इंद्रियाणि एव मृगाः हरिणाः तेषाम्, व्याधगीतिः (षष्ठी तत्पुरुष) परामर्शधूमलेखा–परामर्शाय धूमलेखा (चतुर्थी तत्पुरुष) सत्पुरुषव्यवहाराणाम्–सत्पुरुषाः तेषां व्यवहाराः तेषाम् (षष्ठी तत्पुरुष) लोकापवाद– विस्फोटकानाम्–लोकेषु अपवादाः ते एव विस्फोटकाः तेषां (षष्ठी तत्पुरुष) विसर्पणभूमिः – विसर्पणाय (विस्तरणाय) भूमिः (चतुर्थी तत्पुरुष) व्याधगीतिः–व्याधस्य गीतिः (षष्ठी तत्पुरुष) निवासजीर्णवलभी निवासाय जीर्णवलभी (चतुर्थी तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद–जैसे–जैसे यह चंचला लक्ष्मी प्रकाशित होती है वैसे–वैसे दीपक की लौ के समान केवल कज्जल के समान काले कर्म (दीपक के पक्ष में–कज्जल रूप मलिन क्रिया) को ही प्रकट करती है क्योंकि यह तो तृष्णारूपी विषलता का संवर्धन करने वाली जलधारा है (अर्थात् जैसे जलधारा सामान्य लता की वृद्धि करती है, वैसे ही यह लक्ष्मी विषमयी मृग–तृष्णा की वृद्धि करती है)। इन्द्रिय रूपी हरिणों के लिये बहेलियों का गीत है (अर्थात् जैसे व्याधों का गीत हरिणों को आकर्षित करता है वैसे

ही यह इन्द्रियों को आकृष्ट कर लेती है)। सच्चरित्र रूपी चित्रों को मिटाने या आवृत्त करने वाली धूमपंक्ति है (अर्थात् जैसे धुएं से चित्र मिट जाते हैं, वैसे ही यह सच्चरित्र को मिटा देती है)। मोह रूपी लम्बी नींद की विलास–शय्या है अर्थात् जैसे कोमल शय्या पर नींद खूब आती है, वैसे ही इस लक्ष्मी से मनुष्य मोहांधकार में डूबा रहता है। धर्म के अभिमान रूपी पिशाचिनियों के रहने के लिए वह पुरानी हवेली है। शास्त्र रूपी नेत्रों का तिमिर कारक रोग है। समस्त दुराचारों की अग्रपताका (नेतृत्वकारिणी पताका) है। क्रोध के आवेग रूपी मगरमच्छों को उत्पन्न करने वाली नदी है। विषय रूपी मद्य की पान–भूमि है (अर्थात् भोग पदार्थ रूपी मदिरा के पीने की तरह है)। भौंहे मटकाने रूप अभिनय की रंगशाला है। (काम आदि) दोष रूपी सर्पों के रहने की गुफा है। सज्जनों के आचरणों को दूर करने वाली बेंत की छड़ी है। (दया, दाक्षिण्य, क्षमा आदि) गुण रूपी सुंदर हंसों की असामयिक वर्षा–ऋतु है (अर्थात् जैसे वर्षा ऋतु के आने पर हंस चले जाते हैं, उसी तरह लक्ष्मी के आने पर सद्गुण गायब हो जाते हैं)। लोकनिन्दा रूपी विस्फोटकों का विस्तार करने वाली भूमि है (अर्थात् लक्ष्मी के रहने पर लोकनिंदाएं बहुत अधिक फैलती हैं)। छल–छद्म रूपी नाटक की प्रस्तावना है। कामदेव रूपी हाथी का कदली वन है (अर्थात् जैसे हाथी कदली–वन में स्वेच्छापूर्वक विहार करता है वैसे ही लक्ष्मी के रहने पर काम का विहार मनमाना हो जाता है)। सुजनता की वध्यशाला (कसाई–शाला) है और धर्म रूपी चन्द्र–मण्डल के लिए राहु की जीभ है।

न हि तं पश्यामि यो ह्यपरिचितयानया न निर्भरमुपगूढः, यो वा न विप्रलब्धः। नियतमियमालेख्यगतापि चलति, पुस्तमय्यपि इन्द्रजालमाचरति, उत्कीर्णापि विप्रलभते, श्रुताप्यभिसन्धत्ते, चिन्तितापि वञ्चयति।

समासपरिचय– इन्द्रजालम्– इन्द्रस्य जालम्। (षष्ठी तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद–(संसार में) मैं किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं देख पाता हूं, जो इस अजनबी स्वभाव वाली (लक्ष्मी) द्वारा कसकर आलिंगित होकर ठगा न गया हो। यह चित्रपट पर अंकित होने पर भी निःसंदेह चली जाती है। कपड़े आदि की बनी गुड़िया के रूप में रखने पर भी इन्द्रजाल करती है (अर्थात् गायब हो जाती है)। (सिक्कों आदि पर) खुदवाकर रखने पर भी धोखा दे देती है। (इसकी सारी बातें) सुन लेने पर भी छल करती है और (इसका) ध्यान करने पर भी ठग लेती है।

एवंविधयापि चानया दुराचारया कथमपि दैववशेन परिगृहीताः विक्लवा भवन्ति राजानः, सर्वाविनयाधिष्ठानताञ्च गच्छन्ति। तथाहि, अभिषेकसमय एव चैषां मङ्गलकलशजलैरिव प्रक्षाल्यते दाक्षिण्यम्, अग्निकार्यधूमेनेव मलिनीक्रियते हृदयम्, पुरोहितकुशाग्रसम्मार्जनीभिरिवापनीयते क्षान्तिः, उष्णीषपट्टबन्धे–नेवाच्छाद्यते जरागमनस्मरणम्, आतपत्रमण्डलेनेवापवार्यते परलोकदर्शनम् चामरपवनैरिवापह्रियते सत्यवादिता, वेत्रदण्डैरिवोत्सार्यन्ते गुणाः, जयशब्द–कलकलैरिव तिरस्क्रियन्ते साधुवादाः, ध्वजपटपल्लवैरिव परामृश्यते यशः।

समासपरिचयः – अभिषेकसमये– अभिषेकस्य (राज्याभिषेकस्य) समये (षष्ठी तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद–इस प्रकार की दुराचारिणी लक्ष्मी से भाग्यवश किसी तरह अपनाये हुए राजा लोग बेचैन ही रहते हैं और समस्त दुराचारों के आधार बन जाते हैं क्योंकि राज्याभिषेक के समय ही इन (राजाओं) की उदारता मानो मांगलिक कलशों के जल

से धो दी जाती है। ह्रदय मानो हवन के धुएं से मलिन कर दिया जाता है। क्षमा मानो पुरोहित की कुशा के अग्र भाग की पवित्र झाडुओं से स्वच्छ कर दी जाती है। बुढ़ापे के आने का स्मरण मानो रेशमी कपड़े की पगड़ी के बांधने से ढक दिया जाता है (भूल जाते हैं कि कभी ये भी बूढ़े असहाय हो जाएंगे)। जन्मान्तर के प्रति दृष्टिपात मानो छत्र–मंडल (तने हुए छाते) से रोक दिया जाता है (अगले जन्म के लिए पुण्य कमाने की चिंता तब नहीं रहती)। सत्य बोलना मानो चंवर की हवा से उड़ा दिया जाता है। गुण मानो बेंत की छड़ी से भगा दिये जाते हैं। साधुवाद (किसी की प्रशंसा करना) मानो जय–ध्वनि के कोलाहल से दबा दिया जाता है (कभी दूसरों की प्रशंसा नहीं करते)। यश मानो पताका के वस्त्र के छोरों से पोंछ दिया जाता है।

टिप्पणी

केचित् श्रम–वश–शिथिल–शकुनि–गल–पुट–चपलाभिः खद्योतोन्मेष–मुहूर्त्त–मनोहराभिर्मनस्विजनगर्हिताभिः सम्पद्भिः प्रलोभ्यमानाः, धन–लव–लाभावलेप–विस्मृत–जन्मानोऽनेक–दोषोपचितेन दुष्टासृजेव रागावेशेन बाध्यमानाः, विविध–विषय–ग्रास–लालसैः पञ्चभिरप्यनेकसहस्रसंख्यैरिन्द्रियै–रायास्यमानाः, प्रकृतिचञ्चलतया लब्धप्रसरेण एकेनापि सहस्रतामिवोपगतेन मनसा आकुलीक्रियमाणा विह्वलतामुपयान्ति।

समासपरिचयः – श्रमवशशिथिलशकुनिगल–पुटचपलाभिः– श्रमवशेन शिथिलं यत् शकुनेः (कस्यचित् पक्षिणः) गलपुटं तद्वत् चपलाभिः (षष्ठी तत्पुरुष) प्रकृतिचञ्चलतया– प्रकृत्या चपलतया (तृतीया तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद–परिश्रम के कारण थके हुए पक्षी के गर्दन–भाग की तरह चंचल, जुगनू के प्रकाश के समान क्षणिक मनोहर और ज्ञानियों द्वारा निन्दित संपत्तियों के द्वारा प्रलोभित, सामान्य धन–प्राप्ति के अभिमान से (अपने) जन्म (पुनरपिजननम् आदि की चेतावनी) को भूले हुए, अनेक दोषों (काम, क्रोध आदि; रक्त–पक्ष में–वात, पित्त, कफ) से प्रवृद्ध (वृद्धि को प्राप्त हुए) दूषित रक्त के समान राग (विषयासक्ति) की बढ़ोत्तरी से पीड़ित किये जाते हुए, (शब्द, स्पर्श, रस आदि) अनेक विषयों के उपभोग की लालसा रखने वाली और पांच होते हुए भी मानो हजारों संख्या वाली (श्रोत्र, जिह्वा, नेत्र आदि) इन्द्रियों से सताये जाते हुए और स्वभाव से ही चंचल होने के कारण अवकाश मिलने से एक मन के होते हुए भी मानो हजार मन से युक्त बने हुए धन से व्याकुल किये जाते हुए राजा लोग व्याकुलता को प्राप्त करते हैं।

ग्रहैरिव गृह्यन्ते, भूतैरिवाभिभूयन्ते, मन्त्रैरिवावेश्यन्ते, सत्त्वैरिवावष्टभ्यन्ते, वायुनेव विडम्ब्यन्ते, पिशाचैरिव ग्रस्यन्ते, मदनशरैर्मर्माहता इव मुखभङ्गसहस्राणि कुर्वते, धनोष्मणा पच्यमाना इव विचेष्टन्ते, गाढप्रहाराहता इव अङ्गानि न धारयन्ति, कुलीरा इव तिर्यक् परिभ्रमन्ति, अधर्मभग्नगतयः पङ्गव इव परेण सञ्चार्यन्ते, मृषावाद–विष–विपाक–सञ्जात–मुखरोगा इवातिकृच्छ्रेण जल्पन्ति सप्तच्छदतरव इव कुसुमरजोविकारैरासन्नवर्तिनां शिरःशूलमुत्पादयन्ति, आसन्नमृत्यव इव बन्धुजनम् अपि नाभिजानन्ति, उत्कुपितलोचना इव तेजस्विनो नेक्षन्ते, कालदष्टा इव महामन्त्रैरपि न प्रतिबुध्यन्ते, जातुषाभरणानीव सोष्माणं न सहन्ते, दुष्टवारणा इव महामानस्तम्भनिश्चलीकृताः न गृह्णन्त्युपदेशम्, तृष्णाविषमूर्च्छिताः कनकमयमिव सर्वं पश्यन्ति, इषव इव पानवर्द्धिततैक्ष्ण्या परप्रेरिता विनाशयन्ति, दूरस्थितान्यपि फलानीव दण्डविक्षेपैर्महाकुलानि शातयन्ति,

अकालकुसुमप्रसवा इव मनोहराकृतयोऽपि लोकविनाशहेतवः, श्मशानाग्नय इवातिरौद्रभूतयः, तैमिरिका इवादूरदर्शिनः उपसृष्टा इव क्षुद्राधिष्ठितभवनाः, श्रूयमाणा अपि प्रेतपटहा इवोद्वेजयन्ति, चिन्त्यमाना अपि महापातकाध्यवसाया इवोपद्रवमुपजनयन्ति, अनुदिवसमापूर्यमाणाः पापेन वाध्मात्तमूर्त्तयो भवन्ति, तदवस्थाश्च व्यसनशतशरव्यतामुपगताः, वल्मीक तृणाग्रावस्थिताः जलबिन्दव इव पतितमप्यात्मानं नावगच्छन्ति।

समासपरिचयः – कालदष्टाः कालेन दष्टाः (तृतीया तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद–(ऐसे राजा लोग) ग्रहों से मानो जकड़ लिये जाते हैं, भूतों से मानो दबोचे जाते हैं, मन्त्रों से मानो वश में कर लिये जाते हैं अथवा भूतादि के द्वारा समावेशित कर दिये जाते हैं, हिंसक प्राणियों से मानो बलपूर्वक पकड़ लिये जाते हैं। पिशाचों से मानो ग्रस लिए जाते हैं, वायु से मानो झंझोड़ दिए जाते हैं, मानो कामदेव के बाणों से मर्माहत हो गए हों, इस तरह हजारों प्रकार की मुख भंगिमाएं बनाते हैं (अर्थात् मुंह बनाते हैं), धन की गर्मी से पकते हुए से अनेक चेष्टाएं करते हैं। कठोर प्रहार से आहत हुए की तरह अंगों को धारण (स्वयं) नहीं कर पाते हैं (शरीर को लटका–मटका कर चलते हैं), केकड़े की तरह तिरछे चलते हैं, पाप के कारण चलने में असमर्थ लंगड़े के समान दूसरे के द्वारा चलाए जाते हैं, (अर्थात् मंत्रियों आदि के द्वारा विभिन्न कार्यों में अग्रसर किये जाते हैं), मिथ्या भाषण रूप विष के परिणाम से उत्पन्न मुख–रोग वालों की तरह अत्यंत कष्ट से बोलते हैं, सप्तच्छद के पेड़ की तरह अवहेलनासूचक नेत्र–भंगिमा रूपी रजोगुण के परिणाम से (वृक्षपक्ष में पुष्प–पराग से) निकटवर्ती लोगों के शिर में वेदना (दर्द) उत्पन्न करते हैं, मरणासन्न (व्यक्तियों) की तरह स्वजनों को भी नहीं पहचानते हैं, नेत्ररोगियों के समान तेजस्वियों को नहीं देखते (अर्थात् जैसे मोतियाबिंद रोग से नेत्र के रोगी सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थों को नहीं देखते वैसे राजा भी तेजस्वी व्यक्तियों को ईर्ष्यावश नहीं देखते), महाविषधर से डसे हुओं की भांति महामन्त्रों से भी चेतना प्राप्त नहीं करते (अर्थात् जैसे महाविषधर सर्प के काटे हुए व्यक्ति ओझाओं के बड़े–बड़े मंत्रों से होश में नहीं आते, उसी प्रकार राजा लोग मन्त्रियों की उत्कृष्ट मन्त्रणाओं से ठीक मार्ग पर नहीं चलते), लाख के बने आभूषणों की तरह प्रतापी (लाक्षा–आभूषण के पक्ष में आग) को सहन नहीं करते, दुष्ट हाथियों के समान अत्यन्त अहंकार के द्वारा किये गये स्तम्भन से (हाथी के पक्ष में बड़े आकार के बन्धन–स्तम्भ से) निश्चल होकर उपदेश ग्रहण नहीं करते (हाथी के पक्ष में आदेश नहीं मानते), तृष्णा रूपी विष से मोहित होकर सब को सुवर्णमय देखते हैं, विषैला पानी चढ़ा कर तीक्ष्ण (राज–पक्ष में मद्य पिलाकर भड़काए गए) किये गये तथा धनुष से छोड़े गए (राज–पक्ष में दूसरों से प्रोत्साहित किये गए) तीरों के समान (राजा लोग दूसरों का) विनाश करते हैं। दूरवर्ती (पेड़ में लगे हुए) फलों के समान उत्तम कुलों (अर्थात् कुलीनों) को दंडनीति के प्रयोग से (फल–पक्ष में लाठी के प्रहार से) गिरा देते हैं, असमय में खिलने वाले फूलों के समान सुन्दर आकृति के होते हुए भी लोगों के विनाश के कारण (पुष्प–पक्ष में अनिमित्त सूचक) होते हैं, श्मशान की अग्नि के समान अत्यंत भीषण ऐश्वर्य (अग्नि–पक्ष में राख) वाले होते हैं, (मोतियाबिंद के) नेत्ररोगी के समान दूर की चीजों को (राज–पक्ष में परिणामों को) नहीं देख पाते हैं, वेश्याओं (के गृहों) के समान नीच जनों (वेश्या–पक्ष में विटों) से अधिष्ठित (बसे हुए) रहते हैं, शव के आगे बजाये जाने वाले ढोल के समान

सुन लिये जाने पर भी अशान्ति उत्पन्न करते हैं। इनका चिंतन करने पर ऐसा लगता है मानो महापाप कमाने के लिए परिश्रम किया जा रहा है ऐसी बेचैनी पैदा कर देते हैं, प्रतिदिन मानो पाप से भरते हुए स्फीतदेह (फूले हुए शरीर वाले) हो जाते हैं और ऐसी अवस्थाओं में पड़ कर (वे राजा लोग) अनेक प्रकार के कुटेवों के लक्ष्य बनकर सांप की बांबी पर उगे हुए तिनके के अग्रभाग पर टिकी जल–बिन्दु के समान पतित (राजा–पक्ष में स्वधर्मच्युत और जल–बिन्दु के पक्ष में धरती पर टपकने वाले) होने पर भी अपने को नहीं जानते हैं।

अपरे तु स्वार्थनिष्पादनपरैर्धन–पिशित–ग्रास–गृध्रैरास्थान–नलिनीबकैः, द्यूतं विनोद इति, परदाराभिगमनं वैदग्ध्यमिति, मृगया श्रम इति, पानं विलास इति, प्रमत्तता शौर्यमिति, स्वदारपरित्यागः अव्यसनितेति, गुरुवचनावधीरण–मपरप्रणेयत्वमिति, अजितभृत्यता सुखोपसेव्यत्वमिति, नृत्य–गीत–वाद्य–वेश्याभिसक्तिः रसिकतेति, महापराधानाकर्णनं महानुभावतेति, परिभवसहत्वं क्षमेति, स्वच्छन्दता प्रभुत्वमिति, देवावमाननं महासत्त्वतेति, वन्दिजनख्यातिः यश इति, तरलता उत्साह इति, अविशेषज्ञता अपक्षपातित्वमिति दोषानपि गुणपक्षमध्यारोपयद्भिरन्तः स्वयमपि विहसद्भिः प्रतारणकुशलधूर्तैरमानुषोचिताभिः स्तुतिभिः प्रतार्यमाणा वित्तमदमत्तचित्ता निश्चेतनतया तथैवेत्यात्मन्यारोपिताली–काभिमानाः मर्त्यधर्माणोऽपि दिव्यांशावतीर्णमिव सदैवतमिवातिमानुषम् आत्मानमुत्प्रेक्षमाणाः प्रारब्धदिव्योचितचेष्टानुभावाः सर्वजनस्योपहास्यतामुपयान्ति।

समासपरिचयः – परदाराभिगनम् परदारेषु अभिगमनम् (सप्तमी तत्पुरुष) प्रारब्धदिव्योचितचेष्टानुभावाः–प्रारब्धा या दिव्योचिताः चेष्टाः ताभिः अनुभावः तादृशाः (कर्मधारय षष्ठी तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद–दूसरे कुछ राजा लोग ऐसे भी होते हैं जो स्वार्थ–साधन करने में लगे रहते हैं, वे धन रूपी मांस को खाने में गीध होते हैं और सभा रूपी कमलिनी के बगुले होते हैं, वे जुआ खेलना मनोरंजन है, पर–स्त्री से संभोग करना चतुरता है, शिकार खेलना तो व्यायाम है, मद्य पीना ही विलास है, मतवाला होना ही वीरता है, अपनी पत्नी को छोड़ देना ही अनासक्ति है, गुरुजनों की बात काटना ही स्वाधीनता है, नौकरों को वश में न रखना आसानी से सेवा कराने योग्य होना है, नाचने, गाने, बजाने और वेश्याओं में आसक्त रहना ही रसिकता है, बड़े–बड़े अपराधों को न सुनना (अर्थात् उन पर ध्यान न देना) महाप्रभावशालिता है, तिरस्कार को सह लेना ही क्षमा है, मनमाना आचरण करना ही प्रभुता है, देवताओं का अपमान करना तो महाबलशालिता है, चाटुकारों द्वारा की गई प्रशंसा यश है, चपलता उत्साह है और कुछ भी विशेष न जानना निष्पक्षता है–इस प्रकार (अपने) दोषों को भी गुण बताने वाले, अपने आप पर भी हंसने वाले तथा वंचना करने में प्रवीण धूर्तों द्वारा देवताओं के योग्य स्तुतियों से ठगे जाते हुए, धन के मद से उन्मत्त चित्त वाले, चेतनाशून्य या विवेकहीन होने के कारण उन (ठगों की) बातों का अपने में आरोप कर के मिथ्या गर्व करने वाले और मनुष्य होने पर भी अपने को मानो देवता के अंश से अवतीर्ण अर्थात् अवतार–पुरुष मानते हुए दिव्य जनों के योग्य चेष्टाओं का तमाशा कर के अपनी महानता दिखाने वाले राजा सभी लोगों के उपहास का पात्र बन जाते हैं।

आत्मविडम्बनाञ्चानुजीविना जनेन क्रियमाणामभिनन्दन्ति। मनसा देवताध्यारोपणप्रतारणा सम्भूतसम्भावनोपहताश्चान्तःप्रविष्टापरभुज–

टिप्पणी

द्वयमिवात्मबाहुयुगलं सम्भावयन्ति। त्वगन्तरिततृतीयलोचनं स्वललाटमाशङ्कन्ते। दर्शनप्रदानमपि अनुग्रहं गणयन्ति। दृष्टिपातमप्युपकारपक्षे स्थापयन्ति। सम्भाषणमपि संविभागमध्ये कुर्वन्ति। आज्ञामपि वरप्रदानं मन्यन्ते। स्पर्शमपि पावनमाकलयन्ति। मिथ्यामाहात्म्यगर्वनिर्भराश्च न प्रणमन्ति देवताभ्यः, न पूजयन्ति द्विजातीन्, न मानयन्ति मान्यान्, नार्चयन्त्यर्चनीयान्, नाभिवादयन्त्यभिवादनार्हान्, नाभ्युत्तिष्ठन्ति गुरून्, अनर्थकायासान्तरितविषयोपभोगसुखमित्युपहसन्ति विद्वज्जनम्, जरावैक्लव्यप्रलपितमिति पश्यन्ति वृद्धजनोपदेशम्, आत्मप्रज्ञापरिभव इत्यसूयन्ति सचिवोपदेशाय, कुप्यन्ति हितवादिने।

समासपरिचयः – मिथ्यामाहात्म्यगर्वनिर्भराः – मिथ्या माहात्म्यम् तस्य गर्वः तेन निर्भराः (षष्ठी तत्पुरुष) सचिवोपदेशाय– सचिवस्य उपदेशः तस्मै (षष्ठी तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद—आश्रित जनों द्वारा की जाने वाली अपनी विडम्बना (अर्थात् बताए गए प्रकार से दोषों को गुण बताकर की जाने वाली चाटुकारिता) का भी स्वागत करते हैं। वे स्वयं पर देवता का आरोप रूपी वंचना से उत्पन्न स्वयं के देवत्व के निश्चय से नष्ट बुद्धि वाले (राजा) मन से मानो अपनी देह के भीतर अन्य दो भुजाओं की संभावना करते हैं (अर्थात् धूर्तों द्वारा बहकाए हुए स्वयं को चतुर्भुज विष्णु मान बैठते हैं)। अपने ललाट में त्वचा से ढके तीसरे नेत्र की कल्पना करते हैं (अर्थात् अपने को त्रिनेत्र शिव मानते हैं)। दर्शन देना भी कृपा करना समझते हैं (अर्थात् लोगों को अपना दर्शन दे देना वे उन पर बड़ी कृपा समझते हैं)। आंखों से देख भर लेने को भी उपकार की श्रेणी में रखते हैं। बातचीत करने को भी धन–दान के बराबर समझते हैं (अर्थात् बातचीत कर लेने भर को वे धनदान समझते हैं)। आज्ञा को भी वरदान देना मानते हैं। स्पर्श को भी पवित्र करने वाला समझते हैं। झूठी महिमा के गर्व से परिपूर्ण (वे दंभी राजा) देवताओं को प्रणाम नहीं करते, ब्राह्मणों की पूजा नहीं करते, सम्मान योग्य शक्तियों का सम्मान नहीं करते, पूज्य लोगों की पूजा नहीं करते, पैर छूकर प्रणाम करने योग्य व्यक्तियों का वंदन नहीं करते, गुरुजनों के सामने उठकर खड़े नहीं होते, 'व्यर्थ का परिश्रम करके ये लोग विषय–भोग के सुखों से वंचित रहते हैं। ऐसा कहकर विद्वानों का उपहास करते हैं, यह तो इनके बुढ़ापे की बेचैनी का प्रलाप है–ऐसा सोचकर वृद्धों के उपदेश को सारहीन समझते हैं, अपनी बुद्धि का अनादर समझकर मंत्रियों की सलाह से शत्रुता करते हैं और हित की बात कहने वाले के ऊपर क्रोध करते हैं।

सर्वथा तमभिनन्दन्ति, तमालपन्ति, तं पार्श्वे कुर्वन्ति, तं सवर्धयन्ति, तेन सह सुखमवतिष्ठन्ते, तस्मै ददति, तं मित्रतामुपनयन्ति, तस्य वचनं शृण्वन्ति, तत्र वर्षन्ति, तं बहु मन्यन्ते, तमाप्ततामापादयन्ति योऽहर्निशमनवरतमुपर–चिताञ्जलिरधिदैवतमिव विगतान्यकर्तव्यः स्तौति, यो वा माहात्म्यमुद्भावयति। किं वा तेषां साम्प्रतम्, येषामतिनृशंसप्रायोपदेशनिर्घृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणम्, अभिचारक्रियाक्रूरैकप्रकृतयः पुरोधसो गुरवः, पराभिसन्धानपरा मन्त्रिण उपदेष्टारः, नरपतिसहस्रभुक्तोज्झितायां लक्ष्म्यामासक्तिः मारणात्मकेषु शास्त्रेषु अभियोगः, सहजप्रेमार्द्रहृदयानुरक्ता भ्रातर उच्छेद्याः।

समासपरिचयः – पराभिसन्धानपराः–परेषाम् अभिसन्धानं तस्मिन् पराः (षष्ठी, सप्तमी तत्पुरुष) सहजप्रेमार्द्रहृदयानुरक्ताः–सहजं प्रेम तेन आर्द्रं हृदयं तेन अनुरक्ता (कर्मधारय तृतीया तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद–(वे राजा लोग) उस (व्यक्ति) की सब तरह से प्रशंसा करते हैं, उसके साथ बातचीत करते हैं, उसे ही समीप रखते हैं, उसे ही बढ़ाते हैं, उसके साथ सुखपूर्वक बैठते हैं, उसे ही देते हैं, उससे मित्रता करते हैं, उसकी बात सुनते हैं, उसपर (धन की) वर्षा करते हैं, उसको बहुत मानते हैं और उसका विश्वास करते हैं, जो अन्य कर्तव्यों को छोड़कर दिनरात लगातार हाथ जोड़े हुए, इष्टदेवता की तरह इनकी स्तुति करता है अथवा जो (उन राजाओं की) महिमा का बखान करता है अथवा उन (राजाओं) के लिए कौन–सा काम उचित या न्यायसंगत हो सकता है, जिनके लिए अत्यन्त नृशंसतापूर्ण उपदेश के कारण दया–शून्य चाणक्य–नीति ही शास्त्र प्रमाण है, अभिचार–क्रिया (मारण, उच्चाटन आदि के प्रयोग) से नितान्त क्रूर प्रकृति वाले तान्त्रिक (जिनके) गुरु हैं, दूसरे को धोखा देने में लगे रहने वाले मंत्री (जिनके) उपदेशक हैं, हजारों राजाओं द्वारा उपभोग करके त्यागी हुई लक्ष्मी में (जिनका) लगाव है, मारणात्मक (अर्थात् मारण के उपदेशों से भरे) शास्त्रों में (जिनका) शौक है और स्वाभाविक स्नेह से द्रवीभूत ह्रदय से अनुराग करने वाले (सगे) भाई भी जिनके लिए समूल नष्ट करने लायक हैं।

तदेवंप्रायातिकुटिल–कष्ट–चेष्टा–सहस्र–दारुणे राज्यतन्त्रे, अस्मिन् महामोहान्धकारिणि च यौवने, कुमार! तथा प्रयतेथाः यथा नोपहस्यसे जनैः, न निन्द्यसे साधुभिः, न धिक्क्रियसे गुरुभिः, नोपालभ्यसे सुहृद्भिः, न शोच्यसे विद्वद्भिः। यथा च न प्रकाश्यसे विटैः, न प्रहस्यसे कुशलैः, नास्वाद्यसे भुजङ्गैः, नावलुप्यसे सेवकवृकैः, न वञ्च्यसे धूर्तैः, न प्रलोभ्यसे वनिताभिः, न विडम्ब्यसे लक्ष्म्या, न नर्त्यसे मदेन, नोन्मत्तीक्रियसे मदनेन, नाक्षिप्यसे विषयैः, नावकृष्यसे रागेण, नापहियसे सुखेन। कामं भवान् प्रकृत्यैव धीरः, पित्रा च महता प्रयत्नेन समारोपितसंस्कारः, तरलहृदयमप्रतिबुद्धञ्च मदयन्ति धनानि, तथापि भवद्गुणसन्तोषो मामेवं मुखरीकृतवान्।

समासपरिचयः – अतिकुटिलकष्टचेष्टासहस्रदारुणे अतिकुटिलेन कष्टेन चेष्टासहस्रेण दारुणे (कर्मधारय, तृतीया तत्पुरुष)।

हिन्दी अनुवाद–इसलिए, हे चन्द्रापीड! ऐसी हजारों अत्यंत कुटिल एवं कष्टदायक चेष्टाओं से भयंकर राज्य–तन्त्र (राज–काज) में और भारी मोह के कारण विवेकरहित बनाने वाले इस यौवन में ऐसा प्रयास करो जिससे लोग तुम्हारा उपहास न करें, सज्जन पुरुष (तुम्हारी) निन्दा न करें, गुरुजन तुम्हारा धिक्कार न करें, मित्र उलाहने न दें, पण्डितजन तुम पर शोक न करें, कामुकजन तुमको प्रकट न कर दें (अर्थात् बदनामी न करें), चतुर लोग हंसी न उड़ाएं, वैश्या के साथी लोग आस्वादन न करें (अर्थात् तुम्हारी संपत्ति के मज़े न लें), नौकर रूपी भेड़िए धन लेकर भाग न जाएं, धूर्त लोग ठग न लें, कामिनियां लुभा (बहका) न लें, लक्ष्मी छल न करे, अभिमान नाच न नचाए, कामदेव उन्मत्त न बनाए, विषयोपभोग पागल न कर दे, राग अपनी ओर न आकर्षित करे और मस्ती तुम्हें डुबो न दे। यद्यपि तुम स्वभाव से ही पूर्ण धीर हो, पिता ने महान् प्रयत्न से तुममें संस्कार डाले हैं (अर्थात् तुम्हें सभी सावधानियों का जानकार बनाया है) फिर धन तो चंचल चित्त वाले एवं बोध–शून्य व्यक्ति को ही उन्मत्त बनाता है, तो भी तुम्हारे गुणों से उत्पन्न सन्तोष ने ही मुझे इस प्रकार मुखरित किया (अर्थात् मुझसे इतना कहलवा दिया; वस्तुतः तुम्हारे जैसे समझदार व्यक्ति से इतना कहने की तो आवश्यकता भी नहीं थी)।

इदमेव च पुनः पुनरभिधीयसे–विद्वांसमपि सचेतनमपि महासत्त्वम–प्यभिजातमपि धीरमपि प्रयत्नवन्तमपि पुरुषमियं दुर्विनीता खलीकरोति लक्ष्मीरिति सर्वथा कल्याणैः, पित्रा क्रियमाणमनुभवतु भवान् नवयौवन–राज्याभिषेक–मङ्गलम्, कुलक्रमागतामुद्वह पूर्वपुरुषैरूढां धुरम्, अवनमय द्विषतां शिरांसि, उन्नमय बन्धुवर्गम् अभिषेकानन्तरञ्च प्रारब्धदिग्विजयः परिभ्रमन् विजितामपि तव पित्रा सप्तद्वीपभूषणां पुनर्विजयस्व वसुन्धराम्। अयञ्च ते कालः प्रतापमारोपयितुम्। आरूढप्रतापो हि राजा त्रैलोक्यदर्शीव सिद्धादेशो भवति इत्येतावदभिधायोपशशाम।

समासपरिचयः – नवयौवराज्याभिषेकमङ्गलं नवं (नवीनं) यौवराज्यं तस्मिन् अभिषेकः तस्य मङ्गलम् (कर्मधारय षष्ठी तत्पुरुष) आरूढप्रतापः – आरूढ़ः प्रतापः यं सः (बहुव्रीहि समास)।

हिन्दी अनुवाद–यही तुमसे बार–बार कहना है कि यह दुराचारिणी लक्ष्मी विद्वान्, विवेकी, महापराक्रमी, कुलीन, धीर और प्रयत्नशील पुरुष को भी दुर्जन बना देती है। आप सब प्रकार के कल्याणों के साथ पिता के द्वारा करवाए जाने वाले नवीन यौवराज्याभिषेक रूपी मंगल का अनुभव करें, कुल–परम्परा से मिले हुए और पूर्वजों द्वारा धारण की गई धुरा (राज्य–भार) को ग्रहण करें, शत्रुओं के मस्तकों को झुकाएं, स्वजनों को उन्नत करें और अभिषेक के बाद दिग्विजय यात्रा प्रारम्भ करके परिभ्रमण करते हुए, पिता द्वारा जीती हुई सातों द्वीप रूप आभूषण वाली पृथ्वी पर पुनः विजय प्राप्त करें। यह आपका अपने प्रताप को स्थापित करने का समय है क्योंकि प्रताप की स्थापना करने वाला राजा त्रैलोक्यदर्शी (महात्मा) की भांति सफलादेश (सफल आज्ञा वाला) होता है, इतना कहकर (शुकनास मन्त्री) चुप हो गए।

अपनी प्रगति जांचिए

3. समुद्र मंथन के समय पारिजात, चंद्रमा, उच्चैःश्रवा अश्व और कौस्तुभमणि का जन्म किसके साथ हुआ था?

   (क) पार्वती (ख) लक्ष्मी

   (ग) सरस्वती (घ) विद्या

4. विश्वरूपता को धारण करने के लिए लक्ष्मी ने किसके शरीर का आश्रय लिया है?

   (क) विष्णु के (ख) शिव के

   (ग) इन्द्र के (घ) वरुण के

1.4 शुकनासोपदेश की व्याख्या व समालोचना

शुकनासोपदेश के विभिन्न गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या अथवा वर्ण्य विषयों पर आधारित समालोचनात्मक प्रश्नों का समाधान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गद्यांशों को भलीभांति पढ़ लेने के बाद ये दोनों ही कार्य सहज हो जाते हैं। दिग्दर्शनार्थ कतिपय गद्यांशों की व्याख्या व सारलेखन से सम्बद्ध समालोचनात्मक उत्तर यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

1.4.1 गद्यांशों की व्याख्या

शुकनासोपदेशक के कुछ गद्यांश और उनकी सप्रसंग व्याख्या यहां प्रस्तुत है–

(क) 'तात! चन्द्रापीड! विदितवेदितव्यस्य' अधीतसर्वशास्त्रस्य ते नाल्पमप्युपदेष्टव्यमस्ति। केवलञ्च निसर्गत एव अभानुभेद्यमरत्नालोकच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्। अपरिणामोपशमो दारुणो लक्ष्मीमदः। कष्टमनञ्जनवर्त्तिसाध्यमपरम् ऐश्वर्यतिमिरान्धत्वम्। अशिशिरोपचारहार्य्योऽतितीव्रः दर्पदाहज्वरोष्मा। सततममूलमन्त्रशम्यः विषयो विषयविषास्वादमोहः। नित्यमस्नानशौचबाध्यः बलवान् रागमलावलेपः। अजस्रमक्षपावसानाप्रबोधा घोरा च राज्यसुखसन्निपातनिद्रा भवति, इत्यतः विस्तरेणाभिधीयसे।

प्रसंग – प्रस्तुत गद्यांश बाणभट्ट रचित कादम्बरी के अन्तर्गत शुकनासोपदेश की प्रारंभिक पंक्तियों से समन्वित है। इन पंक्तियों में मन्त्री शुकनास द्वारा चंद्रापीड को उपदेश देने का कारण बताया जा रहा है।

व्याख्या– शुकनास ने सर्वप्रथम तो यह स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि चंद्रापीड ने व्याकरण आदि सभी शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन कर लिया तथापि यौवन अवस्था में प्रायः मनुष्य कुपथगामी हो सकता है अतः उसे उपदेश दिया जा रहा है। स्पष्ट है कि विद्या की समाप्ति के बाद दीक्षान्त शिक्षा की आवश्यकता इसीलिए होती है ताकि विद्या प्राप्त युवक कल्याण मार्ग पर अग्रसर हों। धनवानों को धन का घमंड हो जाता है इसलिए भी कुपथ पर जा सकते हैं। यौवन में शब्द, स्पर्श, रस आदि विषयोपभोग भी सरलता से व्यक्ति को अधर्म पथ पर डाल सकते हैं अतः शुकनास का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है–

'सततम् अमूलमन्त्रशम्यः विषयविषास्वादमोहः।'

साथ ही एक बार जो व्यक्ति युवराज की पदवी पाकर राज्य पाने की सुख रात्रि की सन्निपात निद्रा में खो जाता है वह पुनः जाग ही नहीं पाता क्योंकि यह एक ऐसी भयानक रात्रि है जिसका सूर्योदय ही नहीं होता–

'अजस्रम् अक्षपावसानप्रबोधा घोरा च राज्यसुखसन्निपातनिद्रा भवति।'

वस्तुतः इस गद्यांश को एक श्रेष्ठ दीक्षान्त भाषण की श्रेष्ठ प्रबोधनात्मक प्रस्तावना कहा जा सकता है।

विशेष– ऐश्वर्यतिमिरान्धत्वम्, दर्पदाहज्वरोष्मा, विषयविषास्वादमोहः, राज्यसुख सन्निपातनिद्रा– इन शब्दों में रूपक अलंकार का विशेष सौन्दर्य है।

(ख) भवादृशा एव भवन्ति भाजनानि उपदेशानाम्। अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखेन उपदेशगुणाः। गुरुवचनमलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य। इतरस्य तु, करिण इव शङ्खाभरणमाननशोभासमुदयमधिकतरमुपजनयति। हरति च सकलम् अतिमलिनमप्यन्धकारमिव दोषजातं प्रदोषसमयनिशाकर इव। गुरूपदेशः प्रशमहेतुर्वयःपरिणाम इव पलितरूपेण शिरसिजजालममलीकुर्वन् गुणरूपेण तदेव परिणमयति।

प्रसंग– प्रस्तुत पंक्तियां बाणभट्ट रचित 'कादम्बरी' नामक उपन्यास में 'शुकनासोपदेशः' नामक खण्ड से समुद्धृत हैं। राजा तारापीड का मन्त्री शुकनास इन पंक्तियों में राजपुत्र चंद्रापीड के माध्यम से स्पष्ट कर रहा है कि उपदेश का उचित पात्र कौन होता है।

व्याख्या– शुकनास का यह कहना सर्वथा युक्ति संगत है कि चंद्रापीड जैसे संस्कारी बालक ही उपदेश के उचित पात्र होते हैं। माता–पिता द्वारा जिस संतान को सभ्यता के संस्कार मिले होते हैं उनके मन में दूसरों के प्रति दुर्भावना की मैल नहीं होती, कांच या स्फटिक मणि जब स्वच्छ होते हैं तब चंद्रमा की किरणों से वे चमचमा उठते हैं। इसी तरह निर्मल मन वाला व्यक्ति भी गुरुओं के अच्छे उपदेशों से जीवन में चमक उठता है, यशस्वी बनता है। किंतु इसके विपरीत संस्कारों से रहित मैले मन वाला शिष्य शुकनास के शब्दों में 'अभव्य' है। अभव्य का अर्थ 'न होने योग्य' भी है। पंचतन्त्र में भी कहा गया है–

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न भक्तिमान्।

इस तरह का अभव्य किंवा न होने लायक शिष्य जब उपदेश सुनता है तब गुरु की अच्छी बातें भी उसके कान में वैसे ही पीड़ा उत्पन्न करती हैं जैसे कान में गया पानी कष्ट देता है। वह अच्छी शिक्षा को ग्रहण ही नहीं करना चाहता। ऐसे ही शिष्यों के लिए, **'उपदेशो ही मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये'** कहा जाता है, जबकि अच्छे संस्कारी शिष्यों के मुखमंडल गुरु की अच्छी बातों को ग्रहण करके विकसित होते हैं और उनके चेहरों पर वैसे ही चमक आ जाती है जैसे हाथी के मस्तक पर शंखों के आभूषणों से चमक आती है। वृद्धावस्था में सफेद बालों से भी जैसे वृद्ध तेजस्वी लगते हैं वैसे ही गुरु के उपदेश से विकसित शिष्य यौवन में भी तेजस्वी लगने लगते हैं।

(ग) नह्येवंविधमपरम् अपरिचितमिह जगति किञ्चिदस्ति, यथेयमनार्या। लब्धापि खलु दुःखेन परिपाल्यते, दृढगुणपाश–सन्दान–निष्पन्दीकृतापि नश्यति, उद्दाम–दर्प–भटसहस्रोल्लासितासिलतापञ्जर–विधृताप्यपक्रामति, मदजलदुर्दिनान्ध–कार–गज–घनघटा परिपालितापि प्रपलायते, न परिचयं रक्षति, नाभिजनमीक्षते, न रूपमालोकयते, न कुलक्रम–मनुवर्तते, न शीलं पश्यति, न वैदग्ध्यं गणयति, न श्रुत–माकर्णयति, न धर्ममनुरुध्यते, न त्यागमाद्रियते, न विशेषज्ञतां विचारयति, नाचारं पालयति नसत्यमवबुध्यते, न लक्षणं प्रमाणीकरोति।

प्रसंग– प्रस्तुत पंक्तियां बाणभट्ट रचित 'कादम्बरी' नामक उपन्यास के 'शुकनासोपदेश' नामक खण्ड से समुद्धृत हैं। राजा तारापीड के मन्त्री 'शुकनास' इन पंक्तियों में राजपुत्र चन्द्रापीड़ को उपदेश देते हुए लक्ष्मी के दुष्प्रभावों को समझा रहे हैं।

व्याख्या– कोई बच्चा भी अपरिचित पर विश्वास नहीं करता। अपरिचित पर विश्वास करने से बड़ी–से–बड़ी हानि हो सकती है। इसी तथ्य से सावधान करते हुए शुकनास का कहना है कि लक्ष्मी के समान इस संसार में कोई अपरिचित नहीं है, अर्थात् इस पर विश्वास करने से बड़ी–से–बड़ी हानि हो सकती है। यह उपदेष्टव्य इसलिए भी है क्योंकि प्रायः लोग अपने धनबल पर विश्वास करके अनेक प्रकार के अकार्यों को भी करते पाए जाते हैं। परिणामतः वे विनाश को प्राप्त होते हैं कोई भी विश्वस्त व्यक्ति

धोखा नहीं देता। किंतु लक्ष्मी प्रायः धोखा दे जाती है, इसलिए इसे शुकनास ने अनार्या कहकर दुराचारिणी कह दिया है। जिसे लक्ष्मी प्राप्त हो जाए उसे यह भय लगा रहता है कि यह उसे छोड़कर भाग जाएगी इसलिए वह इसे तिजोरी आदि में रखकर इसकी रक्षा के लिए दुःखी होता रहता है। इतना ही नहीं, चाहे इसकी रक्षा के लिए बहुत बड़ी फौज तैनात हो तब भी यह चली जाती है और मनुष्य को धनवान से निर्धन बनते देर नहीं लगती। राजा भिखारी होते रहे हैं और वर्तमान में भी अनेक राष्ट्राध्यक्ष तक कारागार से मृत्युदंड को प्राप्त कर रहे हैं।

कुलीन, सुशील, बुद्धिमान, शास्त्रज्ञ, धार्मिक किसी विषय का विशेषज्ञ आदि सब प्रकार के लोगों का इसके द्वारा वंचित होते रहना, यही प्रमाणित करता है कि सभी के लिए यह सर्वथा अपरिचित ही है। कोई नहीं जानता कि यह कैसे सदा उसके पास रह सकती है।

(घ) दुष्टपिशाचीव दर्शितानेकपुरुषोच्छाया स्वल्पसत्त्वमुन्मत्तीकरोति, सरस्वती परिगृहीतमीर्ष्ययेव नालिङ्गति जनम्, गुणवन्तमपवित्रमिव न स्पृशति, उदारसत्वममङ्गलमिव न बहु मन्यते, सुजनमनिमित्तमिव न पश्यति, अभिजातमहिमिव लङ्घयति, शूरं कण्टकमिव परिहरति, दातारं दुःस्वप्नमिव न स्मरति, विनीतं पातकिनमिव नोपसर्पति, मनस्विनमुन्मत्तमिवोपहसति।

प्रसंग— प्रस्तुत गद्यांश बाणभट्ट रचित कादम्बरी के अन्तर्गत 'शुकनासोपदेश' खंड से समुद्धृत है। इन पंक्तियों में मनुष्यों पर धन प्राप्ति से होने वाले दुष्प्रभावों का वर्णन किया जा रहा है।

व्याख्या— पिशाची की कल्पना के अनुसार उसकी ऊंचाई कई पुरुषों की ऊंचाई को मिलाकर बनी होती है। जिस पुरुष में धन का घमंड आ जाता है, वह स्वयं को भी समाज में अनेक पुरुषों की ऊंचाई के समन्वय से बड़ा समझने लगता है। ऐसे व्यक्ति में लक्ष्मी पिशाची के समान ही मानो प्रवेश कर चुकी होती है। जिस तरह से पिशाची सामने वाले को भयभीत करती है वैसे ही दुष्ट व्यक्ति धनी समाज में अपना भय उपस्थित करते हैं, यही इस कथन का आशय है। विद्वान् व्यक्ति में मानो सरस्वती का निवास होता है, इसीलिए सरस्वती से ईर्ष्या रखने वाली लक्ष्मी विद्वानों से दूर रहती है। कहने का अभिप्राय यही है कि समाज में प्रायः विद्वानों को निर्धन अथवा धनाभाव से ग्रस्त देखा जा सकता है। किन्तु यह एक स्वस्थ समाज का लक्षण नहीं है। चंद्रापीड को यह समझाने का तात्पर्य यही है कि राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि विद्वानों को धनाभाव से पीड़ित न होना पड़े। समाज में गुणीजनों, उदार चित्तवालों, सज्जनों, शूरवीरों, दानियों, विनयशीलजनों व मनस्वियों का समुचित आदर हो, यही गद्यांश के शेष वाक्यों का भी अभिप्राय है।

विशेष— पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार के अनेक प्रयोग पिरोए गए हैं।

(ङ) सर्वथा तमभिनन्दन्ति, तमालपन्ति, तं पार्श्वे कुर्वन्ति, तं संवर्धयन्ति, तेन सह सुखमवतिष्ठन्ते, तस्मै ददति, तं मित्रतामुपनयन्ति, तस्य वचनं शृण्वन्ति, तत्र वर्षन्ति, तं बहु मन्यन्ते, तमाप्ततामापादयन्ति योऽहर्निशमनवरतमुपरचिताञ्जलिरधिदैवतमिव विगतान्यकर्तव्यः स्तौति, यो वा माहात्म्यमुद्भावयति। किं वा तेषां साम्प्रतम्, येषामतिनृशंस– प्रायोपदेशनिर्घृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणम्, अभिचारक्रियाक्रूरैकप्रकृतयः

पुरोधसो गुरवः, पराभिसन्धानपरा मन्त्रिण उपदेष्टारः, नरपतिसहस्र–भुक्तोज्झितायां लक्ष्म्यामासक्तिः मारणात्मकेषु शास्त्रेषु अभियोगः, सहजप्रेमार्द्रहृदयानुरक्ता भ्रातर उच्छेद्याः।

प्रसंग—प्रस्तुत गद्यांश बाणभट्ट विरचित 'कादम्बरी' नामक उपन्यास के 'शुकनासोपदेश' खण्ड से समुद्धृत है। इन पंक्तियों में दुष्ट राजा के लक्षणों का वर्णन है।

व्याख्या— दुष्ट राजा ऐसे ही लोगों को अपने समीप रखना चाहते हैं जो सदा उनकी प्रशंसा करते रहें। ऐसे लोगों को ही वे धन भी देते हैं और उनसे मित्रता भी करते हैं। किंतु इस तरह वे सत्य से दूर रहते हैं तथा अपनी कमियों को न जानकर अपने में सुधार नहीं ला पाते। अपनी प्रशंसा सुनने में भले ही अच्छी लगती हो किंतु उससे प्रायः हानि ही होती है। सच्ची बात कड़वी होकर भी मनुष्य का कल्याण करने वाली होती है, अतएव भारवि का भी कथन है—

"हितं मनोहारि च दुर्लभंवचः।"

किंतु चाटुकारों की संगति में रहने वाले राजा इतने दुष्ट—स्वभाव वाले बन जाते हैं कि चाणक्य की दंडनीति मात्र को अपना लेते हैं और सज्जनों पर अत्याचार करते हैं। वे मारण आदि क्रियाओं के ज्ञाता तान्त्रिकों को गुरु बनाकर सन्मार्ग का त्याग कर देते हैं। दुष्ट मंत्रियों के बहकावे में आकर छल—कपट के मार्ग पर चलते हैं, जिससे प्रजा को अनेक दुःख सहने पड़ते हैं। धन के लोभ में दूसरों को, यहां तक कि अपने सगे भाइयों तक को मरवा डालना इनके लिए आसान होता है। इतिहास में रावण से लेकर औरंगजेब तक के अनेक इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं।

1.4.2 कादम्बरी—सार

कादम्बरी उपन्यास का प्रारंभ राजा शूद्रक की राजसभा से होता है। विदिशा के राजा की इस सभा में एक चांडाल कन्या का प्रवेश होता है, उसके पास एक पिंजरा है जिसमें एक अद्भुत तोता है, जो मनुष्यवाणी में अपना वृत्तांत बताता है। राजा ने उससे जब उसका परिचय पूछा तब उसने बताया कि उज्जयिनी में तारापीड नामक एक राजा था, जिनकी रानी का नाम विलासवती था। उनके विद्वान् मंत्री का नाम शुकनास था तथा शुकनास की पत्नी का नाम मनोरमा था। विलासवती और मनोरमा को समान दिवस पर पुत्र की प्राप्ति हुई। इन दोनों पुत्रों का नामकरण क्रमशः चंद्रापीड और वैशम्पायन हुआ। चंद्रापीड का जब राज्याभिषेक होने वाला था तभी राजा तारापीड ने उसे दीक्षान्त शिक्षा ग्रहण करने के लिए मंत्री शुकनास के पास भेजा। शुकनास ने चंद्रापीड को राज्याधिकार पाने पर लक्ष्मी के दोषों से सावधान रहने आदि के अत्यन्त उपयोगी उपदेश दिए। राज्य प्राप्ति के बाद चंद्रापीड ने अपने मित्र वैशम्पायन और सेना सहित दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। दिग्विजय की तीन वर्ष की यात्रा के बाद एक दिन शिकार खेलते हुए चंद्रापीड को किन्नर दम्पती दिखाई दिए। उनका पीछा करते हुए वह अच्छोद सरोवर पर पहुंचा। वहां उसे महाश्वेता नाम की गन्धर्व कन्या दिखाई दी जो संन्यासिनी बनी हुई थी। महाश्वेता ने उसे बताया कि उसका पुण्डरीक नामक एक प्रेमी था जो उसके विरह में चल बसा। महाश्वेता भी मरने को तैयार थी परन्तु उसे चन्द्रदेव ने आश्वस्त किया कि उसका और पुण्डरीक का पुनर्मिलन होगा। पुनर्मिलन की प्रतीक्षा

में ही तपस्यारत महाश्वेता की सखी कादम्बरी ने भी निर्णय लिया था कि महाश्वेता के पुनर्मिलन से पूर्व वह भी विवाह नहीं करेगी।

महाश्वेता ने जब चंद्रापीड को सखी कादम्बरी से मिलवाया तब वे दोनों परस्पर एक दूसरे पर मोहित हो गए। इसी बीच महाराज तारापीड का आदेश पाकर चंद्रापीड को लौटना पड़ा जबकि मित्र वैशम्पायन वहीं रुका। कई दिन तक जब वैशम्पायन नहीं लौटा तब चंद्रापीड पुनः महाश्वेता के पास लौटा तब उसे पता लगा कि वैशम्पायन (पूर्वजन्म में पुण्डरीक) महाश्वेता पर मोहित हो गया था। महाश्वेता ने तब उसे शाप दे दिया था कि वह तोता बन जाए, तब वैशम्पायन मर गया। यह दुखद समाचार सुनकर चंद्रापीड के भी प्राण निकल गए। चंद्रापीड के दुःख में कादम्बरी भी प्राण त्याग के लिए उद्यत हुई किंतु तभी आकाशवाणी हुई कि महाश्वेता और कादम्बरी को पुनः अपने प्रियतम प्राप्त हो जाएंगे।

वैशम्पायन नाम के तोते ने अपने पूर्वजन्म की यह कहानी जब जाबालि मुनि से सुनी, तब उसे महाश्वेता के प्रति अपना प्रेम स्मरण हो आया और वह महाश्वेता से मिलने के लिए उड़ा। रास्ते में एक चांडाल कन्या ने उसे पकड़ लिया और महाराज शूद्रक के सामने प्रस्तुत कर दिया। तोते के मौन हो जाने के बाद उस चांडाल कन्या ने राजा शूद्रक को बताया कि वे ही पूर्वजन्म के चन्द्रापीड़ हैं और वह वैशम्पायन के पूर्वजन्म की माता है तथा वैशम्पायन ही अपने पिछले तीसरे जन्म में पुण्डरीक था। यह सारी कथा सुनकर राजा शूद्रक को भी अपना पूर्वजन्म याद आ गया। तोते ने और राजा ने अपने प्राण त्याग दिए। शाप की अवधि समाप्त हो चुकी थी, पुण्डरीक और महाश्वेता का तथा कादम्बरी और चन्द्रापीड़ का पुनर्मिलन हुआ। राजा तारापीड भी सपत्नीक वहां पहुंचे। सबके मिलने के साथ ही तीन जन्मों का यह विशाल उपन्यास सुखद अंत को प्राप्त हुआ।

1.4.3 शुकनासोपदेश का सार

राजकुमार चन्द्रापीड़ युवराज पद पर अभिषिक्त होने से पूर्व जब अपने पिता तारापीड के मन्त्री शुकनास का आशीर्वाद लेने जाता है तब मन्त्री शुकनास उसके कल्याण की कामना से उसे उपदेश देता है कि वह किन–किन बातों से सावधान रहे।

शुकनास के उपदेशानुसार यौवन की अवस्था में धन का अभिमान मनुष्य के पतन का मुख्य कारण होता है। इस अवस्था में विषयों का आस्वादन विष का काम करता है। विषयानुराग से मैला चित्त स्नान से भी शुद्ध नहीं होता। जन्म से ही धनवान होना, नई–नई जवानी, सुंदर रूप और असाधारण शारीरिक बल, ये चारों अकेले भी कुमार्ग पर ले जा सकते हैं। जिसके पास ये चारों हों उसके लिए तो और भी अधिक विपत्ति का ये कारण बन सकते हैं। इनसे सावधान रहने का उपदेश भी किसी संस्कारी व्यक्ति को ही दिया जा सकता है, संस्कार–भ्रष्ट व्यक्ति तो सुनने को भी नहीं तैयार होगा। गुरुओं का उपदेश संस्कारी व्यक्ति को ही निरंतर निर्मल बनाए रखता है।

राजलक्ष्मी को प्राप्त करने वाले व्यक्ति में कभी भी अहंकार का प्रवेश हो सकता है। अहंकारी व्यक्ति सुनकर भी वैसे ही नहीं सुनता जैसे मदमस्त हाथी आंखें बंद करके झूमता रहता है और इस तरह से वह अपने गुरुजनों को और भी दुःख पहुंचाता है।

शुकनास कहते हैं कि चंद्रापीड को लक्ष्मी (अर्थात् धन सम्पत्ति) से विशेष सावधान रहना चाहिए। लक्ष्मी का जन्म पुराणों में क्षीरसागर से बताया गया है। सहोदर पारिजात वृक्ष के लाल–लाल पल्लवों से इसने राग का दुर्गुण ग्रहण कर लिया है अर्थात् इसके प्रभाव से मनुष्य विषयानुरागी हो जाता है। अपने अन्य सहोदर चन्द्रमा की कला से इसने वक्रता (टेढ़ेपन) को ग्रहण किया, तत्प्रभाव से धनी टेढ़ा व्यवहार करते देखे जाते हैं। सहोदर उच्चैःश्रवा नामक अश्व की चंचलता भी इसमें आई तत्प्रभाव से धनीजनों का मन सदा अस्थिर पाया जाता है। इसी प्रकार सहजात कालकूट विष से मोह (अज्ञान), मदिरा से मद (घमंड), कौस्तुभमणि से कठोरता (निष्ठुरता) आदि लक्षण लक्ष्मी के प्रभाव से लक्ष्मीवानों में दृष्टिगोचर होते हैं।

लक्ष्मी स्थायी रूप से किसी के पास रहे ऐसा भरोसा नहीं किया जा सकता है। बड़ी–बड़ी फौजों से भी इसकी रक्षा संभव नहीं। राजा से रंक होते देर नहीं लगती। कोई कितना भी कुलीन, विद्वान, सुंदर, धार्मिक आदि हो उसे इसे पाकर प्यास बढ़ती ही जाती है, अर्थात् लोभ का अंत ही नहीं होता। इसे पाकर मनुष्य ऐश्वर्यशाली अवश्य हो जाता है किंतु ईश्वर के समान महान् नहीं बनता बल्कि अत्यंत निम्नस्तरीय आचरण भी करने लगता है। यद्यपि लक्ष्मी पुरुषोत्तम (नारायण) से प्रेम करती है परंतु धनलक्ष्मी के रूप में दुष्ट–धूर्तों के पास भी चली जाती है।

इसके आने से धन का उजाला आ जाता है किंतु मनुष्य के कर्म काले होने लगते हैं। इंद्रियां विनाश के पथ पर चलने लगती हैं। सज्जनों का व्यवहार इसके मद से दुराचार में परिवर्तित होने लगता है। धर्मपथ को छोड़कर मनुष्य अधर्माचरण करने लगता है। इसके द्वारा ठगे जाने के अनेक उदाहरण संसार में भरे पड़े हैं।

राजलक्ष्मी पाने वाले तो और अधिक मात्रा में दुर्गुणों से ग्रस्त हो जाते हैं। जब ये राज्याभिषिक्त होते हैं तब मानो मांगलिक कलश के जल से इनकी उदारता ही धुलकर बह जाती है, हवन के धुंए से इनका मन मैला हो जाता है, पुरोहित की कुशा पवित्री से 'क्षमा' गुण को झाड़कर गिरा दिया जाता है, सिर पर बंधी पगड़ी के प्रभाव से ये यह भी भूल जाते हैं कि कभी ये भी बूढ़े होंगे, इसलिए धर्म का पालन नहीं करते। अपनी जय–जयकार सुनते–सुनते दूसरे की प्रशंसा करने का तो इनको ध्यान ही नहीं रहता। वैसे तो इंद्रियां पांच ही होती हैं किंतु अनेक विषयों की चाहत में ये अपने को असंख्य इन्द्रियों वाला मानकर दुराचरण में संलग्न हो जाते हैं।

राजा लोग ऐसी–ऐसी मुखाकृतियां बनाते देखे जा सकते हैं मानो कामदेव के तीरों ने इनके मर्मस्थानों पर प्रहार किया हो या पिशाचों ने इन्हें पकड़ रखा हो आदि। ये दूसरों के (दुष्टों के) इशारों पर ऐसे चलते हैं मानो ये स्वयं लंगड़े हों (चलना न जानते हों)। जैसे मृत्युशय्या पर पड़ा कोई व्यक्ति अपने पुत्र आदि को भी नहीं पहचान पाता वैसे ही ये अपने संबंधियों को भी पहचानने से इन्कार कर देते हैं। जैसे मतवाला हाथी अपने महावत की बात नहीं सुनता वैसे ही ये गुरुजन के उपदेश को नहीं ग्रहण करते। अपने होते हुए पतन को भी ये नहीं देख पाते।

धन के मद में अन्धे हुए राजा लोग जुए को मन बहलाव का साधन, परस्त्रीगमन को चतुराई, आखेट को व्यायाम, अपनी पत्नी के त्याग को वैराग्य, गुरुजनों के वचनों

के निरादर को आत्मनिर्भरता, वेश्या–संगीत–नृत्य आदि में डूबे रहने को रसिकता, चाटुकारों की वाहवाही को यश आदि मानकर कुमार्गगामी ही बने रहते हैं। स्वयं को देवता मान लेते हैं और अपनी पूजा करवाते हैं। बड़ों के चरण–स्पर्श भी ये नहीं करते। विद्वानों का उपहास करते हैं। हितैषियों की बात भी नहीं सुनते।

इस प्रकार के अनेक तथ्यों को समझाकर शुकनास ने चन्द्रापीड़ को समझाया कि उसे अपना आचरण ऐसा बनाए रखना चाहिए कि वह पतन के मार्ग पर न चले।

अपनी प्रगति जांचिए

5. राजा चंद्रापीड को उपदेश कौन देता है?
   (क) मंत्री शुकनास (ख) तारापीड
   (ग) वैशम्पायन (घ) शुक
6. 'कादम्बरी' उपन्यास का प्रारंभ किस राजा की राजसभा से होता है?
   (क) तारापीड (ख) चंद्रापीड
   (ग) वैशम्पायन (घ) शूद्रक

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ख)
4. (क)
5. (क)
6. (घ)

1.6 सारांश

बाणभट्ट को विश्व के प्रथम उपन्यासकार के रूप में जाना जाता है। उनके द्वारा रचित 'कादम्बरी' ही विश्व का प्रथम उपन्यास है। बाणभट्ट की दो गद्य रचनाएं हैं, 'कादम्बरी' और 'हर्षचरितम्'।

प्रायः संस्कृत के प्राचीन कवियों के सुस्पष्ट कालनिर्णय में कठिनाई आती है, परन्तु बाणभट्ट के विषय में ऐसी कोई समस्या नहीं है। वे राजा हर्ष के समकालीन थे। कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का राज्यकाल 606 ईस्वी से 646 ईस्वी तक प्रमाणित है अतः बाणभट्ट निश्चितरूप से सातवीं शताब्दी के प्रारंभिक साहित्यकार प्रमाणित होते हैं।

अलंकारों के सहज प्रयोग में भी बाणभट्ट की निपुणता पाठक को चमत्कृत करती है। उपमा, रूपक, श्लेष उत्प्रेक्षा, विरोधाभास और परिसंख्या अलंकार का अनेकत्र सुंदर प्रयोग इनकी रचनाओं में देखा जा सकता है।

प्रकृति वर्णन में बाणभट्ट की सौंदर्य दृष्टि संभवतः उनकी भ्रमणरुचि का सुंदर परिणाम है। कादम्बरी में अच्छोदसरोवर का वर्णन पढ़कर पाठक का मन प्रफुल्लित हो उठता है। संसार के समग्र आचार–व्यवहार का विस्तारपूर्वक उद्घाटन करने के बाण के कौशल को देखकर यह लगता है कि उन्होंने जगत् के व्यवहार के किसी पक्ष को अछूता नहीं छोड़ा है।

शुकनासोपदेश के विभिन्न गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या अथवा वर्ण्य विषयों पर आधारित समालोचनात्मक प्रश्नों का समाधान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गद्यांशों को भलीभांति पढ़ लेने के बाद ये दोनों ही कार्य सहज हो जाते हैं।

कादम्बरी उपन्यास का प्रारंभ राजा शूद्रक की राजसभा से होता है। विदिशा के राजा की इस सभा में एक चांडाल कन्या का प्रवेश होता है, उसके पास एक पिंजरा है जिसमें एक अद्भुत तोता है, जो मनुष्यवाणी में अपना वृत्तांत बताता है। राजा ने उससे जब उसका परिचय पूछा तब उसने बताया कि उज्जयिनी में तारापीड नामक एक राजा था, जिनकी रानी का नाम विलासवती था। उनके विद्वान् मंत्री का नाम शुकनास था तथा शुकनास की पत्नी का नाम मनोरमा था। विलासवती और मनोरमा को समान दिवस पर पुत्र की प्राप्ति हुई। इन दोनों पुत्रों का नामकरण क्रमशः चंद्रापीड और वैशम्पायन हुआ। चंद्रापीड का जब राज्याभिषेक होने वाला था तभी राजा तारापीड ने उसे दीक्षान्त शिक्षा ग्रहण करने के लिए मंत्री शुकनास के पास भेजा। शुकनास ने चंद्रापीड को राज्याधिकार पाने पर लक्ष्मी के दोषों से सावधान रहने आदि के अत्यन्त उपयोगी उपदेश दिए। राज्य प्राप्ति के बाद चंद्रापीड ने अपने मित्र वैशम्पायन और सेना सहित दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। दिग्विजय की तीन वर्ष की यात्रा के बाद एक दिन शिकार खेलते हुए चंद्रापीड को किन्नर दम्पती दिखाई दिए। उनका पीछा करते हुए वह अच्छोद सरोवर पर पहुंचा। वहां उसे महाश्वेता नाम की गन्धर्व कन्या दिखाई दी जो संन्यासिनी बनी हुई थी। महाश्वेता ने उसे बताया कि उसका पुण्डरीक नामक एक प्रेमी था जो उसके विरह में चल बसा। महाश्वेता भी मरने को तैयार थी परन्तु उसे चन्द्रदेव ने आश्वस्त किया कि उसका और पुण्डरीक का पुनर्मिलन होगा। पुनर्मिलन की प्रतीक्षा में ही तपस्यारत महाश्वेता की सखी कादम्बरी ने भी निर्णय लिया था कि महाश्वेता के पुनर्मिलन से पूर्व वह भी विवाह नहीं करेगी।

महाश्वेता ने जब चंद्रापीड को सखी कादम्बरी से मिलवाया तब वे दोनों परस्पर एक दूसरे पर मोहित हो गए। इसी बीच महाराज तारापीड का आदेश पाकर चंद्रापीड को लौटना पड़ा जबकि मित्र वैशम्पायन वहीं रुका। कई दिन तक जब वैशम्पायन नहीं लौटा तब चंद्रापीड पुनः महाश्वेता के पास लौटा तब उसे पता लगा कि वैशम्पायन (पूर्वजन्म में पुण्डरीक) महाश्वेता पर मोहित हो गया था। महाश्वेता ने तब उसे शाप दे दिया था कि वह तोता बन जाए, तब वैशम्पायन मर गया। यह दुखद समाचार सुनकर चंद्रापीड के भी प्राण निकल गए। चंद्रापीड के दु:ख में कादम्बरी भी प्राण त्याग के लिए उद्यत हुई किंतु तभी आकाशवाणी हुई कि महाश्वेता और कादम्बरी को पुनः अपने प्रियतम प्राप्त हो जाएंगे।

वैशम्पायन नाम के तोते ने अपने पूर्वजन्म की यह कहानी जब जाबालि मुनि से सुनी, तब उसे महाश्वेता के प्रति अपना प्रेम स्मरण हो आया और वह महाश्वेता से मिलने के लिए उड़ा। रास्ते में एक चांडाल कन्या ने उसे पकड़ लिया और महाराज शूद्रक के सामने प्रस्तुत कर दिया। तोते के मौन हो जाने के बाद उस चांडाल कन्या ने राजा शूद्रक को बताया कि वे ही पूर्वजन्म के चन्द्रापीड़ हैं और वह वैशम्पायन के

पूर्वजन्म की माता है तथा वैशम्पायन ही अपने पिछले तीसरे जन्म में पुण्डरीक था। यह सारी कथा सुनकर राजा शूद्रक को भी अपना पूर्वजन्म याद आ गया। तोते ने और राजा ने अपने प्राण त्याग दिए। शाप की अवधि समाप्त हो चुकी थी, पुण्डरीक और महाश्वेता का तथा कादम्बरी और चन्द्रापीड़ का पुनर्मिलन हुआ। राजा तारापीड भी सपत्नीक वहां पहुंचे। सबके मिलने के साथ ही तीन जन्मों का यह विशाल उपन्यास सुखद अंत को प्राप्त हुआ।

शुकनास के उपदेशानुसार यौवन की अवस्था में धन का अभिमान मनुष्य के पतन का मुख्य कारण होता है। इस अवस्था में विषयों का आस्वादन विष का काम करता है। विषयानुराग से मैला चित्त स्नान से भी शुद्ध नहीं होता। जन्म से ही धनवान होना, नई–नई जवानी, सुंदर रूप और असाधारण शारीरिक बल, ये चारों अकेले भी कुमार्ग पर ले जा सकते हैं। जिसके पास ये चारों हों उसके लिए तो और भी अधिक विपत्ति का ये कारण बन सकते हैं। इनसे सावधान रहने का उपदेश भी किसी संस्कारी व्यक्ति को ही दिया जा सकता है, संस्कार–भ्रष्ट व्यक्ति तो सुनने को भी नहीं तैयार होगा। गुरुओं का उपदेश संस्कारी व्यक्ति को ही निरंतर निर्मल बनाए रखता है।

1.7 मुख्य शब्दावली

- **निसर्गतः** – बाहर निकलना।
- **दर्पदाहज्वरोष्मा** – अभिमान की आग से जलाने वाले ज्वर की गर्मी।
- **अजस्रम्** – निरन्तर।
- **समवायः** – समूह/संघात।
- **रजनिकरगभस्तयः** – चंद्रमा की किरणें।
- **वैदग्ध्यम्** – चतुरता।
- **विप्रलब्धः** – वंचित/छला गया।
- **आतपत्रमण्डलम्** – छत्र–मंडल।
- **वेत्रदण्डम्** – बेंत की छड़ी।
- **आयास्यमानाः** – सताए जाते हुए।
- **जातुषाभरणानि** – लाख से बने गहने।
- **परदाराभिगमनम्** – परस्त्रीगमन।
- **विटैः** – धूर्तों/ठगों के द्वारा।

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राज्यसुखसन्निपात निद्रा को शुकनास ने किस प्रकार का बताया है?
2. लक्ष्मी किसे अपशकुन/अनिमित्त के समान नहीं देखती?
3. मदान्ध राजा अपने दृष्टिपात को क्या मानते हैं?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. शुकनासोपदेश के अनुसार लक्ष्मी के अदोषों का विवेचन कीजिए।
2. शुकनासोपदेश के अन्तर्गत मदान्ध राजाओं का व्यवहार कैसे वर्णित किया गया है? विस्तारपूर्वक लिखिए।
3. शुकनासोपदेश की कथा पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालिए।

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. कादम्बरी– व्याख्याकार, पण्डित श्रीकृष्णमोहन शास्त्री, प्रकाशन, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 37/116, गोपाल मंदिर लेन वाराणसी।

इकाई 2 आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, मीमांसा, चार्वाक, जैन एवं बौद्ध)

संरचना

2.0 परिचय
2.1 इकाई के उद्देश्य
2.2 भारतीय दर्शन का स्वरूप
2.3 सांख्य दर्शन
2.4 योग दर्शन
2.5 न्याय दर्शन
2.6 वैशेषिक दर्शन
2.7 वेदान्त दर्शन
  2.7.1 वेदान्त की आचार्य परंपरा एवं साहित्य
  2.7.2 वेदान्त दर्शन में विवेचित दार्शनिक विषय
2.8 मीमांसा दर्शन
  2.8.1 मीमांसा दर्शन का इतिहास
  2.8.2 मीमांसा दर्शन के प्रमुख सिद्धांत
2.9 चार्वाक दर्शन – सामान्य परिचय
2.10 जैन दर्शन
  2.10.1 जैन दर्शन – सामान्य परिचय
  2.10.2 जैन दर्शन – अनेकान्तवाद और स्याद्वाद
  2.10.3 जैन दर्शन – जीव, बंध और मुक्ति का सिद्धांत
2.11 बौद्ध दर्शन – सामान्य परिचय
2.12 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.13 सारांश
2.14 मुख्य शब्दावली
2.15 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.16 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

दर्शन शास्त्र का उदय मानव की जिज्ञासा और उसे शांत करने के लिए किए गए सतत प्रयासों का परिणाम है। प्रकृति के उपहारों से अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की तृप्ति के उपरांत मानव ने अपने आसपास के तत्त्वों, पदार्थों और गतिविधियों के कारण–परिणाम को जानने–समझने की कोशिश की। इस प्रयास के परिणाम इतने विस्मयकारी थे कि उनसे सारा संसार रहस्य के कुहासे में छिपा अनुभव होने लगा। अन्वेषण के अनवरत प्रयासों के बाद भी समाधान मिल नहीं रहा था। प्रश्न; उत्तरों के स्थान पर प्रश्नों को ही जन्म दे रहे थे और रहस्य उत्तरोत्तर गहनतर होता जा रहा था। खोज और समाधान की यह परंपरा महीनों, वर्षों, और दशकों के क्रम से शताब्दियों तक जारी रही और इस दौरान

जगत और जीवन के विषय में अनेक मत तथा विचार सामने आए। इस प्रक्रिया के समन्वित रूप को साहित्यिक शब्दावली में 'दर्शन' का नाम दिया गया।

कुल मिलाकर भारतवर्ष में नौ दार्शनिक परंपराओं ने जन्म लिया, जिन्हें दो प्रकारों – आस्तिक और नास्तिक में विभक्त किया गया है। इनमें से आस्तिक दर्शन वे हैं जिनके मूल सिद्धांत वैदिक मान्यताओं पर आधारित हैं; जबकि इनसे पृथक दार्शनिक परंपराओं को नास्तिक वर्ग में रखा गया है। आस्तिक दर्शनों की संख्या छह और नास्तिक दर्शनों की संख्या तीन है। नास्तिक दर्शनों के नाम चार्वाक या बार्हस्पत्य, बौद्ध और जैन दर्शन हैं।

इस इकाई में आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन की स्तरीय विवेचना की गई है।

2.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय दर्शन के स्वरूप एवं लक्ष्य से परिचित हो पाएंगे;
- भारतीय दर्शन की प्रमुख शाखाओं : सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, पूर्व मीमांसा आदि को समझ पाएंगे;
- विभिन्न दर्शनों के सिद्धांत तथा उनकी विशिष्टताओं का आकलन कर पाएंगे;
- विविध दर्शनों के मोक्ष संबंधी विमर्श का ज्ञान प्राप्त कर पाएंगे।

2.2 भारतीय दर्शन का स्वरूप

भारतीय दार्शनिक परंपरा को मुख्य तौर पर दो भागों में विभक्त किया जाता है। इनके नाम हैं – आस्तिक और नास्तिक दर्शन। साधारण अर्थ में ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाले को आस्तिक और ईश्वर को नकारने वाले को नास्तिक कहा जाता है। लेकिन दर्शन के अर्थ में यह परिभाषा वेद को आधार मानने पर निर्भर है। तदनुसार जो दर्शन वेदों को प्रमाण स्वीकार करते हैं उन्हें आस्तिक और वैदिक प्रमाणों अथवा मान्यताओं को अस्वीकार करने वाले दर्शनों को नास्तिक कहा गया है। चार्वाक, बौद्ध और जैन नास्तिक दर्शन हैं जबकि न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त को आस्तिक दर्शनों के रूप में जाना जाता है।

इन दर्शनों की रचना मनीषियों के सैकड़ों–हजारों सालों के चिंतन, मनन और निदिध्यासन से हुई लेकिन इनके प्रतिपादकों के रूप में उन्हीं विद्वानों के नाम लिए जाते हैं जिन्होंने इनके सूत्रों और व्याख्याग्रंथों (वार्तिकों) की रचना की। इस दृष्टि से इन दर्शनों का सामान्य परिचय इस प्रकार है –

क्रम	दार्शनिक संप्रदाय	सूत्रकार	भाष्यकार	वार्तिककार
01	न्याय दर्शन	अक्षपाद गौतम	वात्स्यायन	उद्योतकर
02	वैशेषिक दर्शन	कणाद मुनि	प्रशस्तपाद	शंकरमिश्र
03	सांख्य दर्शन	कपिल मुनि	विज्ञानभिक्षु	अनिरुद्ध
04	योग दर्शन	पतंजलि ऋषि	व्यास	भोजराज

05	मीमांसा दर्शन	जैमिनी	मुनि शबरमुनि	कुमारिल भट्ट
06	वेदान्त दर्शन	बादरायण मुनि	शंकराचार्य	(विविध)

दर्शनशास्त्र का लक्ष्य विविध तापों से आत्यन्तिक निवृत्ति उपलब्ध कराना है। वैदिक मान्यता जीवन में तीन प्रकार के दुःखों का होना स्वीकार करती है। इनमें पहला है आध्यात्मिक दुःख, यानी आत्मा द्वारा जीवन्मुक्त अवस्था के त्याग से उत्पन्न पीड़ा। इसे अतृप्ति और उद्वेग के रूप में अनुभव किया जाता है। प्रकट रूप में आत्मा जिस देह में रहती है उसके मानसिक और शारीरिक क्लेश भी आत्मिक दुःखों में गिने जाते हैं क्योंकि वे भी आत्मा की स्वरूप से अनभिज्ञता से ही उत्पन्न होते हैं। दुःखों की दूसरी कोटि है आधिभौतिक दुःख जिनमें बाहरी कारणों जैसे चोट, आघात आदि से उत्पन्न कष्टों को शामिल किया जाता है। तीसरे प्रकार के दुःख को आधिदैविक कहा जाता है जो सर्दी, गर्मी, अकाल आदि से पैदा होता है। दर्शन का लक्ष्य ज्ञान, कर्म और उपासना द्वारा जीव को इन सभी दुःखों से सदा सर्वदा के लिए मुक्त कराना है। नास्तिक दर्शनों में भी दुःखों के निवारण को जीवन और मनुष्य का परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है।

भारतीय दर्शन का वर्गीकरण

भारतीय दर्शन मूल रूप से दो वर्गों में विभक्त है– (क) आस्तिक दर्शन और (ख) नास्तिक दर्शन। आस्तिक और नास्तिक से क्या अभिप्राय है। अनेकानेक खंडन–मंडन के उपरांत वर्तमान में भारतीय दर्शन के क्षेत्र में इनका पारिभाषिक अर्थ स्वीकार किया जाता है–

नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मति स्थिरा।
नास्तिकास्ते तथास्तीति मतिर्येषां त आस्तिकाः।।

वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास करने वाले आस्तिक कहलाए और अविश्वास करने वाले नास्तिक कहे गए। वेदों को प्रामाणिक मानने के कारण न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त आस्तिक दर्शन की कोटि में आते हैं और वेदों की प्रामाणिकता का निषेध करने वाले चार्वाक, जैन, बौद्ध, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक नास्तिक दर्शन वर्ग में गिने जाते हैं। दोनों ही वर्गों में छह दर्शन हैं। इसलिए भारतीय दर्शन को षड्दर्शनसमुच्चय भी कहा जाता है। हमारे अध्ययन के विषय निम्नलिखित छह आस्तिक दर्शन हैं– सांख्य दर्शन, योग दर्शन, वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन, पूर्व मीमांसा दर्शन, अद्वैतवेदान्त दर्शन।

अपनी प्रगति जांचिए

1. न्याय दर्शन के भाष्यकार कौन हैं?
   (क) प्रशस्तपाद (ख) वात्स्यायन
   (ग) विज्ञानभिक्षु (घ) शबरमुनि
2. दार्शनिक जीव मात्र को क्या मानता है?
   (क) दयालु (ख) अभावयुक्त
   (ग) करुणास्पद (घ) हास्यास्पद

2.3 सांख्य दर्शन

भारत के प्राचीनतम दर्शन संप्रदायों में सांख्य दर्शन का विशिष्ट स्थान है। इसके प्रवर्तक आचार्य कपिल मुनि हैं। सांख्य शब्द अनेक प्रकार से व्याख्यायित होता रहा है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से सम् उपसर्गपूर्वक 'चक्षिङ्' धातु में अङ् प्रत्यय के योग से सांख्य शब्द निष्पन्न होता है। सांख्य दर्शन में महदादि पच्चीस तत्त्वों की गणना की गई है, इसीलिए इसे तत्त्वसंख्यान और तत्त्वगणन शास्त्र भी कहा गया है। प्रकृति, पुरुष महदादि तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान कराने के कारण भी इसे सांख्य कहा जाता है। आस्तिक दर्शन के रूप में चिंतकों एवं मनीषियों द्वारा मान्य सांख्य दर्शन के विकास क्रम को तीन स्तरों पर देखा जा सकता है– प्रारंभिक युगीन सांख्य, मध्ययुगीन सांख्य तथा उत्तरयुगीन सांख्य।

अपने प्रारंभिक काल में भगवान् विष्णु के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित महर्षि कपिल द्वारा प्रणीत सांख्य ईश्वरवादी और वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास करने वाला था। अपने मध्ययुग में बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रभाव की अतिशयता के कारण संभवतः यह वस्तुवादी और अनीश्वरवादी हो गया। इसीलिए शंकराचार्य एवं बादरायण जैसे मनीषियों ने इसका खंडन करते हुए इसे वेदान्त दर्शन का प्रतिपक्षी माना। उत्तरयुग में विज्ञानभिक्षु जैसे चिंतकों ने सांख्य में ईश्वरवाद को पुनर्जीवित कर इसे प्रतिष्ठित किया।

सांख्य दर्शन के सिद्धांत

सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं–

1. **कारणतावाद अथवा कार्य–कारणवाद**– कारणतावाद समस्त भारतीय दर्शन का मूलभूत सिद्धांत है। यह कार्य और कारण के संबंध का सिद्धांत है। कार्य और कारण का अविच्छिन्न संबंध है। सांख्य दर्शन के अनुसार कोई भी कार्य अकारण नहीं होता। प्रत्येक कार्य के पीछे कोई–न–कोई कारण अवश्य होता है। कारण के रहने पर ही कार्य होगा और कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होगा। सत् एवं असत् अर्थात् भाव तथा अभाव के रूप में कार्य–कारण का 'अविनाभाव संबंध' होता है। अविनाभाव संबंध का अभिप्राय यह है कि एक के भाव के बिना दूसरे का भाव नहीं हो सकता और एक के अभाव के बिना दूसरे का अभाव भी नहीं हो सकता। जैसे मिट्टी के रहने पर ही घड़े का निर्माण हो सकता है; मिट्टी के अभाव में घड़ा नहीं बन सकता। मिट्टी घड़े का कारण है और घड़ा कार्य है। कारण एवं कार्य का यह अविनाभाव संबंध है।
2. **तत्त्व विचार**– सांख्य दर्शन का तत्त्व विचार अत्यंत विशिष्ट है। सांख्य के अनुसार 25 तत्त्व हैं। इनकी गणना इस प्रकार की गई है– 1 प्रकृति– जो अव्यक्त एवं प्रधान है, 16 विकृतियां– पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश व वायु (पांच महाभूत), श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण (पांच ज्ञानेंद्रियां), वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ एवं गुदा (पांच कर्मेंद्रियां) तथा मन, 7 प्रकृति–विकृति– महत्तत्व 1, अहंकार 1, शब्द, रूप, रस, गंध व स्पर्श (पांच तन्मात्राएं) और 1 पुरुष– जो न प्रकृति है, न विकृति।

   कार्य कारणवाद की दृष्टि से इन 25 तत्त्वों को चार भागों में बांटा गया है।

   1. ऐसा तत्त्व जो सबका कारण तो है, लेकिन किसी का कार्य नहीं है, जैसे – प्रकृति।
   2. ऐसे तत्त्व जो मात्र कार्य हैं, कारण नहीं, जैसे– विकृति।

3. ऐसे तत्त्व जो कार्य भी हैं और कारण भी, जैसे– प्रकृति और विकृति।
4. ऐसा तत्त्व जो न कार्य है और न ही कारण, जैसे न प्रकृति और न विकृति।

इस तत्त्व विभाग को इस प्रकार स्पष्टतया समझा जा सकता है–

1. प्रकृति – 1
2. विकृति – 16

   पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश व वायु – 5 महाभूत

   श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना व घ्राण – 5 ज्ञानेंद्रियां

   वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ व गुदा – 5 कर्मेंद्रियां   5 + 5 + 5 + 1
   मन –1   = 16 विकृतियां
3. प्रकृति–विकृति – 7

   महत्तत्व – 1

   अहंकार – 1

   शब्द, रूप, रस, गंध व स्पर्श – 5 तन्मात्राएं

   1 + 1 + 5 = 7 प्रकृति – विकृति
4. पुरुष (न प्रकृति, न विकृति) – 1

   तत्त्वों की कुल संख्या – 1 + 16 + 7 + 1 = 25

3. **सत्कार्यवाद**– सांख्य दर्शन का एक प्रमुख सिद्धांत सत्कार्यवाद है। सत्कार्यवाद का ही अपर नाम प्रकृतिपरिणामवाद है। सृष्टि के सारे तत्त्व प्रलयावस्था में बीजरूप से या अव्यक्त रूप से प्रकृति के अंतर्गत विद्यमान रहते हैं तथा सर्गावस्था में कार्य रूप से व्यक्त होते हैं। प्रकृति को ही प्रधान कहते हैं। वही संपूर्ण सृष्टि का कारण है। अतः सांख्य दर्शन का यह सिद्धांत 'प्रधानकारणवाद' भी कहलाता है। कार्य नई सृष्टि नहीं है, वह कारण की कार्यरूप में अभिव्यक्ति मात्र है। ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में सत्कार्यवाद के संदर्भ में निम्नलिखित युक्तियां दी हैं–

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।

(क) **असदकरणात्** – यदि कार्य, उत्पत्ति के पूर्व, कारण में विद्यमान न हो, तो वह असत् होगा। असत् होने से वह शशशृंग (खरहे के सींग) तथा खपुष्प (आकाश में खिले फूल) के समान होगा और असत् की उत्पत्ति किसी प्रकार कभी नहीं हो सकती। हजारों शिल्पी मिलकर भी आकाश में महल नहीं बना सकते। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है–

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।

(ख) **उपादानग्रहणात्**– प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण से संबद्ध रहता है और इसीलिए उसकी उत्पत्ति होती है। यदि कारण व्यापार के पूर्व कार्य की सत्ता न हो तो अविद्यमान कार्य का संबंध अपने उपादान कारण

से किस प्रकार संभव होगा? संबंध दो सत् पदार्थों के बीच ही हो सकता है। उपादान कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। तेल निकालने के लिए तिल ग्रहण करना ही पड़ेगा।

(ग) **सर्वसम्भवाभावात्**— सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती। संबद्ध कारण से ही संबद्ध कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य को उत्पत्ति के पूर्व उपादान कारण में निहित मानना ही होगा।

(घ) **शक्तस्य शक्यकरणात्**— शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है। जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, उस कारण से वही कार्य उत्पन्न हो सकता है। इसका अर्थ है कि जो कार्य बीज रूप से जिस कारण में विद्यमान है, वही कारण उसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है। यदि ऐसा नहीं होता तो पानी से दही, बालू से तेल और बैल से दूध प्राप्त किया जा सकता, परंतु ऐसा नहीं होता है। अतः यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति से पूर्व शक्य कार्य शक्त कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान होता है।

(ङ) **कारणभावात्**— कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। कारण कार्य की अव्यक्तावस्था है और कार्य कारण का व्यक्त रूप है। कारण का जो स्वभाव होता है, वही कार्य का भी होता है। मिट्टी से बने घड़े का स्वभाव भी मिट्टी जैसा ही होता है। कार्य कारणात्मक होता है अर्थात् तात्विक रूप से कार्य कारण से अभिन्न होता है। इन दोनों का भेद अव्यावहारिक है।

4. **प्रकृति**— सांख्यप्रवचनभाष्य के मंगलाचरण में ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति की वंदना करते हुए कहा है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्।
बह्वीप्रजां सृजमानां नमामः।।

प्रकृति अजा, एका, अविनाशिनी, त्रिगुणात्मिका तथा संपूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति करने वाली है। संपूर्ण जगत् का मूलभूत कारण होने से प्रकृति प्रधान भी कहलाती है। कारणरूपा प्रकृति स्वयं अव्यक्त है और इसके कार्यरूप समस्त सांसारिक पदार्थ व्यक्त हैं। प्रकृति अतींद्रिय है, इसलिए इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, अतः इसका एक नाम अनुमान भी है। यह जड़, नित्य, स्वतंत्र तथा पुरुष द्वारा ज्ञेय है। इसमें समस्त कार्यों को उत्पन्न करने की शक्ति है और यह सतत गतिशील है, इसलिए इसका एक नाम शक्ति भी है।

प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता की सिद्धि के लिए सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने निम्नलिखित पांच युक्तियां प्रस्तुत की हैं—

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागात् वैश्वरूपस्य।

(क) **भेदानां परिमाणात्**— कारण और कार्य में भेद होता है। कार्यरूप समस्त सांसारिक पदार्थ सीमित, परिमित, परतंत्र, अव्यापक, सान्त और अनेक हैं

जो क्रमशः असीमित, अपरिमित, स्वतंत्र, व्यापक, अनन्त एवं एकता की ओर उन्मुख होते हैं, जो मूलभूत कारणरूप प्रकृति है। उद्भव काल में सृष्टि के सारे पदार्थ अनेकता में विभक्त हो जाते हैं और तिरोभाव काल में एकता में सिमट जाते है। इन भेदों के फलस्वरूप प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध होती है।

(ख) **समन्वयात्**– सत्व, रज और तम– तीनों गुणों का कारण भी प्रकृति ही है। ये तीनों गुण प्रकृति के उपादान हैं, उसके अंग हैं। इसलिए प्रकृति त्रिगुणात्मिका कही जाती है। प्रकृति में तीनों गुणों के स्वरूप का समन्वय होता है (गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः)। इसी समन्वय से प्रकृति की सत्ता का ज्ञान संभव है।

(ग) **शक्तितः प्रवृत्तेश्च**– कारण की शक्ति के अनुरूप ही कार्य का रूप होता है। जैसी मिट्टी वैसे घड़े बनते हैं। शरीर, मन, बुद्धि तथा इंद्रियों जैसे व्यक्त त्रिगुणात्मक विश्व की उत्पत्ति में अव्यक्त प्रकृति ही सशक्त है। जगत् की प्रकृति का मूलभूत कारण सशक्त प्रकृति ही है।

(घ) **कारणकार्यविभागात्**– सृष्टि के विकास क्रम में पृथिव्यादि कार्यों की उत्पत्ति तन्मात्राओं से, तन्मात्राओं की अहंकार से, अहंकार की बुद्धि से और बुद्धि की अव्यक्त प्रकृति से होती है। ये सभी व्यक्त कार्य अव्यक्त कारण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं जो प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता को प्रमाणित करते हैं।

(ङ) **अविभागात् वैश्वरूपस्य**– अव्यक्त अवस्था में कार्य और कारण एकरूप हो जाते हैं, उनमें कोई विभाग नहीं रहता। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि का क्रम चलता रहता है। जिस क्रम से कारण से कार्यों की उत्पत्ति होती है, उसी क्रम से कार्यों का कारण में तिरोभाव हो जाता है। इससे भी प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता की सिद्धि होती है।

(च) **गुण**– गुण प्रत्यक्ष नहीं देखे जाते, उनके कार्यों को देखकर उनका अनुमान किया जाता है। संसार के समस्त विषय, सूक्ष्म बुद्धि से लेकर स्थूल पत्थर, लकड़ी पर्यंत में तीन गुण पाए जाते हैं, जिनके कारण वे सुख–दुख या मोह उत्पन्न करते हैं। एक ही वस्तु एक के मन में सुख, दूसरे के मन में दुख तथा तीसरे के मन में उदासीन भाव की सृष्टि करती है। ये तीन गुण हैं– सत्व, रज और तम। इनके लक्षण, प्रयोजन और क्रियाओं पर प्रकाश डालते हुए सांख्यकारिका के प्रणेता ने लिखा है–

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।।
सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।।

5. **सत्व गुण**– 'सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्' अर्थात् सत्व गुण लघु, प्रकाशक और इष्ट होता है। ज्ञान में जो विषय प्रकाशकत्व होता है, इंद्रियों में जो विषयग्राहिता

होती है, वह सब सत्व गुण के कारण होती है। जहां—जहां लघुता (हल्कापन) के कारण ऊर्ध्व दिशा में गमन (ऊपर की ओर जाने) का दृष्टांत मिलता है, वह सत्व गुण के कारण होता है, जैसे— अग्नि की ज्वाला का ऊपर उठना या मन की उन्नति। सभी प्रकार के आनंद भी सत्व गुण के कारण ही मिलते हैं।

रजोगुण— 'उपष्टम्भकं चलं च रजः' अर्थात् अप्रवृत्तिशील सत्व तमादि को कार्य में प्रवृत्त कराता है, अतः इसे उपष्टंभक (उत्तेजक) और चंचल कहा गया है। यह दुःखात्मक है। इसी से हवा बहती है, इंद्रिय विषयों की ओर दौड़ते हैं और मन चंचल हो उठता है। शारीरिक कष्ट और मानसिक क्लेश भी इसके कारण होते हैं, अतः यह दुःखात्मक है।

तमोगुण— 'गुरुवरणकमेव तमः' अर्थात् तमोगुण गुरु (भारी) और अवरोधक (रोकनेवाला) होता है। यह सत्व गुण के विपरीत है। यह रजोगुण की क्रिया का अवरोध भी करता है, जिसके कारण वस्तु की गति नियंत्रित होती है। यह जड़ता और निष्क्रियता का प्रतीक है। इसी के कारण बुद्धि, तेज आदि का प्रकाश फीका पड़ने से मूर्खता या अंधकार की उत्पत्ति होती है। यह मोह या अज्ञान का जनक है। यह क्रिया की गति में अवरोध कर निद्रा, तंद्रा व आलस्य उत्पन्न करता है। यह अवसाद व उदासीनता का कारण है।

सत्वगुण शुक्ल, रजोगुण लाल तथा तमोगुण कृष्ण वर्ण का कल्पित किया गया है।

प्रयोजन— 'प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः' अर्थात् सत्वगुण प्रकाशार्थ, रजोगुण प्रवृत्यर्थ तथा तमोगुण नियमार्थ प्रवृत्त होता है। सम्मिलित रूप में ये तीनों गुण बाती, तेल, अग्नि समन्वित प्रदीपवत् एक ही पुरुषार्थ रूप प्रयोजन को सिद्ध करते हैं— "प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।"

क्रियाएं— 'अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयः' इस कारिकांश में प्रत्येक पद के साथ अन्वित 'वृत्ति' शब्द क्रिया की बोधक है। ये क्रियाएं इस प्रकार हैं—

अन्योन्याभिभववृत्ति— अर्थात् प्रत्येक गुण अन्य दो गुणों को अभिभूत करके अपने—अपने प्रयोजन का संपादन करते हैं।

अन्योन्याश्रयवृत्ति— परस्पर दो गुणों का आश्रय लेकर ये सभी अपने—अपने कार्य का संपादन करते हैं।

अन्योन्यजननवृत्ति— गुणत्रय परस्पर एक—दूसरे को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् अन्य दो के सहयोग से सदृश परिणाम उत्पन्न करते हैं।

अन्योन्यमिथुनवृत्ति— तीनों गुण परस्पर भिन्न प्रवृत्ति वाले होते हुए भी परस्पर नियत सहचर भाव से उसी प्रकार कार्य करते हैं, जैसे त्रिदंड एक—दूसरे के सहायतार्थ प्रयुक्त होता है।

तीनों गुणों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। परिणाम उनका स्वभाव है, इसलिए वे एक क्षण भी अविकृत परिणाम के नहीं रह सकते। परिणाम दो प्रकार के हैं— 1. प्रत्ययावस्था में प्रत्येक गुण स्वयं में ही परिवर्तित होता है। 2. जबकि

टिप्पणी

सृष्टि की उत्पत्ति के समय एक गुण प्रबल हो जाता है और अन्य दो उसके अधीन हो जाते हैं; अतः तब सृष्टि होती है।

6. **पुरुष**— सांख्य दर्शन के अनुसार, पुरुष आत्मतत्त्व है। चैतन्यस्वरूप पुरुष स्वतः सिद्ध और स्वयं प्रकाश है। वह समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। वह साक्षी, कूटस्थ, नित्य, निष्क्रिय और अपरिणामी है। पुरुष का अपर अभिधान 'केवल' है। केवल ही कैवल्य है और कैवल्य ही मोक्ष है। पुरुष सुख–दुख से परे निर्गुण है। किसी जड़ पदार्थ की तरह पुरुष अथवा चेतन तत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता, किंतु गहनता से विचार करने पर इसके अस्तित्त्व को स्वीकार करना ही पड़ता है। दर्शनशास्त्र के नियम के अनुसार जिसका हम अनुभव करते हैं, उसका कारण अवश्य होता है। संसार के समस्त पदार्थों अथवा कार्यों में हम जिस व्यवस्था, क्रम एवं चेतना का अनुभव करते हैं, उसके कारण रूप में जो चेतन है, वही पुरुष है। उस पुरुष की सत्ता के प्रमाण में सांख्यकारिका में निम्नलिखित युक्तियां दी गई हैं—

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।।

(क) **सङ्घातपरार्थत्वात्**— सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति, महत् (बुद्धि), अहंकार आदि संघातमय (विभिन्न अवयवों के मिलने से निर्मित है) अथवा सावयव पदार्थों का अपना कोई प्रयोजन नहीं होता। ये दूसरों के लिए हैं। ये जिसके लिए हैं, वही पुरुष है।

(ख) **त्रिगुणादिविपर्ययात्**— अव्यक्त कारणरूपा प्रकृति और उसके सभी व्यक्त कार्य त्रिगुणात्मक हैं। सत्व, रज एवं तमोगुण से युक्त समस्त संघातमय पदार्थों का उपभोक्ता कोई त्रिगुणातीत पुरुष ही होगा।

(ग) **अधिष्ठानात्**— सारे सांसारिक पदार्थ सत्व, रज और तम से उत्पन्न होने के कारण सुख–दुख और मोहात्मक हैं, किंतु ये सभी जड़ हैं, अचेतन हैं। जिस प्रकार अचेतन रथ घोड़े और सारथी की प्रेरणा से गतिशील होता है, उसी प्रकार समस्त त्रिगुणात्मक जड़ पदार्थ को जो संचालित करने वाला है, वही चेतन पुरुष है।

(घ) **भोक्तृभावात्**— सुख, दुख और मोह उत्पन्न करनेवाली सभी वस्तुएं जड़ होने के कारण जिस चेतन द्वारा उपयुक्त होती हैं, वह पुरुष ही है।

(ङ) **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च**— दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति अथवा विनाश को कैवल्य कहा गया है। दुःखों की पीड़ादायक अनुभूति से मुक्ति के लिए सभी जीव कैवल्य को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, जिससे पुरुष की सत्ता स्वतः सिद्ध होती है।

पुरुष का बहुत्व— चेतन पुरुष की सत्ता की सिद्धि के उपरांत यह प्रश्न समक्ष आता है कि यह पुरुष एक ही है या इसकी संख्या बहुत है। इस संबंध में भिन्न–भिन्न दर्शन का मत भी भिन्न–भिन्न ही है। सांख्य दर्शन के अनुसार, प्रत्येक शरीर में आत्मा का अलग–अलग अधिवास होता है,

अतः प्रत्येक जीवात्मा की स्वतंत्र सत्ता होती है। इस सिद्धांत की पुष्टि के लिए ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में निम्नलिखित युक्तियां दी हैं–

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्ध त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।।

जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्– प्रत्येक व्यक्ति का जन्म, उसकी मृत्यु और उसकी ज्ञानेंद्रियां सब भिन्न–भिन्न होते हैं। यदि पुरुष एक ही होता तो एक के जन्म से सबका जन्म, एक की मृत्यु से सबकी मृत्यु और शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्शादि का एक के अनुभव करने से सबको एक साथ ही तत्–तत् अनुभूतियां होतीं। एक के अंधे या बधिर होने से सभी अंधे या बधिर हो जाते। अतः पुरुष (आत्मा) की अनेकता स्वयं ही सिद्ध हो जाती है।

अयुगपत् प्रवृत्तेः– प्राणियों की प्रवृत्तियां शारीरिक हों या मानसिक, सबमें एक–दूसरे से भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। एक छात्र जिस समय अध्ययन में लीन रहता है, उसी समय अन्य छात्र खेलने में मग्न रहते हैं। यदि पुरुष एक होता तो सबकी प्रवृत्तियां भी एक होतीं, किंतु ऐसा नहीं होता है। इसलिए प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न पुरुष का होना प्रमाणित होता है।

त्रैगुण्यविपर्ययाच्य– कारणरूपा प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और इसके समस्त कार्य सत्व, रज और तमोगुण से उत्पन्न होते हैं, फिर भी सबके स्वभाव भिन्न–भिन्न होते हैं। किसी में रज, तो किसी में तमोगुण की प्रधानता होती है। कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई धनी है, कोई निर्धन है। इस तरह की भिन्नताएं यह सिद्ध करती हैं कि पुरुष एक नहीं अनंत है; आत्मा एक नहीं अनेक है।

7. **सृष्टि प्रक्रिया**– सांख्य दर्शन के अनुसार जब सत्व, रज और तमोगुण साम्यावस्था में होते हैं; तब प्रलय की स्थिति होती है। उस समय मूल प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता। प्रलय के उपरांत जब सृष्टि प्रकृति में संक्षोभ होता है, उस समय तीनों गुण न्यूनाधिक होकर विभिन्न रूपों में प्रकट होने लगते हैं। सर्वप्रथम, सत्व गुण की प्रधानता के कारण महत्तत्व का उद्भव होता है, महतत्त्व में रजोगुण की प्रबलता से अहंकार और अहंकार में तमोगुण के प्रबल हो जाने से पंच तन्मात्राएं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) उत्पन्न होती हैं। तन्मात्राओं में तमोगुण की अधिकता से पंच महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु) की उत्पत्ति होती है। इन पांच महाभूतों के मिलने और तीनों गुणों के न्यूनाधिक्य से समस्त जड़–चेतन सृष्टि की रचना होती है।

   प्रकृति के सात्विक अंश से उत्पन्न महत्तत्व के दो रूप होते हैं– (क) तामसिक, यथा– अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य। (ख) राजसिक, इससे उत्पन्न अहंकार अभिमानात्मक होता है।

सृष्टि प्रक्रिया निम्नलिखित तालिका से और स्पष्ट हो जाती है–

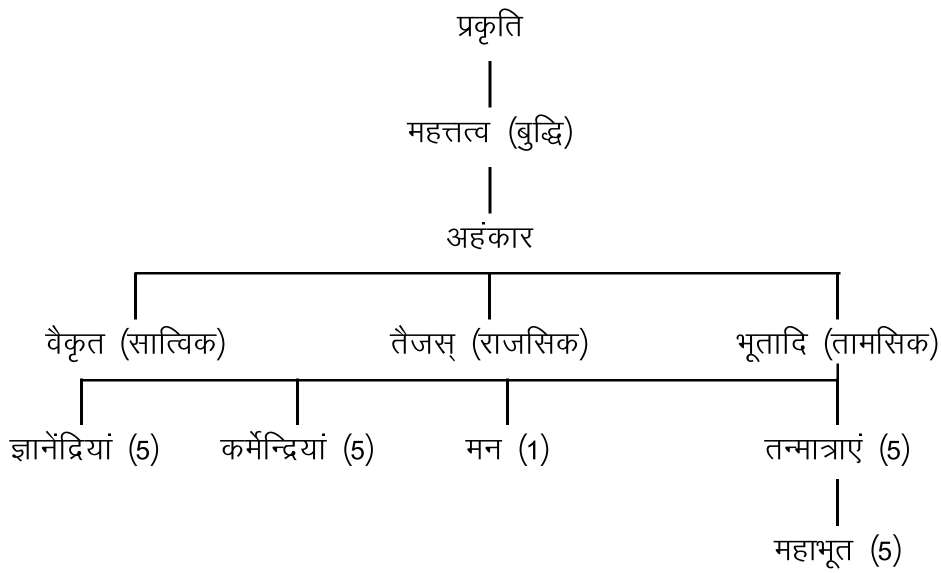

8. **मोक्ष विचार**– सांख्य दर्शन के अनुसार, पुरुष के स्वरूप का अज्ञान बंधन है और उसके स्वरूप का ज्ञान मोक्ष है। पुरुष विशुद्ध चैतन्य स्वरूप होने के कारण वस्तुतः नित्य और मुक्त है। वास्तव में न तो पुरुष का बंधन होता है और न मोक्ष। पुरुष स्वभावतः ज्ञाता मात्र है जो बुद्धि, अहंकार, मन, शरीर और इंद्रियादि से भिन्न है। परंतु यह पुरुष अविवेक के कारण महत् या बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिंब के साथ तादात्म्य स्थापित कर उन्हें अपना वास्तविक स्वरूप समझने लगता है। पुरुष का प्रकृति से अपनी भिन्नता का ज्ञान न होना ही विवेकाख्याति है, जिसके परिणामस्वरूप बंधन होता है। बंधन जन्म–मरण का अनवरत चक्र है, जिसमें पड़कर मनुष्य संसार में दुःख भोगता है। सांख्य के अनुसार सांसारिक दुःखों के तीन प्रकार हैं–

   1. **आध्यात्मिक दुःख**– शारीरिक और मानसिक दुःख, यथा– बुभुक्षा, पिपासा, क्रोध, संताप आदि। इन्हें दैहिक दुःख भी कहते हैं।
   2. **आधिभौतिक दुःख**– बाहरी कारणों से उत्पन्न असंभावित दुःख, जैसे– प्राकृतिक प्रकोप, अकाल, महामारी, युद्ध, वैर–विरोध, सर्पदंश आदि।
   3. **आधिदैविक दुःख**– भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस, अतिवृष्टि, अनावृष्टि या क्रूर ग्रहों का प्रकोप आदि इसी कोटि में परिगणित होते हैं।

   इन तीनों प्रकार के दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति को सांख्य दर्शन में मोक्ष, मुक्ति अथवा अपवर्ग की संज्ञा दी गई है। विवेक ज्ञान से इस मोक्ष की प्राप्ति संभव है। यहां विवेक ज्ञान से तात्पर्य पुरुष का प्रकृति से अपनी भिन्नता का ज्ञान है। विवेक ज्ञान होने से पुरुष यह जान लेता है कि मैं विषय, जड़, प्रकृति आदि नहीं हूं, मेरा कुछ भी नहीं है और मैं अहंकार नहीं हूं।

मोक्ष के प्रकार

सांख्य में दो प्रकार की मुक्ति मानी गई है– जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति का अर्थ है जीवन काल में ही मोक्ष की प्राप्ति, जिससे जीव तो

मुक्त हो जाता है परंतु पूर्वजन्मों के प्रभाव के कारण उसका शरीर विद्यमान रहता है। इस स्थिति में देह तो रहती है, पर देह का संबंध मिट जाता है। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के उपरांत जब शरीर का नाश होता है, तो जीव को विदेह मुक्ति मिल जाती है। यह अंतिम अवस्था होती है, इसके पश्चात कुछ भी शेष नहीं रहता।

9. **प्रमाण विचार**– किसी विषय या पदार्थ का ज्ञान अथवा अनुभव का साधन प्रमाण ही है। सांख्य दर्शन में प्रमाण की संख्या तीन मानी गई है– प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। सांख्यकारिका में कहा गया है–

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।।

अर्थात् सभी प्रमाणों का अंतर्भाव होने से प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण अभीष्ट माने गए हैं। प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है।

(i) **प्रत्यक्ष प्रमाण**– प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए सांख्यकारिका में कहा गया है– प्रतिविषयाध्यवसायोः अर्थात् प्रत्येक विषय का इंद्रिय सन्निकर्ष होने पर जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। विषय शब्द का अर्थ है विषय का ज्ञान। शास्त्रों में दो प्रकार के विषय बताए गए हैं– (i) जिनके ज्ञान से मन के अतिरिक्त बाह्य इंद्रियों की भी अपेक्षा रहती है, जैसे घट, पट आदि। (ii) जिनके ज्ञान से नेत्र आदि बाह्य इंद्रियों की अपेक्षा न होकर केवल अंतः इंद्रिय मन की अपेक्षा रहती है, जैसे सुख–दुख आदि। प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है– (i) निर्विकल्प– इसमें हमें शुद्ध वस्तु का ही बोध होता है। (ii) सविकल्प– प्रत्यक्ष शाब्दिक प्रमाण है। इसमें वस्तु के नाम, जाति आदि का भी बोध होता है।

(ii) **अनुमान प्रमाण**– तल्लिंगलिंगिपूर्वकम् ज्ञानम् अनुमानम्। (सां. का., 5)

अर्थात् लिंग और लिंगी के ज्ञान के बाद होने वाले बुद्धि–व्यापार को अनुमान कहते हैं। लिंग हेतु को कहते हैं, जो व्याप्य होता है तथा लिंगी साध्य है जो व्यापक होता है अर्थात् व्यापक का पक्षधर्मता के साथ ज्ञान ही अनुमान है। इस प्रकार, अनुमान में जहां एक ओर व्याप्ति ज्ञान की अपेक्षा होती है, वहीं दूसरी ओर पक्षधर्मिता का ज्ञान भी अनिवार्य होता है। अनुमान प्रमाण के तीन प्रकार हैं–

'त्रिविधम् अनुमानम् आख्यातम्।'

पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट के रूप में अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का होता है। पूर्ववत् अनुमान वह होता है जिसका विषय या साध्य और उससे हेतु का व्याप्त होना पूर्व में प्रत्यक्षगोचर हो चुका है, जैसे– पर्वतादि में धूम से वह्नि का अनुमान। शेषवत् अनुमान वह है, जहां हेतु साध्य के द्वारा व्यतिरेक के रूप में व्याप्त हो। सामान्यतोदृष्ट अनुमान वह है, जिसका विषय या साध्य पूर्व में पूर्ववत् अनुमान के समान अपने विशेष रूप से दृष्ट

न होकर सामान्य रूप से दृष्ट होता है जैसे—किसी कार्य को देखकर उसके कर्ता का अनुमान या कारण का अनुमान।

(iii) **शब्द प्रमाण**— 'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु।' अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रमाण है। आप्त का तात्पर्य विश्वसनीय से है। आप्तश्रुति का तात्पर्य है वाक्य से उत्पन्न होने वाला वाक्यार्थ का यथार्थ ज्ञान।

स्वतंत्र रूप से प्रमाणभूत उक्त वाक्यार्थ ज्ञान अपौरुषेय वेद वाक्यों से उत्पन्न होने के कारण सभी दोषों की आशंका से मुक्त रहते हुए यथार्थ है। चूंकि आप्तवचन ही शब्द प्रमाण है, अतः श्रुति वाक्यों को शब्द प्रमाण समझा जाता है।

इस प्रकार सांख्य में अव्यक्त एवं पुरुष प्रमेयों की सिद्धि के लिए प्रमाणों के लक्षण दिए गए हैं। यहां पृथ्वी आदि व्यक्त को स्वरूपतः धूल—धूसरित पैरों वाला प्रत्यक्ष रूप से देखता है और पूर्ववत् अनुमान से धूमादि के दर्शन द्वारा अग्नि आदि के प्रत्यक्ष को भी वह जान लेता है। फलतः इन प्रमेयों का ज्ञान करने के लिए शास्त्र का विशेष प्रयोजन नहीं रहता है। अतः दुर्ज्ञेय या कठिनता से जानने योग्य प्रमेयों के विषय में ही शास्त्र को ज्ञात कराना है।

10. **ईश्वर**— सांख्य दर्शन पर अनीश्वरवादी होने का आक्षेप लगता रहा है। प्रथम आक्षेप तो यह है कि महर्षि कपिल ने प्रकृति को ही सृष्टि का कारण माना है, ईश्वर की चर्चा भी नहीं की है। दूसरा आक्षेप यह है कि सांख्य दर्शन प्रकृतिवादी है और सृष्टि के निर्माण में वह ईश्वर की महत्ता को नहीं मानता। महर्षि कपिल प्रणीत सांख्यसूत्र के तीसरे अध्याय में कहा गया है— अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् (सां. सू., 3/55) अर्थात् प्रकृति कार्य नहीं है, 'कारण' प्रधान है, फिर भी वह ईश्वर के वश में होने से कार्य करने में स्वतंत्र नहीं है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर जगत् का उपादान कारण भले ही न हो, किंतु जगत् की सृष्टि का निमित्त कारण अवश्य है। प्रकृति ने इस सृष्टि की रचना ईश्वर की प्रेरणा से की है। अतः, सृष्टि की रचना का उपादान भले ही प्रकृति हो, नियामक तो ईश्वर ही है। महर्षि ने इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा है—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता। (सां. सू., 3/56)

अर्थात्, वह ईश्वर ही सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा संपूर्ण विश्व का रचयिता है। वह सर्वत्र सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में स्थित होकर सृष्टि की रचना में लिप्त रहता है, इसीलिए वह जगत्नियंता है।

सांख्य में ईश्वर के अस्तित्त्व को दृढ़तापूर्वक सिद्ध करते हुए सांख्य प्रणेता कपिल कहते हैं—

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा। (सां. सू. 3/57)

अर्थात् इस प्रकार से ईश्वर के अस्तित्त्व को दृढ़तापूर्वक सिद्ध किया गया है। सांख्य दर्शन के प्रथम प्रवक्ता महर्षि कपिल ने ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारक न मानकर, जगत् के नियंता एवं अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार किया है। अतः सांख्य दर्शन को अनीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता।

अपनी प्रगति जांचिए

3. सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि किसके अवतार हैं?

   (क) शिव (ख) गणेश

   (ग) विष्णु (घ) ब्रह्मा

4. सांख्य दर्शन के अनुसार तत्त्वों की संख्या कितनी है?

   (क) 25 (ख) 24

   (ग) 22 (घ) 21

2.4 योग दर्शन

मनुष्य जीवन की सार्थकता त्रिविध दुःखों, क्लेशों, वासनाओं एवं अतृप्ति से मुक्त होकर पुरुषार्थ–चतुष्टय द्वारा सच्चिदानंद की प्राप्ति में है। भारतीय शास्त्रों में इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विभिन्न प्रकार के साधनों का उल्लेख है, जिनमें योग को उच्चतर माना गया है क्योंकि यह पूर्ण रूप से व्यावहारिक एवं क्रियात्मक है।

'योग' शब्द की दो व्युत्पत्तियां प्राप्त होती हैं– प्रथम 'युजिर् योगे' धातु में घञ् प्रत्यय से संपन्न योग शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है संश्लेषण अथवा मिलन अर्थात् जीव और ईश्वर के अद्वैत की अनुभूति अथवा जीवात्मा का परमात्मा से मिलन। 'योग' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति है 'युज् समाधौ' अर्थात् अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर समाधि की स्थिति में प्रतिष्ठित करना। इसी अवस्था में पहुंच कर चित्तवृत्तियों का निरोध संभव है जिससे परमात्मा के साथ मिलन की स्थिति बनती है।

महर्षि पतंजलि योग दर्शन के प्रवर्तक आचार्य हैं। इनका समय ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी माना गया है।

योग दर्शन के सिद्धांत

योग दर्शन के प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार है–

1. **चित्त का स्वरूप**– चित्त का कोशगत अर्थ है– अंतरिंद्रिय, अंतःकरण अथवा अनुसंधानकारिणी वृत्ति, मन, बुद्धि और अहंकार। योग दर्शन में बुद्धि, मन और अहंकार तीनों को मिलाकर चित्त का नाम दिया गया है। यह सत्वप्रधान प्रकृति का परिमाण है। प्रकृति के त्रिगुणात्मिका होने के कारण चित्त भी त्रिगुणात्मक है। चित्त के तीन प्रकार हैं– प्रख्याशील, प्रवृत्तिशील एवं स्थितिशील। चित्त अचेतन होते हुए भी अत्यंत सूक्ष्म है तथा पुरुष के प्रतिबिंब का ग्राही है। पुरुष के चैतन्य से प्रकाशित होकर अचेतन चित्त चेतन की तरह प्रतीत होता है और चित्त के संसर्ग से नित्य निराकार पुरुष साकार एवं सीमित प्रतीत होता है। यही पुरुष का बंधन है। चित्त से जब पुरुष चैतन्य का प्रकाश हट जाता है, तब वह चित्त की प्रकृति में लीन हो जाता है। यह पुरुष के बिंबग्राही चित्त का अवस्थान है।

2. **चित्त की अवस्थाएं**– चित्त की पांच अवस्थाएं होती हैं–

   (i) **क्षिप्तावस्था**– इस अवस्था में रजोगुण से प्रभावित चित्त अस्थिर रहता है एवं इंद्रियां अनियंत्रित हो जाती हैं, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार नहीं रहता।

   (ii) **मूढ़ावस्था**– तमोगुण से अभिभूत चित्त इस अवस्था में निद्रा, तंद्रा, आलस्य, प्रमाद एवं क्रोधादि के आवेश में रहता है। राक्षसों एवं मादक द्रव्यों के सेवन करनेवालों का चित्त ऐसा ही होता है।

   (iii) **विक्षिप्तावस्था**– चित्त में सत्वगुण का आविर्भाव होने से यह थोड़े समय के लिए किसी विषय में प्रवृत्त होता है, फिर विमुख हो जाता है। ऐसा चंचल चित्त देवपुरुषों तथा योग–जिज्ञासुओं का होता है।

   (iv) **एकाग्रावस्था**– इस अवस्था में चित्त बहिर्वृत्तियों का निरोध कर एक विषय पर केंद्रित हो जाता है। ऐसा चित्त प्रथम चरण के योगियों का होता है।

   (v) **निरुद्धावस्था**– इस अवस्था में चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता है। इसमें संस्कारमात्र शेष रह जाता है। यह योग की अंतिम अवस्था है। ऐसा चित्त केवल सिद्ध योगियों का होता है।

   चित्त की इन पांच अवस्थाओं में प्रथम तीन अवस्थाएं समाधि के लिए उपयुक्त नहीं होतीं, अंतिम दो अवस्थाओं में ही योग की सिद्धि संभव है।

3. **चित्त की वृत्तियां**– चित्त जब इंद्रियों के माध्यम से बाहरी विषयों के संपर्क में आता है अथवा मानसिक विषयों से स्वयं संपर्क में आता है, तब यह विषय का आकार ग्रहण कर लेता है। चित्त की इसी आकृति को 'वृत्ति' कहते हैं। चित्त के दो स्वरूप हैं– क्लिष्ट और अक्लिष्ट। राजस, तामस, प्रवृत्ति, परिताप, क्रोध और लोभादि वृत्तियां क्लिष्ट या दुःखदायी हैं। सात्विक एवं प्रसादादि वृत्तियां जो मोक्ष में सहायक होती हैं, उन्हें अक्लिष्ट कहा गया है।

   चित्तवृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं– (क) प्रमाण, (ख) विपर्यय, (ग) विकल्प (घ) निद्रा तथा (ङ) स्मृति।

   (क) **प्रमाण**– अनधिगत, अबाधित एवं अर्थविषयक ज्ञान के कारण को प्रमाण कहते हैं। सांख्य की तरह योग में भी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण हैं– **'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।'** (यो. सू. 1/7)।

   (ख) **विपर्यय– 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।'** (यो. सू. 1/8)।

   मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। रज्जु में सर्प तथा शुक्ति में रजत का ज्ञान विपर्यय है। इसी विपर्यय ज्ञान के कारण जड़ शरीर चैतन्य आत्मा की तरह प्रतीत होता है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश नाम से इसके पांच भेद हैं जो 'क्लेश' कहलाते हैं।

   (ग) **विकल्प– 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।'** (यो. सू. 1/9)।

   ऐसी चित्तवृत्ति जो शब्द के ज्ञान से बनती है और विषयगत वस्तु से शून्य हो, उसे विकल्प कहते हैं। जैसे– आकाश–कुसुम, गधे का सींग।

   (घ) **निद्रा– 'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।'** (यो. सू. 1/10)।

   अभाव के ज्ञान का अवलंबन करने वाली वृत्ति को निद्रा कहते हैं। यह त्रिगुणात्मक है।

(ङ) **स्मृति**– **'अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः।'** (यो. सू. 1/11)

पूर्व में अनुभव किए गए विषयों को न भूलना ही स्मृति है। यथार्थ और अयथार्थ नाम से स्मृति के दो भेद हैं।

4. **चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय**– महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध के दो उपाय बताए हैं– **'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'** (यो. सू. 12)। अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने मन को नियंत्रित करने के लिए अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता बताई है– **'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'** (गीता 6/35)। अभ्यास के द्वारा चित्त की अंतर्वृत्तियों का निरोध होता है और वैराग्य से बाह्य वृत्तियों का।

अभ्यास– **'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।'** (यो. सू. 1/13)। चित्त की स्थिरता के लिए किए जानेवाले प्रयास को अभ्यास कहते हैं। रजोगुण एवं तमोगुण वृत्तियों के कारण चित्त इंद्रिय–विषयों में आनंद की खोज करता हुआ चंचल बना रहता है। चित्त में जब सत्वगुण की प्रधानता होती है तो इसकी चंचलता दूर हो जाती है और यह शांत होकर आत्मधारा में मिल जाता है। चित्त की यही अवस्था 'स्थिति' कहलाती है। 'स्थिति' में बने रहने का जो यत्न होता है उसे अभ्यास कहते हैं। योग के आठ अंग यम, नियमादि अभ्यास के स्वरूप हैं।

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।' (यो. सू. 1/14) लंबे समय तक लगातार श्रद्धापूर्वक अभ्यास करने से वह सुदृढ़ हो जाता है। अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर बाह्य वृत्तियों का विपरीत प्रभाव नियंत्रित हो जाता है।

वैराग्य– **'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।'** (यो. सू. 1/15)। संसार में दृष्टिगोचर होनेवाले विषयों जैसे– रूप, रस, गंध, धन, स्त्री, राज–ऐश्वर्य आदि तथा महापुरुषों एवं वेद–शास्त्रादि द्वारा सुने गए विषयों जैसे– स्वर्गलोक, ऋद्धि–सिद्धि, दिव्य भोग व रस गंधादि में जब चित्त में किसी प्रकार का विकार न हो तो उसे 'वशीकार' संज्ञक अपर वैराग्य कहते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं– यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय एवं वशीकार। प्रथम तीन की सिद्धि के बाद 'वशीकार' वैराग्य की सिद्धि होती है, जिसका परिणाम संप्रज्ञात समाधि है।

विषयों को दुःख रूप मानकर उनके प्रति विराग का भाव ही वैराग्य है। यह दो प्रकार का है– 1. पर एवं 2. अपर। अपर वैराग्य एवं पर वैराग्य का लक्षण योगसूत्र में इस प्रकार दिया गया है– 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।' (यो. सू. 1/16)। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव ही पर वैराग्य है। ऐसा पुरुषख्याति (पुरुष के स्वरूप के ज्ञान) द्वारा संभव होता है, पर वैराग्य असम्प्रज्ञात समाधि का प्रतीक है।

5. **अष्टांगयोग**– सांख्य दर्शन की भांति योग में भी विवेकज्ञान को मुक्ति का साधन माना गया है। पुरुष जब अपने को प्रकृति से भिन्न समझ लेता है तब वह बंधनमुक्त हो जाता है, यह कैवल्य की स्थिति है। इसी विवेकज्ञान की प्राप्ति के लिए योग में आठ साधनों की विवेचना की गई है। इसलिए इसे अष्टांगयोग कहा गया है। इन आठ अंगों का पालन कर साधक चित्तवृत्तियों का निरोध कर कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार ये अष्टांगयोग हैं–

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।।

(यो. सू. 2/29)

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योग के अंग हैं, जिन्हें अष्टांगयोग के नाम से जाना जाता है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

(क) **यम**– यम योग का पहला अंग है जिसका तात्पर्य है शमन। हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन तथा परिग्रह का शमन ही यम है। योगसूत्र में कहा गया है– **अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।।** (यो. सू. 2/30) अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच प्रकार के यम हैं।

अहिंसा– 'तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनमिद्रोहः' अर्थात् किसी भी प्रकार से किसी को भी कोई कष्ट न पहुंचाना अहिंसा है।

सत्य– 'सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे यथा दृष्टं यथाश्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति।' अर्थात् जैसा देखा तथा सुना गया हो, वैसा ही मन तथा वाणी का भी होना 'सत्य' है। ऐसे सत्य में दृढ़स्थिति होने पर योगी की वाणी क्रियाफल का आश्रय बनती है– 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।"

अस्तेय– "स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्। तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपम् अस्तेयमिति।" अर्थात् शास्त्रानुकूल परतः दानादि ग्रहण करना 'अस्तेय' कहलाता है।

ब्रह्मचर्य– 'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियोपस्थस्य संयमः।" अर्थात् गुप्तेन्द्रियों के संयम का ही दूसरा नाम ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह– "विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणम् –परिग्रहः।" अर्थात् विभिन्न विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, आसक्ति तथा हिंसा आदि दोषदर्शन होने पर उसका परित्याग कर देना ही अपरिग्रह है।

(ख) **नियम**– सदाचार का पालन ही नियम है। **'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर–प्रणिधानानि नियमाः।'** अर्थात् शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर–प्रणिधान को ही पांच नियमों के नाम से जाना जाता है।

शौच– शुद्धि या पवित्रता ही शौच है। यह बाह्य और आंतरिक के भेद से दो प्रकार की है। इनमें मृत्तिका, जल आदि से पात्र, वस्त्र, स्थान तथा शरीर के अंगों को पवित्र बनाते हुए शुद्ध सात्विक, नियमित आहार ग्रहण करना बाह्य शौच है, जबकि मैत्री, करुणा तथा प्रसन्नता आदि के द्वारा मानसिक शुचि बनाए रखना आभ्यन्तर शौच है– **'तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याऽभ्यवहरणादि च बाह्यनम् आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्।"**

संतोष– "सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्थानुपादित्सा।" जितने साधनों से शरीर को धारण किया जा सकता है, उससे अधिक को ग्रहण करने की इच्छा का अभाव ही संतोष है।

तप– "तपो द्वन्द्वसहनम् द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे, स्थानासने, काष्ठमौनाकारमौने च।" अर्थात् भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों को सहना ही तप है।

स्वाध्याय– "स्वाध्यायः मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजयो वा।" अर्थात् मोक्षोपयोगी गीता–उपनिषदादि ग्रंथों का अध्ययन अथवा ऊँकार का जाप करना स्वाध्याय है।

ईश्वरप्रणिधान– "ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।" अर्थात् परमात्मा (परमगुरु) में सभी कर्मों को अर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान है।

(ग) **आसन– "स्थिरसुखमासनम्।"** अर्थात् जिसमें स्थिरता तथा सुख की प्राप्ति हो, उसे आसन कहा गया है, जैसे– पद्मासन, सिद्धासन आदि।

(घ) **प्राणायाम**– आसन सिद्धि के बाद श्वास–प्रश्वास की गति का विच्छेद ही प्राणायाम कहा गया है– **"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वास–योर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।"** इसके द्वारा शरीर की आंतरिक गति को पवित्र बनाया जाता है। प्राणायाम के अभ्यास से अविद्यादिक मलावरण जब क्षीण हो जाता है, तब प्रकाश का संचार हो जाता है।

(ङ) **प्रत्याहार– "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।"** अर्थात् इंद्रियों का अपने विषयों के साथ संयुक्त न होने पर चित्ताकार स्वरूप हो जाना ही प्रत्याहार है। इससे इंद्रियों का उत्कृष्ट वशीकरण होता है।

(च) **धारणा– "देशबन्धचित्तस्य धारणा"** अर्थात् चित्त को नासिका आदि किसी देश में एकाग्र करना ही धारणा है। तात्पर्य यह है कि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि के द्वारा जब चित्त स्थिर हो जाए, तब उसको अन्य विषयों से हटाते हुए किसी विशेष ध्येय में वृत्तिमात्र से बांधना या ठहराना ही 'धारणा' है।

(छ) **ध्यान– "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।"** अर्थात् नाभिचक्रादि स्थानों में जो ध्येयाकार चित्तवृत्ति की एकाग्रता होती है, वही 'ध्यान' कहलाती है। कहने का भाव है कि धारणा में चित्त जिस वृत्ति मात्र से ध्येय में लगता है, जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदय होती रहे कि कोई अन्य वृत्ति बीच में न आए, तो उसको ध्यान कहते हैं।

(ज) **समाधि– "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।"** अर्थात् ध्यान ही जब ध्येय स्वरूप का प्रकाशक होते हुए अपने स्वरूप से शून्य जैसा हो जाता है तब वह समाधि कहलाता है। यह समाधि सम्प्रज्ञात (सबीज) समाधि है जिसे सन्योग (निर्बीज समाधि) के अंग के रूप में स्वीकार किया जाता है।

धारणा, ध्यान और समाधि योग के आंतरिक अंग हैं; जबकि अष्टांगयोग के प्रथम पांच अंग– यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बाह्य अंग हैं। धारणा और ध्यान समाधि की प्राथमिक अवस्थाएं हैं। योग साधन के आंतरिक अंगों– धारणा, ध्यान और समाधि तीनों का किसी एक विषय में केंद्रित होना ही 'संयम' कहा जाता है।

6. **समाधि**– समाधि योग साधन की अंतिम सीढ़ी है। यह अष्टांगयोग का आठवां और अंतिम अंग है। योग दर्शन में समाधि का विशेष महत्व है। कभी–कभी इसे ही योग कह दिया जाता है– **"योगः समाधिः।"**

समाधि का अर्थ है– एकाग्र करना। इसमें मन को विक्षेपों से हटाकर एकाग्र किया जाता है। अष्टांगयोग में जहां प्रथम पांच योग के बाह्य साधन हैं, वहीं अंतिम तीन धारणा, ध्यान और समाधि अंतरंग साधन माने गए हैं। प्रथम पांच अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार योग के लिए वातावरण तैयार करते हैं, जबकि अंतिम तीन योग की आंतरिक सीढ़ियां हैं। ये तीनों अलग–अलग क्रियाएं नहीं हैं, बल्कि एक ही क्रिया के तीन सोपान हैं। धारणा में विषय विशेष पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। ध्यान में उस विषय पर ध्यान केंद्रित करने का सतत अभ्यास किया जाता है, जबकि समाधि की स्थिति में विषय का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। ध्यान की अवस्था में ज्ञाता की आत्म–चेतना बनी रहती है। उसकी अपनी चेतना होती है और उसे यह भी ज्ञान रहता है कि वह अमुक विषय पर ध्यान केंद्रित कर रहा है। दूसरे शब्दों में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद विद्यमान रहता है। समाधि की अवस्था में ज्ञाता की अपनी आत्म–चेतना भी नहीं होती, क्योंकि ज्ञाता ज्ञेय में पूरी तरह लीन हो जाता है। वह पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है। उसे अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान हो जाती है, वह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है, वह कभी दुःख नहीं भोगता।

योग दर्शन में समाधि को दो रूपों में रखा गया है, प्रथम अर्थ में समाधि एक मनोवैज्ञानिक क्रिया है तो दूसरे अर्थ में वह एक यौगिक क्रिया है। पहले अर्थ में समाधि निरोध की प्रक्रिया है, जिसमें चित्त की वृत्तियों का निरोध पाया जाता है। दूसरे अर्थ में समाधि चित्तवृत्ति निरोध का परिणाम है। इन दोनों अर्थों में कोई मौलिक विरोध नहीं है। इसमें एक साधन है और दूसरा साध्य है। समाधि की दो अवस्थाएं स्वीकार की गई हैं– (क) सम्प्रज्ञात समाधि तथा (ख) असम्प्रज्ञात समाधि।

(क) **सम्प्रज्ञात समाधि**– सम्प्रज्ञात समाधि में कोई–न–कोई स्थूल या सूक्ष्म रूप चित्त का आलंबन रहता है। बिना आलंबन के कोई भी ध्यान प्रारंभिक अवस्था में नहीं हो सकता। इस समाधि में संस्कारों का बीज या आलंबन बना रहता है जो फिर संसार की ओर ले जा सकता है, इसलिए इसे सबीज समाधि भी कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि के चार सोपान हैं–

सवितर्क समाधि– इस अवस्था में किसी स्थूल विषय (चंद्रमा, नासाग्र आदि) पर ध्यान केंद्रित किया जाता है।

सविचार समाधि– इस अवस्था में स्थूल भूतों के कारण पंचतन्मात्रा आदि सूक्ष्म विषयों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। स्थूल विषय के ज्ञान के बाद सूक्ष्म विषय पर ध्यान लगाया जाता है।

सानन्द समाधि– सूक्ष्म विषयों के बाद सूक्ष्मतर विषयों (इंद्रियों) पर ध्यान लगाया जाता है। इसमें एकादश इंद्रियों (मन, पांच ज्ञानेंद्रियों, पांच कर्मेंद्रियों) द्वारा प्राप्त अनुभूति आनंददायक होती है, इसलिए इस अवस्था को सानन्द समाधि कहते हैं।

सास्मित समाधि– यह समाधि की अंतिम तथा पूर्ण अवस्था है। यहां स्थूल या सूक्ष्म विषयों पर ध्यान न देकर साधक को अहंकार पर ध्यान लगाना पड़ता है। अहंकार अस्मिता है, इसलिए इसे सास्मित समाधि कहा जाता है। इस अवस्था में ध्येय विषय का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

(ख) **असम्प्रज्ञात समाधि**– सम्प्रज्ञात समाधि में कोई स्थूल या सूक्ष्म विषय चित्त के आलंबन के रूप में रहता है, परंतु असंप्रज्ञात समाधि में कोई भी आलंबन शेष नहीं रहता। यहां ध्यान का विषय अर्थात् ध्येय भी लुप्त हो जाता है। यहां चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है। यहां चित्त का कोई आधार या आलंबन नहीं रहता। इसलिए इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। इसमें पुरुष प्रकृति से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह प्रकृति या उसके विकारों से प्रभावित नहीं होता। वह सांसारिक बंधनों से पूर्णतः मुक्त होकर कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। इस स्थिति में योगी परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है और सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त हो जाता है।

बंधन की स्थिति में व्यक्ति आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों से पीड़ित रहता है। असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में त्रिविध दुःखों का नाश हो जाता है। जब साधक समाधि को प्राप्त कर लेता है तो उसे कुछ अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति होती है; परंतु योगसूत्र में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि योगाभ्यास का प्रमुख लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करना है, चमत्कारों का प्रदर्शन करना नहीं है।

7. **कैवल्य अथवा मोक्ष**– योग दर्शन में मोक्ष को कैवल्य कहा गया है। पुरुष का केवल स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना और उसका किसी अन्य से किसी भी प्रकार का संबंध न होना कैवल्य है। पतंजलि ने कैवल्य को परिभाषित करते हुए लिखा है– "पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपं प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।" (यो. सू. 4/34) अर्थात् जिनका पुरुष या आत्मा, के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना अथवा चितिशक्ति (द्रष्टा) का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है। गुणों की प्रवृत्ति के कारण ही पुरुष सांसारिक या मोक्ष की प्राप्ति हेतु प्रवृत्त होता है। इन्हीं कार्यों को करने के लिए गुण, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, मन, इंद्रियों एवं शब्दादि के रूप में परिणत होते हैं। जिस पुरुष (आत्मा) को ये गुण सांसारिक भोग पूर्ण करवाकर मुक्ति का संपादन कर देते हैं, उनके लिए गुणों का कोई कार्य नहीं रह जाता। अपने कार्य को पूरा करके गुण अपनी कारणावस्था में विलीन हो जाते हैं। अपने मूल कारण में गुणों का यह लय ही गुणों का कैवल्य है।

चितिशक्ति (द्रष्टा) जब अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, तो यह कैवल्य है। इसका अभिप्राय यह है कि योगी के चित्त की वृत्तियां जब रुक जाती हैं, तब वृत्तियों, उनके निरोध एवं समाधि के संस्कार का मन में विलय हो जाता है।

मन का अपने कारण अस्मिता (अहंकार) में, अस्मिता का महत्तत्व (बुद्धि) में और महत्तत्त्व का प्रकृति में लय हो जाता है। ऐसी स्थिति में चेतन आत्मतत्व का प्रकृति एवं प्रकृति से उत्पन्न महत् आदि तत्वों से कोई भी संबंध नहीं रहता और वह अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही कैवल्य की अवस्था है, जिसमें आत्मतत्व का साक्षात्कार कर योगी परमानंद का आस्वादन करता है।

8. **ईश्वर**– योग दर्शन में ईश्वर का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। ईश्वर की उपासना से ही समाधि की सिद्धि होती है और कैवल्य प्राप्त होता है। महर्षि पतंजलि कहते हैं– "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।" (यो. सू. 1/24) अर्थात् जो पंचक्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (पापकर्म, पुण्यकर्म, पुण्य–पाप से मिश्रित तथा पाप–पुण्य से रहित कर्मों), विपाक (सुख–दुःख, जाति, आयु, भोग आदि रूपी कर्मफलों) तथा आशय (चित्त में प्रसुप्त वासनाओं के संस्कार) से अछूता है और परम आत्मा है, वह ईश्वर है। क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से सभी आत्माओं का अनादिकाल से संबंध रहता है। मुक्त पुरुषों का भी कालांतर में इनसे संबंध रहा होता है, किंतु ईश्वर का संबंध इनसे कभी न था, न होगा, इसलिए वह 'पुरुषविशेष' है।

   ईश्वर निरतिशय है, उससे बढ़कर अन्य कोई नहीं है, कुछ भी नहीं है। वह ज्ञान–विज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य सबका कारण रूप है। सबकी पराकाष्ठा है। वह गुरुओं का भी गुरु है। वह ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश को प्रेरणा एवं प्रकाश देनेवाला है। वह काल से सीमित नहीं किया जा सकता। ईश्वर सृष्टि के पूर्व और महाप्रलय के पश्चात् भी हर स्थिति में विद्यमान रहता है। ऊँ (प्रणव) ईश्वर का वाचक है। ऊँकार को ईश्वर का स्वघोषित नाम माना जाता है। जिस स्थान पर मूल प्रकृति का ईश्वर से संबंध है, वहां 'ऊँ' की ध्वनि निरंतर गूंजती रहती है। ध्यान की स्थिति में योगीजन इस अनाहत नाद का श्रवणकर ब्रह्मानंद की अनुभूति करते हैं। यही ध्वनि शक्तिस्वरूपा होकर विभिन्न सांसारिक कार्यों को पूर्ण करती है। उस ऊँकार का जप और उसके अर्थ स्वरूप परमात्मा का चिंतन करने से समाधि लाभ होता है। इसके जप और चिंतन से चित्त की चंचलता दूर हो जाती है। जप से योग एवं योग से जप करने से एक विशिष्ट शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, जिससे परमात्मा का ज्ञान होता है। इसी का नाम ईश्वरप्रणिधान है।

   चित्त को परमात्मा के ध्यान में लगा देने से क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय क्रमशः क्षीण होने लगते हैं और सात्विक ज्ञान का उदय होता है। इस स्थिति में मात्र ईश्वर ही ध्येय रह जाता है। निरंतर अभ्यास से जैसे 'गौ' का उच्चारण करते ही उसके स्वरूप की स्मृति हो जाती है, वैसे ही ऊँकार के उच्चारण से ईश्वर की स्मृति हो जाती है। ईश्वर के नाम और स्वरूप का चिंतन करते रहने से योग पथ की बाधाओं का शमन होता रहता है और परमात्मा के साक्षात्कार का मार्ग सुगम हो जाता है। साधक अपनी उपासना में परमात्मा के जिन गुणों का ध्यान करता है, वे गुण साधक में भी समाविष्ट होते रहते हैं। नित्य, चैतन्य, कूटस्थ एवं क्लेशादि से रहित परमात्मा का ध्यान करने

से साधक को अपने निर्लिप्त, निर्विकार एवं क्लेशादिरहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. योग दर्शनकार महर्षि पतञ्जलि का समय कौन–सा माना गया है?

   (क) ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी (ख) ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी

   (ग) द्वितीय ईस्वी शताब्दी (घ) चतुर्थ ईस्वी शताब्दी

6. द्वन्द्वों को सहना क्या है?

   (क) सामर्थ्य (ख) तप

   (ग) साधना (घ) मोक्ष

2.5 न्याय दर्शन

महर्षि गौतम द्वारा प्रवर्तित दर्शन न्याय दर्शन कहलाता है। अनुमान प्रकरण में 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन' इन पांच अवयवों से युक्त न्यायवाक्य को प्रधानता देने के कारण इस दर्शन को न्याय दर्शन कहते हैं– पञ्चावयवोपेतवाक्यात्मको न्यायः।' (न्यायाभाष्य, 1.1.1) न्यायशास्त्र को 'आन्वीक्षिकी', 'हेतुविद्या' तथा 'न्यायविद्या' आदि नामों से भी जाना जाता है। न्याय दर्शन आध्यात्मिक समस्याओं का आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचन करता है। वैदिक धर्म के यथार्थ स्वरूप का अनुसंधान ही इसकी सर्वोच्च उपादेयता है।

दर्शनों के विकास काल में न्याय दर्शन की संरचना आस्तिक सिद्धांतों के विरुद्ध बौद्ध मतों के प्रहार के प्रतिषेध के रूप में हुई। न्याय दर्शन के प्रवर्तक आचार्य गौतम का स्थितिकाल ई.पू. छठी शताब्दी में मिथिला में माना जाता है। वायुपुराण के पूर्वखंड में गौतम के अक्षपाद नाम का उल्लेख मिलता है। न्याय दर्शन के विकास की धारा दो भागों में विभक्त है। प्रथम धारा पदार्थ–मीमांसात्मक है, जो महर्षि गौतम से आरंभ होती है तथा दूसरी धारा प्रमाण–मीमांसात्मक है, जिसके प्रवर्तक हैं आचार्य गंगेश उपाध्याय। इनके ग्रंथ का नाम 'तत्त्वचिन्तामणि' है। प्रथम धारा को प्राचीन न्याय और द्वितीय धारा को नव्य न्याय के नाम से जाना जाता है। नव्य न्याय की भाषा अत्यंत क्लिष्ट है। प्राचीन न्याय जहां वस्तु के बाह्य स्वरूप का स्थूल प्रतिपादन करता है, वहीं नव्य न्याय वस्तु के अंतस्तल में प्रवेश कर उस पर सूक्ष्म चिंतन को अभिव्यक्त करता है।

न्याय दर्शन के वर्ण्य–विषय

महर्षि गौतम का 'न्यायसूत्र' पांच अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में दो–दो आह्निक हैं, जिनके लगभग पांच सौ सूत्रों में सोलह पदार्थों के नामकरण, उनकी परिभाषा तथा परीक्षण किए गए हैं।

(क) पदार्थ विमर्श

मानव जीवन के परम लक्ष्य निःश्रेयस् की प्राप्ति हेतु तत्त्वज्ञान के साधन के रूप में न्याय दर्शन में सोलह पदार्थों का विवेचन किया गया है– **"प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन**

दृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा हेत्वाभासच्छलजाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।" (न्या. सू. 1.1.1) अर्थात् प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रह स्थान– इन सोलह पदार्थों को तत्त्व रूप से जान लेने पर सर्वविध कल्याण अर्थात् निःश्रेयस् की प्राप्ति सहजता से हो जाती है। इन षोडश पदार्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

1. **प्रमाण**– न्याय दर्शन के सोलह पदार्थों में प्रमाण प्रथम और प्रधान पदार्थ है। ज्ञेय विषय प्रमेय से भी पहले प्रमाण को स्थान दिया गया है क्योंकि अमुक विषय विचारणीय है अथवा नहीं, यह निर्णय उसे कसौटी पर कसे बिना नहीं लिया जा सकता। इसलिए प्रमेय को जानने से पूर्व प्रमाण को जानना आवश्यक है। मन और नेत्रादि ज्ञानेंद्रियों के द्वारा किया गया वह व्यवहार जिससे किसी भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष वस्तु का वास्तविक ज्ञान होता है, प्रमाण कहलाता है। न्याय दर्शन में प्रमाण के चार विभाग हैं– (1) प्रत्यक्ष प्रमाण, (2) अनुमान प्रमाण, (3) उपमान प्रमाण तथा (4) शब्द प्रमाण।

   प्रत्यक्ष प्रमाण– **"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।"** अर्थात् इंद्रियों एवं उसके विषय के संयोग से उत्पन्न, अव्यपदेश्य (न कहने योग्य), अव्यभिचारी (व्यभिचार के दोष से रहित) तथा व्यवसायात्मक (संदेह रहित) ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है, जैसे– अमुक व्यक्ति पढ़ रहा है, अमुक व्यक्ति जा रहा है। यह प्रमाण सभी प्रमाणों में सर्वोच्च एवं अटल माना जाता है।

   अनुमान प्रमाण– **"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च।"** अर्थात् अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का होता है– पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। कारण से कार्य का अनुमान होने पर, जैसे आम के वृक्ष को देखकर यह अनुमान करना कि इस पर आम के फल ही लगेंगे, पूर्ववत् अनुमान होता है। कार्य को देखकर जब कारण का अनुमान हो, जैसे पुत्र है तो पिता अवश्य होगा, तो उसे शेषवत् अनुमान कहेंगे और लक्षणों के आधार पर जब पदार्थ का अनुमान किया जाता है, तो उसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं। जैसे– चार पैर, सींग, पूंछ के बाल, उन्नत कंधा एवं गलकम्बल (सास्ना) से युक्त पशु को देखकर वृषभ (बैल) होने का अनुमान।

   उपमान प्रमाण– **"प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्।"** अर्थात् किसी प्रसिद्ध पदार्थ के सदृश लक्षण से युक्त पदार्थ की पहचान प्रसिद्ध पदार्थ का नाम लेने से हो जाए, तो उसे उपमान प्रमाण कहा जाता है। जैसे– **'यथा गौ तथा गवयः'** ऐसा जिसने सुन रखा है, वह जंगल में नीलगाय को देखकर पहचान जाता है।

   शब्द प्रमाण– **'आप्तोपदेशः शब्दः।'** अर्थात् आप्त पुरुषों का कथन ही शब्द नामक प्रमाण है। मोक्ष प्राप्ति के लिए साधनारत सिद्ध साधक पुरुष कभी असत्य कथन नहीं करते, इसलिए उनका कथन प्रामाणिक माना जाता है। इसके दो भेद हैं–दृष्टार्थ एवं अदृष्टार्थ।

2. **प्रमेय**– प्रमाण के माध्यम से जिन पदार्थों का ज्ञान होता है, उन्हें प्रमेय कहते हैं। न्याय दर्शन में बारह प्रमेय माने गए हैं जो तत्त्वज्ञान के लिए अनिवार्य हैं– (क) आत्मा, (ख) शरीर, (ग) इंद्रियां, (घ) अर्थ, (ङ) बुद्धि, (च) मन, (छ) प्रवृत्ति, (ज) दोष, (झ) प्रेत्यभाव, (ञ) फल, (ट) दुःख एवं (ठ) अपवर्ग।

   आत्मा चैतन्य तत्त्व है। यह समस्त इंद्रियों द्वारा ग्राह्य विषयों का अनुभव करने वाली, सबकी द्रष्टा व भोक्ता है। इसीलिए इसे सर्वज्ञ कहा जाता है। आत्मा के उपभोग का साधन **शरीर** है। शरीर में रहकर ही आत्मा अपने प्रारब्ध कर्म का भोग भोग पाती है। पंचभूतों से निर्मित घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा एवं श्रोत्र– ये पांच बाह्य **इंद्रियां** आत्मा के सुख–दुःखादि भोग की साधन हैं। इन इंद्रियों के विषय क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द आत्मा के भोक्तव्य विषय हैं। इन्हें **अर्थ** कहते हैं। **बुद्धि** के द्वारा आत्मा सुख–दुःख का अनुभव करती है। अंतरिंद्रिय **मन** विषयों के ग्रहण में साधन है। जिस इंद्रिय के साथ मन का संबंध होता है, आत्मा उसी इंद्रिय के विषय को ग्रहण करती है। शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाओं की प्रारंभिक अवस्था का नाम **प्रवृत्ति** है। व्यवहार में जितनी प्रवृत्तियां परिलक्षित होती हैं, उनका कारण राग, द्वेष, मोह आदि हैं। इन्हें ही **दोष** कहा गया है। आत्मा के देहग्रहण का निरंतर प्रवाह **प्रेत्यभाव** है। आत्मा को सुख–दुःख आदि के रूप में जो प्राप्त होता है, उसे **फल** कहते हैं। इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा **दुःख** का लक्षण है। न्यादर्शन ने सुख को दुःख के अंतर्गत ही माना है। कर्म के बंधनों एवं दुःखों से आत्मा के मुक्त होने की स्थिति को **अपवर्ग** कहते हैं। न्याय दर्शन में इसे ही निःश्रेयस् की संज्ञा भी दी गई है।

3. **संशय**– किसी वस्तु में दो भिन्न–भिन्न पदार्थों की समानधर्मिता पायी जाए किंतु उनकी भिन्नता को प्रमाणित करने के लिए कोई विशेष धर्म दिखाई न दे, तो संशय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जैसे– रज्जु में सर्प होने का भ्रम। संशय के अभाव में तर्क नहीं होता और किसी निर्णय पर नहीं पहुंचा जा सकता।

4. **प्रयोजन**– **"यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्।"** (न्या. सू. 1/1/24) अर्थात् व्यक्ति जिस अर्थ को लक्ष्य कर प्रवृत्त होता है, उसे प्रयोजन कहते हैं। न्याय दर्शन में आध्यात्मिक प्रयोजन दो हैं– पदार्थों का तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस्, जिसे परम लक्ष्य कहा गया है।

5. **दृष्टान्त**– सामान्य मनुष्य एवं ज्ञानी पुरुषों की बुद्धि जिस अर्थ–विषय में समान हो, उसे दृष्टांत कहते हैं। दृष्टांत के दो भेद हैं– साधर्म्य एवं वैधर्म्य। किसी ज्ञात अर्थ को पक्ष–प्रतिपक्ष के द्वारा तद्नुरूप ही ग्रहण करना दृष्टान्त है।

6. **सिद्धांत**– प्रमाण द्वारा सिद्ध हुए बाधारहित निर्णय को सिद्धांत कहा जाता है। सिद्धांत के तीन भेद हैं– तंत्र सिद्धांत, अधिकरण सिद्धांत तथा अभ्युपगम सिद्धांत। तंत्र सिद्धांत के भी दो विभाग हैं– (क) सर्वतंत्र सिद्धांत तथा प्रतितंत्र सिद्धांत।

7. **अवयव**– **"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।"** (न्या. सू., 1/1/32) अर्थात् 1. प्रतिज्ञा, 2. हेतु, 3. उदाहरण, 4. उपनय और 5. निगमन– ये पांच अवयव कहलाते हैं। न्याय वाक्य के वे समस्त सार्थक अंग अवयव कहलाते हैं,

जिनसे परार्थानुमान की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। न्याय दर्शन के प्रधान पदार्थ प्रमाण के दूसरे भेद अनुमान के दूसरे प्रकार परार्थानुमान में प्रयुक्त होने वाले उपर्युक्त पांच वाक्यों को अवयव कहते हैं–

- **प्रतिज्ञावाक्य** : पर्वत में अग्नि विद्यमान है। (शब्द प्रमाण)
- **हेतुवाक्य** : पर्वत में धूम उठने के कारण। (अनुमान प्रमाण)
- **उदाहरणवाक्य** : रसोईघर की भांति, जहां धुएं के साथ आग का रहना देखा जाता है। (प्रत्यक्ष प्रमाण)
- **उपनय** : जहां धुआं है, वहां आग है, इस तरह के अविनाभाव संबंध से युक्त धुआं पर्वत में है। (उपमान प्रमाण)
- **निगमन** : इसलिए पर्वत में अग्नि विद्यमान है– इस वाक्य में एक ही विषय के अंतर्गत सभी प्रमाणों की सामर्थ्य दृष्टिगोचर होती है। इन पांच वाक्यों में न्याय दर्शन के सभी प्रमाण समाविष्ट हैं। इस तरह, पांच वाक्यों के समवाय को 'परमन्याय' कहते हैं। इसे 'पंचावयववाक्य' भी कहते हैं।

8. **तर्क**– जब किसी पदार्थ का यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं होता, तब उस वस्तु के विषय के तत्त्वज्ञान के निमित्त जिन विभिन्न प्रकार के तर्कों व कारणों की कल्पना की जाती है, उसे तर्क कहते हैं।
9. **निर्णय**– संशय के उत्पन्न होने पर तर्क द्वारा विचार करने के पश्चात् पक्ष–प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ–विषय का निर्धारण 'निर्णय' कहा जाता है– **"विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः।"** (न्या. सू. 1/1/41)
10. **वाद**– तत्त्व की जिज्ञासा हेतु दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच में पक्ष एवं विपक्ष के रूप में किया जानेवाला विचार विनिमय वाद कहलाता है। इसमें किसी प्रकार का पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह नहीं होता।
11. **जल्प**– वाद का लक्ष्य जय–पराजय नहीं होता, वरन् दोनों पक्षों द्वारा सत्यासत्य के निर्णय की पुष्टि ही की जाती है, किंतु पक्ष एवं प्रतिपक्ष द्वारा स्थापित अपने–अपने मतों की भले–बुरे तर्कों से किसी भी तरह सिद्ध कर जय–पराजय का निर्णय 'जल्प' कहलाता है। जल्प में असत्य पक्ष की भी जीत के लिए छल, जाति, मिथ्याप्रवचन आदि सभी तरह के उपक्रमों का प्रयोग किया जाता है।
12. **वितण्डा**– अपने पक्ष की स्थापना किए बिना परपक्ष के कथन का प्रतिषेध करते जाना वितण्डा कहलाता है। वाद, जल्प तथा वितण्डा के समूह को 'कथा' कहते हैं।
13. **हेत्वाभास**– जिसमें वास्तविक हेतु न हो, लेकिन हेतु के समान आभास हो उसे हेत्वाभास कहते हैं। इसके पांच विभाग हैं– सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम तथा कालातीत।
14. **छल**– **'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्या छलम्।'** (न्या. सू. 1/2/10) अर्थात् विषय का उपपादन करने वाले के भावों के विभिन्न प्रकार के काल्पनिक अर्थों द्वारा उसके कथन का खंडन करना 'छल' कहलाता है। छल तीन प्रकार के होते हैं– वाक्छल, सामान्य छल एवं उपचार छल।

15. **जाति**— साधर्म्य एवं वैधर्म्य के माध्यम से किसी पक्ष के कथन के किसी प्रसंग को दोष के रूप में प्रस्तुत करना जाति कहलाता है। न्यादर्शन में जाति के चौबीस प्रकार बताए गए हैं।

16. **निग्रहस्थान**— अभिमत से विपरीत या अवांछित ज्ञान का कथन करना और अपने मत के संबंध में अज्ञान के कारण मौन रह जाना ही निग्रह स्थान कहलाता है। निग्रहस्थान के बाइस भेद माने गए हैं।

न्याय दर्शन में विवेचित इन सोलह पदार्थो के सम्यक् ज्ञान के द्वारा निःश्रेयस् की प्राप्ति को मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य माना गया है।

(ख) ईश्वर

नव्य नैयायिकों ने ईश्वर में आठ गुण माने हैं— संख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न। न्याय दर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ईश्वर में लिंग के रूप में ज्ञान की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर में जीवात्मा के समान सुख और दुःख नहीं है। वह तो नित्य आनंद स्वरूप है, श्रुति भी उसे ऐसा ही स्वीकार करती है।

उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमांजलि में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए नौ तर्क दिए हैं, जो इस प्रकार हैं—

"कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।"

कार्यात्— कार्य, आयोजन, धारणा, पारस्परिक कार्यकुशलता, प्रामाणिकता, श्रुति, उसके वाक्य, संख्या इन कारणों से एक अत्यन्त सर्वज्ञ सत्ता की स्थिति प्रमाणित होती है अर्थात् यदि विश्व एक कार्य है तो इसका एक कर्ता भी होना चाहिए।

तर्कदीपिका में कर्तृत्व की यह परिभाषा दी है— "उपादानगोचर परोक्षज्ञान—चिकीर्षाकृतिमत्त्वम्।" अर्थात् कर्ता को उपादान कारण का साक्षात् ज्ञान होना चाहिए, कार्य की इच्छा होनी चाहिए और कार्यानुकूल प्रयत्न होना चाहिए। ज्ञान, इच्छा और कृति परस्पर संबद्ध हैं। जगत् एक सावयव पदार्थ है अतः उसकी कभी न कभी उत्पत्ति अवश्य हुई होगी। इसका कोई न कोई निमित्त कारण भी अवश्य होगा। इसका निमित्त कारण सर्वज्ञ चेतन ईश्वर ही हो सकता है क्योंकि वही सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ एवं शाश्वत सत्ता है। इसे ही कारणता मूलक प्रमाण कहा जाता है।

आयोजनात्— परमाणु स्वभावतः निष्क्रिय है। सृष्टि के आरंभ काल में ईश्वर ही अचेतन एवं निष्क्रिय परमाणुओं में गति प्रदान करता है जिसके कारण सृष्टि होती है। इस रूप में यहां भी ईश्वर को आदि गति प्रदानकर्ता के रूप में स्वीकार किया गया है।

धृत्यादे— धृति का अर्थ है— धारण करना। इस जगत् को धारण करने के लिए अर्थात् जगत् को बनाए रखने के लिए तथा इसके संहार के लिए चेतनकर्ता और संहर्ता आवश्यक है। यह ईश्वर हैं।

पदात्— पदों में अपने अर्थों को अभिव्यक्त करने की शक्ति ईश्वर से ही आती है।

प्रत्ययतः— वेद ईश्वर द्वारा कहे गये वचन हैं, अतः इनका प्रामाण्य असंदिग्ध है। इससे सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

श्रुतेः— वेद सत्य और यथार्थ ज्ञान के स्रोत हैं। वेद ईश्वर की सत्ता और स्वरूप का वर्णन करते हैं। अतः ईश्वर है।

वाक्यात्— वेदों को अपौरुषेय माना गया है अर्थात् वे किसी मनुष्य की कृति नहीं हैं। ईश्वर जो पूर्ण, सर्वज्ञ और अनंत है वही सत्य ज्ञान का स्रोत वेदों का रचयिता है।

संख्याविशेषात्— सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व परमाणु अलग—अलग व निष्क्रिय रहते हैं। उनके सम्मिलन से ही त्रयणुक आदि की रचना होती है। यह संख्या ज्ञान केवल ईश्वर का ही है, जो परमाणुओं की निश्चित संख्या में सम्मिलन से इनकी रचना करता है।

इनके अलावा 'अदृष्ट' का कारण भी ईश्वर को माना गया है जिसका अर्थ है— 'मनुष्यों के पाप—पुण्य कर्मों का भंडार', इसके अनुसार फल देने वाला ईश्वर ही है।

यह ईश्वर ही विश्व का आदि स्रष्टा, पालनकर्ता और संहारक है। ईश्वर एक, अनंत, नित्य, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। ईश्वर अनन्त गुणों से युक्त है, जिनमें छः गुण प्रधान हैं। इन छः गुणों को 'षडैश्वर्य' कहा जाता है। ये हैं— आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान व वैराग्य। ये गुण ईश्वर में पूर्ण रूप से व्याप्त हैं।

न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर जीवों के कर्मानुसार जगत् की सृष्टि और जीवों के सुख—दुःख का विधान करते हैं। पुनः ईश्वर की दया से ही जीवात्मा वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष का अवग्रहण कर सकता है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. महर्षि गौतम के न्यायसूत्र कितने अध्यायों में विभक्त हैं?

   (क) तीन (ख) पांच

   (ग) सात (घ) आठ

8. न्याय दर्शन में प्रथम पदार्थ क्या है?

   (क) प्रमाण (ख) प्रमेय

   (ग) प्रमाता (घ) अवयव

2.6 वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद हैं। भारतीय दर्शन की इस धारा के नामकरण के विषय में अनेक तरह के मत हैं। वैशेषिक सूत्र के भाष्यकार चन्द्रकान्त तर्कालंकार के अनुसार अन्य दर्शनों की अपेक्षा इस दर्शन में विशिष्ट तत्त्वों का विनिवेश कर उनकी व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण इसका नाम वैशेषिक पड़ा। सर्वमान्य मत यह है कि 'विशेष' नामक पदार्थ को मान्यता देने के कारण ही इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा।

वैशेषिक दर्शन का इतिहास– वैशेषिक सूत्रों की रचना का काल निर्धारण असंदिग्ध रूप से नहीं किया गया है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख 'मिलिन्दपञ्ह' नामक बौद्ध ग्रंथ में प्राप्त होता है। राजा मिलिन्द का समय 150 ई. पू. माना जाता है। जर्मन विद्वान् प्रो. जैकोबी वैशेषिक का समय 200 ई. पू. से पहले का मानते हैं। डॉ. कुप्पूस्वामी शास्त्री के अनुसार वैशेषिक सूत्रों की रचना का समय 400 ई. पू. के करीब होना चाहिए। विद्वानों ने वैशेषिक दर्शन को न्याय दर्शन की अपेक्षा प्राचीन माना है।

वैशेषिक के प्रतिष्ठापक महर्षि कणाद को कश्यप मुनि का पुत्र कहा गया है। इनके संबंध में प्रसिद्ध है कि किसान द्वारा खेतों की फसल काट लिए जाने पर जो अनाज के कण खेतों में रह जाते थे, उन्हें खाकर ही ये अपना गुजारा करते थे। इसलिए इनका नाम कणाद पड़ा– 'कणान् अत्ति इति कणादः'। इनके द्वारा रचित 'वैशेषिक सूत्र' में 300 से 400 तक (भिन्न–भिन्न संस्करणों में) सूत्र पाए जाते हैं। यह ग्रंथ दस अध्यायों में विभक्त है तथा प्रत्येक अध्याय में दो–दो आह्निक हैं। इसके प्रथम अध्याय में द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य का विवेचन, द्वितीय और तृतीय अध्याय में नौ द्रव्यों का, चतुर्थ अध्याय में परमाणुवाद तथा अनित्य द्रव्यविभाग, पंचम अध्याय में कर्म, षष्ठ अध्याय में वेदप्रामाण्य व धर्माधर्म, सप्तम–अष्टम में गुण, नवम में अभाव एवं ज्ञान तथा दशम में सुख–दुख विभेद व त्रिविध कारणों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

वैशेषिक सूत्रों पर सबसे प्राचीन भाष्य 'रावणभाष्य' है, किंतु यह ग्रंथ रूप में उपलब्ध नहीं है। यत्र–तत्र उद्धरणों द्वारा ही इस ग्रंथ का उल्लेख मिलता है। वैशेषिक दर्शन का आकर ग्रंथ कहा जाने वाला 'पदार्थधर्मसंग्रह' के प्रणेता हैं– आचार्य प्रशस्तपाद। इस ग्रंथ में परमाणुवाद, प्रमाण, जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलय और गुणों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। व्योमशिवाचार्य अथवा व्योमकेशी वैशेषिक दर्शन के एक प्रमुख आचार्य थे। ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। इन्होंने प्रशस्तपादभाष्य की 'व्योमवती टीका' की रचना की। वैशेषिक दर्शन के कुछ अन्य प्रमुख आचार्य एवं उनके ग्रंथ हैं– उदयनाचार्य की लक्षणावली, शिवादित्य की लक्षणमाला तथा सप्तपदार्थी। मिथिला प्रांत के दरभंगा मंडल के शंकर मिश्र वैशेषिक के प्रकांड विद्वान थे। इन्होंने वैशेषिक सूत्र पर 'उपस्कार' एवं प्रशस्तपाद भाष्य पर 'कणादरहस्य' नामक टीका की रचना की। वैशेषिक दर्शन पर इन्होंने 'भेदरत्नप्रकाश' नामक एक मौलिक ग्रंथ की भी रचना की है।

वैशेषिक दर्शन का वर्ण्य विषय– वैशेषिक दर्शन में संसार की सृष्टि परमाणुओं से मानी गई है। परमाणुओं के पारस्परिक संयोग से ही विभिन्न प्रकार के पदार्थों की रचना होती है और सृष्टि का उद्भव होता है। जब ये परमाणु एक–दूसरे से अलग हो जाते हैं तो वह प्रलय का काल होता है। महर्षि कणाद ने सृष्टि की संरचना के लिए द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय– इन छह पदार्थों को महत्वपूर्ण माना है। वैशेषिक दर्शन में इन्हीं पदार्थों की विवेचना की गई है। इस संसार में यही छह पदार्थ सर्वत्र व्याप्त हैं। द्रव्य के अंतर्गत पंचमहाभूत, दिक् एवं काल, मानव आत्मा प्रभृति सूक्ष्म तत्त्व आते हैं। चौबीस प्रकार के गुण भी इन्हीं द्रव्यों में पाए जाते हैं। इन्हीं गुणों से द्रव्यों में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं की उत्पत्ति होती है। द्रव्य के आश्रय में ही ये गुण रहते हैं, गुणों की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। इन सभी पदार्थों के विस्तृत विवेचन के उपरांत सार रूप में यह कहा गया है कि शरीर में रहने

वाले जीवात्मा का समानधर्मी तत्त्व वस्तुतः धर्म ही है। द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थों के ज्ञान से साद्धर्म्य और वैधर्म्य को जानना सरल हो जाता है। इनका ज्ञान हो जाने के बाद जागतिक दुःखों से मुक्ति हो जाती है।

वैशेषिक दर्शन की विशेषता– कतिपय विशिष्टताओं के कारण ही महर्षि कणाद प्रवर्तित दर्शन को वैशेषिक की संज्ञा दी गई है। वैशेषिक दर्शन में जिन तीन पदार्थों की विस्तृत विवेचना हुई है, वे हैं– द्रव्य, गुण और कर्म। सांसारिक पदार्थों के स्वरूप के विवेचन के अवसरों पर भी धर्मयुक्त जीवन जीने के लिए जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है, उनका आधार मुख्य रूप से यही तीनों पदार्थ हैं। इन सिद्धांतों का व्यावहारिक प्रयोग मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य निःश्रेयस् एवं अभ्युदय की प्राप्ति में सहायक है।

- **धर्मयुक्त कर्म ही निःश्रेयस् का साधन**– वैशेषिक दर्शन में सांसारिक कर्मों के साथ–साथ धार्मिक कर्मों को विशेष महत्ता दी गई है। धर्म स्वरूप कर्म ही मानव जीवन के चरम लक्ष्य निःश्रेयस् एवं अभ्युदय की प्राप्ति कराता है– 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः।' (वै. सू. 1/1/2)। पात्र–अपात्र के संबंध में विचार करके तथा धन की पवित्रता–अपवित्रता के बारे में सोच–समझकर बुद्धिपूर्वक दान देना और लेना चाहिए।
- **वर्णानुकूल कर्तव्यपालन का निर्देश**– वैशेषिक दर्शन में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के लिए वेदविहित कर्मों के पालन का निर्देश किया गया है। ब्राह्मण का कर्म पठन–पाठन, यज्ञ कराना एवं समाज को सुसंस्कृत बनाने के लिए लोगों को शिक्षा प्रदान करना था। क्षत्रियों के लिए निर्देश है कि नीतियों का पालन करते हुए धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करें। अपनी अंतिम सांस तक अन्याय का प्रतिकार करने के लिए युद्ध करने से पीछे नहीं हटें।
- **आहार की शुद्धता पर बल**– वैशेषिक दर्शन में आहार की शुद्धता पर बल दिया गया है। अभ्युदयकारक फल दुष्ट (हिंसायुक्त) भोजन से नहीं प्राप्त होता– **'तद्दुष्टभोजने न विद्यते'** (वै. सू. 6/1/6)। इतना ही नहीं; दोषपूर्ण भोजन करने वाला एवं करानेवाला दोनों ही दोषी माने गए हैं– 'तस्य समभिव्याहारतो दोषः' (6/1/8)। आहार शुद्धि के प्रबल समर्थक महर्षि कणाद स्वयं खेतों में अवशिष्ट अन्न कणों का ही आहार करते थे।

पदार्थ विमर्श– पदार्थ की परिभाषा अन्नंभट्ट कृत तर्कदीपिका में दी गई है, 'जो वाणी का विषय हो सके, उसे पदार्थ कहते हैं'। पदार्थ पद में 'अर्थ' पद का अर्थ– 'ऋच्छन्ति इन्द्रियाणि यं सोऽर्थः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पदार्थ 'ज्ञान का विषय' है। वस्तुतः यथार्थ रूप में कोई भी पदार्थ जो ज्ञान का विषय है, वाणी का विषय अवश्यमेव होता है।

वैशेषिक दर्शन में परिगणित पदार्थ केवल बुद्धिगत न होकर यथार्थ हैं। ये पदार्थ हैं– (क) द्रव्य, (ख) गुण, (ग) कर्म (घ) सामान्य, (ङ) विशेष (च) समवाय तथा (छ) अभाव।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में सात पदार्थों को बताते हुए कहा गया है–

"द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायस्तथाभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः।।

(क) द्रव्य– द्रव्य नौ माने गए हैं–

"क्षित्याप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः।
द्रव्याण्यथ गुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम्।।

द्रव्य वह है जो गुण और कर्म का आधार तथा अपने कार्य का समवाय कारण हो–

'क्रियागुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्।'

गुण और कर्म निराधार नहीं रह सकते। वे हमेशा किसी द्रव्य में ही रहते हैं। द्रव्य अपने कार्यों का समवाय कारण भी होता है, जैसे तंतु पट का समवायिकारण है। नौ प्रकार के द्रव्य निम्नलिखित हैं– (i) पृथ्वी, (ii) जल, (iii) तेज, (iv) वायु, (v) आकाश, (vi) काल, (vii) दिक् (viii) आत्मा, (ix) मन।

इनमें से प्रथम पांच– पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पंचमहाभूत कहलाते हैं। पृथ्वी का विशेष गुण है गंध, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द। पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये द्रव्य कारण रूप में नित्य और कार्य रूप में अनित्य हैं। ये चारों अपने मूल रूप में नित्य परमाणुरूप हैं। लेकिन परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न सावयव कार्य विघटनशील है। आकाश परमाणु रूप नहीं है, बल्कि विभु और एक है।

काल भी आकाश के समान एक, नित्य और विभु है। यह अखंड है, किंतु व्यवहार में इसके खंडों की कल्पना कर ली जाती है। भूत, भविष्य, वर्तमान, प्राचीन, अर्वाचीन आदि का आधार काल है।

दिक् भी एक, नित्य और विभु है। किंतु व्यवहार में इसके भी अनेक सोपाधिक भेद किए जाते हैं। यहां, वहां, निकट दूर आदि प्रत्ययों का आधार दिक् है।

आत्मा अनेक है और प्रत्येक, नित्य, स्वतंत्र और विभु है। यह चैतन्य का आधार है, पर चेतना या ज्ञान इसका आगंतुक धर्म है। आत्मा के अन्य गुण इच्छा, सुख, दुख, प्रयत्न आदि हैं। अलग–अलग शरीरों में अलग–अलग जीवात्मा रहते हैं।

मन नित्य और अणुरूप है। यह आंतरिक इंद्रिय है। मन का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके कार्यों से ही उसका अनुमान किया जाता है। अणुरूप होने के चलते मन एक बार में एक ही इंद्रिय या एक ही मनोभाव से संपर्क कर सकता है।

(ख) गुण– गुण का लक्षण देते हुए कहा गया है कि गुण वह पदार्थ है जो द्रव्य पर आश्रित रहता है और जिसमें और कोई गुण या कर्म नहीं रह सकता। सभी गुण द्रव्याश्रित होते हैं इसलिए गुण का गुण नहीं हो सकता। गुण केवल गौण रूप से उपादान में रहकर कार्य के होने में सहायक हो सकता है। अतः गुण केवल असमवायी कारण ही हो सकता है। गुण में क्रिया या गति नहीं होती। वह द्रव्य में निष्क्रिय रूप से समवेत होकर स्थित रहता है।

कणाद ने केवल 17 प्रकार के गुणों का उल्लेख किया है। उनमें प्रशस्तपाद ने सात और गुणों को जोड़कर गुणों की संख्या 24 कर दी है। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न कुछ प्रमुख गुण हैं।

(ग) कर्म– द्रव्य के मूल गतिशील धर्मों का पारिभाषिक नाम कर्म है। गुण जहां द्रव्य का निष्क्रिय स्वरूप है वहीं कर्म उसका सक्रिय रूप। कर्म द्रव्यों के संयोग और वियोग

का कारण होता है। कर्म का कोई गुण नहीं हो सकता क्योंकि गुण केवल द्रव्य ही में आश्रित रह सकता है। कर्मों का आधार सर्वव्यापी द्रव्य नहीं है। कर्मों का आधार केवल मूर्त द्रव्यों में ही हो सकता है। कर्म पांच प्रकार के हैं– उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन।

सभी प्रकार के कर्म प्रत्यक्ष नहीं हो सकते। हमें गोचर द्रव्यों की गति का ज्ञान हो सकता है परंतु मन इत्यादि अगोचर द्रव्य की गति का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकता।

(घ) सामान्य– सामान्य वह पदार्थ है जिसके कारण एक वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों को एक जाति के अंतर्गत रखा जाता है। जैसे राम, मोहन आदि विभिन्न मनुष्यों में पाया जाने वाला मनुष्यत्व, विभिन्न गौओं में पाया जाने वाला गोत्व। वस्तुवादी होने के कारण वैशेषिक दर्शन सामान्य की वस्तुगत सत्ता स्वीकार करता है।

सामान्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि "जो नित्य है, एक है और अनेक में अनुगत है वह सामान्य है। सामान्य दो प्रकार का है– पर सामान्य–सबसे अधिक विस्तार वाला, अपर सामान्य– सबसे कम विस्तार वाला।

(ङ) विशेष– "अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिविशेषैः" नित्य एवं निरवयव द्रव्यों का विशिष्ट व्यक्तित्त्व ही विशेष है। विशेष के कारण ही वे एक–दूसरे से भिन्न रूप से पहचाने जाते हैं। विशेष अन्य सभी पदार्थों से भिन्न है। यह न तो द्रव्य है, न कर्म, न सामान्य और न ही समवाय। इसे किसी भी अन्य पदार्थ में अंतर्भूत नहीं किया जा सकता। इसी कारण विशेष को स्वतंत्र पदार्थ कहा जाता है। पुनः विशेष उन नित्य द्रव्यों में पाया जाता है जो वास्तविक हैं। अतः विशेष भी वास्तविक है। वास्तविक होने से इसे स्वतंत्र पदार्थ मानना स्वाभाविक है।

विशेष, नित्य, अनन्त और व्यावर्तक है।

(च) समवाय– समवाय एक नित्य और अपृथक्करणीय संबंध है, जो दो अयुतसिद्ध वस्तुओं में होता है। दो वस्तुओं का वैसा संबंध अयुतसिद्ध कहलाता है, जब उनमें से कम से कम एक–दूसरे के बिना नहीं रह सकता हो। उनमें एक वस्तु आधार होती है, दूसरी आधारित। द्रव्य और गुण में, द्रव्य और कर्म में, सामान्य और व्यक्ति में, नित्य द्रव्य और विशेष में तथा अवयव और अवयवी में समवाय संबंध है।

यह स्थायी, आंतरिक और अनिवार्य संबंध है।

(छ) अभाव– छः भाव पदार्थों के अलावा अभाव 7वां पदार्थ है। इसे एक पदार्थ के रूप में परवर्ती वैशेषिकों ने मान्यता दी है। "किसी स्थान विशेष और किसी काल विशेष में किसी वस्तु का न होना ही अभाव कहलाता है।" अभाव का शाब्दिक अर्थ है 'न' शब्द से संकेतित किया जाने वाला ज्ञान। शिवादित्य ने अभाव को परिभाषित करते हुए कहा है–

"प्रतियोगी ज्ञानाधीन ज्ञानोऽभावः।"

अर्थात् जिसका ज्ञान उसके प्रतियोगी के ज्ञान पर निर्भर करता है।

अभाव दो प्रकार का होता है– (अ) संसर्गाभाव, (ब) अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव का अर्थ है– एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव, अग्नि में शीतलता का अभाव। अन्योन्याभाव

का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु में नहीं होना, जैसे अग्नि जल नहीं है। संसर्गाभाव तीन प्रकार का है– प्रागभाव– किसी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कारण में उसका अभाव।

प्रध्वंसाभाव– कार्य के विनाश के बाद उसका अभाव।

अत्यन्ताभाव– दो वस्तुओं में संबंध का त्रैकालिक अभाव। संसर्गाभाव में दो वस्तुओं के मध्य संबंधों का निषेध, जबकि अन्योन्याभाव में दो वस्तुओं में तादात्म्य का निषेध किया जाता है।

परमाणुवाद कारण– वैशेषिक दर्शन भौतिक जगत् की व्याख्या परमाणुवाद या परमाणु कारणवाद के आधार पर करता है। उसके अनुसार भौतिक जगत् के मूल में असंख्य, नित्य और निरवयव परमाणु हैं। वैशेषिक दर्शन परमाणुओं के आधार पर ही विश्व की सृष्टि और प्रलय की व्याख्या करता है, इसलिए इनका सृष्टि संबंधी सिद्धांत परमाणुवाद कहलाता है।

परमाणु अतीन्द्रिय, निरवयव, अविभाज्य और नित्य होते हैं। गोल या परिमंडल होते हैं। परमाणु प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं। उनकी सत्ता का अनुमान दृश्य भौतिक वस्तुओं की विभाज्यता से किया गया है। वैशेषिकों का तर्क है कि एक ऐसी अवस्था जरूर होनी चाहिए जिसके बाद वस्तु का विभाजन नहीं हो सकता। यदि सभी वस्तुएं अनन्त रूप से विभाज्य हों तो उनमें जो परिणाम भेद दिखाई देता है उसकी व्याख्या कठिन हो जाएगी। विभाजन की प्रक्रिया की अंतिम अवस्था में परमाणु प्राप्त होते हैं।

परमाणु चार प्रकार के हैं– 1. पार्थिव, 2. जलीय, 3. तैजस और 4. वायवीय। इनमें प्रत्येक के असंख्य परमाणु हैं। केवल आकाश ही ऐसा भूत है जिसके परमाणु नहीं होते। आकाश विभु, एक और नित्य है। वह परमाणुओं के संयोग और वियोग के लिए अवकाश प्रदान करता है। प्रत्येक नित्य परमाणु में अपना विशेष गुण होता है जो इसे अन्य परमाणुओं से अलग करता है। परमाणुओं में गुणात्मक और संख्यात्मक भेद भी होते हैं। वायु के परमाणु सूक्ष्मगत हैं जिसमें स्पर्शगुण रहता है। तैजस परमाणुओं में रूप और स्पर्श रहते हैं। जल के परमाणु में रूप, रस और स्पर्श गुण होते हैं। पृथ्वी के परमाणुओं में गंध, रस, रूप और स्पर्श चारों गुण पाए जाते हैं।

परमाणु स्वभावतः निष्क्रिय हैं। वैशेषिक के अनुसार परमाणुओं में आद्यस्पन्दन या गति का सूत्रधार ईश्वर है जो जीवों के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिए परमाणुओं को गतिशील बनाता है। प्रत्येक संसारी जीव का अपना अदृष्ट होता है जिसमें उसके अच्छे और बुरे कर्मों के संस्कार संचित रहते हैं। जीवात्मा की कर्मफल भोग के लिए सृष्टि होती है। इस प्रकार वैशेषिक का परमाणुवाद अध्यात्मवाद से प्रेरित और प्रयोजनवादी है। सृष्टि की प्रक्रिया में सबसे पहले दो परमाणु जुड़कर द्वयगुणक बनाते हैं। फिर तीन द्वयगुण मिलकर त्रयगुण या त्रसरेणु बनता है। त्रयणुक सूक्ष्म दृष्टिगोचर कार्यद्रव्य हैं। परमाणुओं के संयोग का यह क्रम चलता रहता है और स्थूल महाभूत आदि की उत्पत्ति होती है। सृष्टि और प्रलय चक्रवत् चलता रहता है। मीमांसकों को छोड़कर अधिकांश विद्वान् आस्तिक दार्शनिक सृष्टि–प्रलय के सिद्धांत को मानते हैं। दो प्रलयों के बीच जो एक सृष्टि होती है, उसे कल्प कहते हैं।

वैशेषिक का परमाणुवाद जगत् के उसी भाग पर लागू होता है जो अनित्य है। जगत् के नित्य पदार्थों आकाश, दिक्, काल, मन, आत्मा और भौतिक परमाणु की न सृष्टि

होती है और न संशय। प्रलय के समय चार भूतों के परमाणु, पांच नित्य द्रव्य तथा जीवात्माओं के कर्मसंस्कार बचे रहते हैं जिनके आधार पर फिर अगली सृष्टि होती है।

इस तरह वैशेषिक के परमाणुवाद के आलोक में हम विश्व में दो जगत् पाते हैं– 1. मूल जगत् जो नित्य और अविनाशी है और 2. व्युत्पन्न जगत् जो मूल जगत् पर आधारित है और हमारे साधारण अनुभव का जगत है। इसके अनुसार समस्त भौतिक वस्तुएं सावयव हैं। वे नित्य परमाणुओं के संयोग से बनी हैं। इसलिए वे उत्पत्ति व विनाशशील हैं। पदार्थ की उत्पत्ति का अर्थ है– परमाणु संयोग और विनाश का अर्थ है– परमाणु वियोग।

वैशेषिक का यह सिद्धांत परिवर्तन की समस्या भी हल करने की कोशिश करता है। इसके अनुसार कुछ चीजें तो ऐसी हैं जो कभी नहीं बदलतीं। केवल उनसे उत्पन्न चीजें ही बदलती हैं। यह बौद्धों के क्षणिकवाद से भिन्न है। साथ ही यह अद्वैतवेदान्तियों के समान वैशेषिक परिवर्तन को विवर्तमात्र भी नहीं मानता।

यह ग्रीक परमाणुवाद से भी भिन्न है।

वैशेषिकों का यह परमाणुवाद भारतीय दार्शनिकों की वैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है। यह सिद्धान्त परमाणुवाद को अध्यात्मवाद से समन्वित करने का प्रयास करता है।

अभावविमर्श– जो भाव से भिन्न हो, वह अभाव है।

"भावभिन्नत्वम् अभावत्वम्।"

अभाव के भेद करते हुए 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में कहा गया है–

"अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योऽन्याभावभेदतः।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च।।

एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते।।

अभाव दो प्रकार का है– संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। एक वस्तु में दूसरी का अभाव होना ही संसर्गाभाव है, जैसे अग्नि में शीतलता का अभाव। जबकि दो वस्तुओं में तादात्म्य का न होना अन्योन्याभाव है।

यह संसर्गाभाव तीन प्रकार का है– 1. प्रागभाव, 2. प्रध्वंसा भाव और 3. अत्यन्ता भाव।

(क) **प्रागभाव**– कार्य का अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में अभाव ही प्रागभाव कहलाता है, जैसे– घड़े का अपनी उत्पत्ति के पूर्व मिट्टी में अभाव ही प्रागभाव है। यह अभाव अनादि है परंतु सान्त है।

(ख) **प्रध्वंसाभाव**– कार्य के विनाश के बाद उस कार्य का अभाव ही प्रध्वंसाभाव है, जैसे घड़े के विनाश के बाद उस घड़े का अभाव। यह अभाव सादि, परंतु अनन्त है।

(ग) **अत्यन्ताभाव**– दो वस्तुओं के मध्य संबंध का त्रैकालिक अभाव ही अत्यन्ताभाव है। यह अभाव अनादि एवं अनन्त है, जैसे वायु में रूप का अभाव।

अन्योन्याभाव एक वस्तु में दूसरी वस्तु का न होना है। यह दो वस्तुओं के मध्य तादात्म्य के अभाव को इंगित करता है। जैसे घट पट नहीं है। यह अभाव भी अनादि व अनन्त है।

अभाव का ज्ञान कैसे?— न्याय मतानुसार अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। अभाव के प्रत्यक्ष के संबंध में यहां विशेषण—विशेष्यभाव सन्निकर्ष को स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार जब हमारा किसी स्थान के साथ सन्निकर्ष होता है तो हमारा केवल उस विशेष्य मात्र के साथ ही संबंध नहीं होता बल्कि उस स्थान की विशेषताओं से युक्त स्थितियों के साथ भी सन्निकर्ष होता है। इसे ही विशेष्य—विशेषणभाव सन्निकर्ष कहते हैं। जैसे यह स्थान इस समय घड़े के अभाव की विशेषता से युक्त है। यहां घड़े का अभाव विशेष्य की विशेषता को इंगित करता है।

आत्मा— आत्मा इन्द्रियों व शरीर की अधिष्ठाता है—

"आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्।"

आत्मा का निरूपण करते हुए 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में कहा गया है—

"धर्मार्थमाश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणैर्योगतः।"

अर्थात् जीवात्मा, पाप—पुण्य का आश्रय है, इस कारण पुण्य—पाप दोनों आत्मा में उत्पन्न होते हैं, एवं सुख—दुःखादि विशेष गुणों के संबंध से आत्मा का प्रत्यक्ष भी होता है। मानस प्रत्यक्ष, योग—ज्ञान, सुख—दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि विशेष गुणों के समवाय संबंध से होता है। जैसे "अहं सुखी, अहं दुःखी, अहमिच्छामि।"

"प्रवृत्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथीः।
अहंकारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः।।
विभुर्बुद्धयादिगुणवान्।

जैसे रथ चलाने से यह ज्ञान होता है कि इस रथ में सारथी अवश्य होगा, उसी प्रकार दूसरे पुरुष के शरीर की चेष्टा से उसके शरीर में भी आत्मा अवश्य होगी, यह अनुमान होता है। प्रत्येक को अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष है, तथापि दूसरे के शरीर में वैसा प्रत्यक्ष किसी को नहीं हो पाता। अतः अन्य शरीर में उस आत्मा का ज्ञान अनुमान से करना सरल है। परकीय शरीर आदि की प्रवृत्तिजन्य चेष्टा से उसके शरीर में 'आत्मा' है, ऐसा अनुमान किया जाता है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—

"परकीयशरीरम् अवच्छेदकतासम्बन्धेन प्रयत्नवत् चेष्टावत्वात् मच्छरीरवत्।"

इससे स्पष्ट होता है कि जो प्रवृत्ति का आश्रय है वह चेतन है, शरीर नहीं, शरीर में प्रवृत्ति नहीं रहती, वह तो आत्मा में रहती है। 'प्रवृत्ति' (प्रयत्न) का कारण चेष्टा है। अतः कार्यरूप चेष्टा के द्वारा कारणरूप प्रयत्न का अनुमान किया जा सकता है और उससे परकीय शरीर में आत्माधिष्ठित्व का अनुमान किया जाता है।

'अहम्' इस प्रतीति का विषय 'आत्मा' है अर्थात् 'आत्मा' में ही कर्तृव्य होने से 'अहम्' शब्द से बोध्य भी 'आत्मा' ही होगा। यह जीवात्मा 'विभु' (व्यापक) है तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार (भावना), संख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग और वियोग आदि 14 गुणों वाला है।

"विभुरिति विभुत्वं परममहत्त्वत्वम्। तच्च पूर्वमुक्तमपि स्पष्टार्थमुक्तम्। बुद्धयादीति। बुद्धिसुखदुःखेच्छादमश्चतुर्दशा गुणा पूर्वमुक्ता वेदितव्याः।"

'विभु' शब्द से परममहत्परिणाम का अर्थ निकलता है। इसे व्यापक भी कह सकते हैं अर्थात् 'अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्व' है।

आचार्य प्रशस्तपाद ने आत्मत्व विशिष्ट को आत्मा कहा है। परवर्ती नैयायिकों में विश्वनाथ ने इन्द्रिय एवं शरीर आदि के अधिष्ठाता को तथा अनंतभट्ट आदि ने ज्ञान के आश्रय को आत्मा कहा है। समवाय संबंध से ज्ञान का आश्रय करने वाला आत्मा है। नैयायिकों के अनुसार आत्मा दो प्रकार की है– ईश्वर एवं जीव। इसमें ईश्वर एक है, जीव अनेक हैं, ईश्वर सर्वज्ञ, जीव अल्पज्ञ है तथा दोनों ही विभु व नित्य हैं। दोनों ही अप्रत्यक्ष हैं। फिर भी नैयायिकों ने ज्ञानाश्रय के रूप में दोनों को एक द्रव्य के रूप में ही स्वीकार किया है।

आत्मा अनन्त है, अतः इनमें आत्मत्व जाति मानकर इन्हें एक लक्षण के अंतर्गत किया जाता है। नैयायिकों के अनुसार आत्म जाति आत्मा और परमात्मा में समान रहती है। यद्यपि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, एक, सकल सृष्टि का कर्ता और अधिष्ठाता, आनंदमय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव है एवं जीव इससे भिन्न अल्पशक्तिमान, अनेक, असर्वज्ञ, सुख–दुःखादि से युक्त है। फिर नैयायिकों ने इन्हें जाति मानकर एक द्रव्य में समाहित किया है।

न्यायसूत्र के रचयिता गौतम व उनके अनुयायी आत्मा का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष से मानते हैं, जबकि कणाद आदि आत्मा को अनुमेय मानते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

9. कणाद ने सृष्टि रचना के लिए कितने पदार्थों का उल्लेख किया है?
   (क) चार (ख) छह
   (ग) पांच (घ) आठ
10. 'तंतु' को 'पट' का कौन–सा कारण माना गया है?
   (क) निमित्त (ख) उपादान
   (ग) समवायि (घ) तीनों में से कोई भी नहीं

2.7 वेदान्त दर्शन

समस्त भारतीय दर्शनों में अद्वैतवेदान्त शीर्षस्थ दर्शन है। वेदान्त का अर्थ है– वेद का अंत अथवा सिद्धांत। वेदों का अंतिम भाग उपनिषद है और वेदान्त वैदिक उपनिषदों के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन करता है। दर्शन की इस धारा को उत्तर मीमांसा भी कहते हैं, किंतु यह जैमिनि के पूर्व मीमांसा का पूरक न होकर एक स्वतंत्र शास्त्र है।

2.7.1 वेदान्त की आचार्य परंपरा एवं साहित्य

महर्षि बादरायण कृत 'ब्रह्मसूत्र' वेदान्त दर्शन का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है, किंतु बादरायण से पूर्व भी अनेक आचार्यों ने वेदान्त के विषयों का विवेचन किया है। ब्रह्मसूत्र में जिन

आचार्यों का उल्लेख हुआ है, वे हैं– बादरि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमी, काशकृत्स्न तथा काश्यप। शंकराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों में प्रमुख हैं– भर्तृप्रपंच, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, उपवर्ष, बोधायन, ब्रह्मनन्दी, टंक, भारुचि, द्रविड़ाचार्य, सुंदरपाण्ड्य, गृहदेव कपर्दी, ब्रह्मदत्त, आचार्य गौडपाद तथा गोविन्दपादाचार्य।

वेदान्त के सभी संप्रदाय स्वयं को उपनिषद पर आधारित बताते हैं तथा उपनिषद को वेदान्त का मूल प्रस्थान मानते हैं, किंतु शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त ही वस्तुतः औपनिषद दर्शन है। शंकराचार्य ने यह युक्तियुक्त प्रतिपादन किया है कि अद्वैत द्वारा ही श्रुतियों की एकवाक्यता सिद्ध की जा सकती है।

भारतीय दर्शन के शीर्षस्थ मनीषी आचार्य शंकराचार्य जी अलौकिक प्रतिभासंपन्न महापुरुष थे। ये असाधारण विद्वता, तर्कपटुता, दार्शनिक, सूक्ष्मदृष्टि, रहस्यवादी, आध्यात्मिकता, कवित्वशक्ति, धार्मिक, पवित्रता, कर्तव्यनिष्ठा तथा सर्वातिशायी विवेक और वैराग्य की मूर्ति थे। इनका आविर्भाव आठवीं शती में केरल के मालाबार क्षेत्र के कालड़ी नामक स्थान में नम्बूद्री ब्राह्मण के घर में हुआ और निर्वाण बत्तीस वर्ष की आयु में हिमालय में केदारनाथ में हुआ। ज्ञान के प्राधान्य का साग्रह प्रतिपादन करने वाले और कर्म को अविद्याजन्य मानने वाले संन्यासी आचार्य का समस्त जीवन लोकसंग्रहार्थ निष्काम कर्म को समर्पित था। उन्होंने भारत वर्ष का भ्रमण करके हिंदू समाज को एक सूत्र में पिरोने के लिए उत्तर में बदरीनाथ में, दक्षिण में शृङ्गेरी में, पूर्व में पुरी में और पश्चिम में द्वारका में चार पीठों की स्थापना की। बत्तीस वर्ष की अल्पायु में अपने सुप्रसिद्ध ब्रह्मसूत्रभाष्य के अतिरिक्त 11 उपनिषदों पर और गीता पर भाष्य की रचना के साथ अन्य अनेक सद्ग्रंथों और अनुपम स्तोत्र साहित्य का निर्माण करना अपने आप में वैदिक धर्म एवं दर्शन का समुद्धार, प्रतिष्ठा व प्रचार के दुःसाध्य कार्य को भारत में भ्रमण करते हुए प्रतिपक्षियों को शास्त्रार्थ में पराजित करते हुए, अपने दर्शन की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भारत की चारों दिशाओं में चार पीठों की स्थापना करना अलौकिक और अद्वितीय है।

शंकराचार्य के समकालीन वेदान्त दार्शनिक थे– मिथिला के मंडनमिश्र एवं भास्कराचार्य। उत्तरवर्ती वेदांतियों में प्रमुख हैं– सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, विमुक्तात्मा, प्रकाशात्मयति, श्रीहर्ष, आनन्दबोध, चित्सुखाचार्य, अमलानन्द, विद्यारण्यस्वामी, प्रकाशानन्द यति, मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती, अखण्डानन्द, अप्पय दीक्षित एवं सदानन्द मुनि आदि।

2.7.2 वेदान्त दर्शन में विवेचित दार्शनिक विषय

वेदान्त दर्शन में विवेचित दार्शनिक विषय निम्नलिखित हैं–

1. ब्रह्म विचार

अद्वैतवेदान्त दर्शन का केंद्रीय तत्त्व है–ब्रह्म। चरम रूप में इस ब्रह्म की एकमात्र सत्ता की स्वीकृति ही इसका प्रतिपाद्य विषय है। शंकराचार्य जी पारमार्थिक रूप से यह उद्घोष करते हैं कि "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।" अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र सत् है, जगत् मिथ्या है, जीव मूलतः ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है। शंकराचार्य के अनुसार

ब्रह्म सत् है, यहां सत् के संदर्भ में कहा गया है कि 'त्रिकालाबाधित सत्' अर्थात् जिसका किसी भी काल में खंडन नहीं किया जा सकता है वह सत् है। इस रूप में ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। शंकराचार्य सत् की तीन कोटियां बताते हैं—

(क) **प्रातिभासिक सत्** : प्रातिभासिक सत् के विषय कुछ देर के लिए प्रकट होते हैं, जैसे रस्सी में सर्प का ज्ञान, स्वप्न आदि।

(ख) **व्यावहारिक सत्** : वे विषय जो स्वाभाविक जागृत अवस्था में प्रस्तुत होते हैं, वे व्यावहारिक सत् हैं। जैसे रज्जु को रज्जु के रूप में सत् समझना।

(ग) **पारमार्थिक सत्** : शंकर के अनुसार केवल ब्रह्म ही पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत् है।

यहां प्रतिभास का खंडन व्यवहार से होता है। व्यवहार का खंडन परमार्थ से होता है। परमार्थ अखंड स्वरूप है, उसका खंडन संभव नहीं है।

ब्रह्म के दो रूप हैं— निर्गुण तथा सगुण।

निर्गुण ब्रह्म— जिसे उपनिषदों में परब्रह्म कहा गया है उसे ही यहां निर्गुण ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। यहां निर्गुण का आशय गुण रहितता से न होकर गुणातीत सत्ता से है। ब्रह्म अपनी मौलिकता में निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और निर्वैयक्तिक है।

सगुण ब्रह्म उपनिषदों में जिसे अपर ब्रह्म कहा है उसे ही यहां सगुण ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। जब ब्रह्म माया की उपाधि से मुक्त होता है तो वह ईश्वर का रूप धारण करता है, यह ईश्वर सगुण ब्रह्म है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म एक—दूसरे से पृथक दो सत्ताएं नहीं हैं, बल्कि एक ही ब्रह्म के दो रूप हैं। सगुण और निर्गुण ब्रह्म को ही क्रमशः व्यावहारिक ब्रह्म और पारमार्थिक ब्रह्म कहा गया है।

ब्रह्म अपनी मौलिकता में अवर्णनीय है। इसका भावात्मक रूप से वर्णन नहीं किया जा सकता। शंकराचार्य इस संदर्भ में 'नेति—नेति' की बात करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म प्रमाणों के द्वारा ज्ञात नहीं है। रूप आदि के अभाव के कारण ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। ब्रह्म निर्विकल्पक है, वह निर्गुण और निराकार है।

हेतु आदि के अभाव के कारण ब्रह्म अनुमान का भी विषय नहीं है। वस्तुतः ब्रह्म प्रमाणों से ज्ञान की स्थिति द्वैत के स्तर पर उभर कर आती है जबकि ब्रह्म अद्वैत स्वरूप है। शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति ही ब्रह्म का साक्षात्कार करा सकती है।

2. आत्मतत्त्व विमर्श

अद्वैतवेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मतत्त्व ही ब्रह्मतत्त्व है। ये दोनों एक ही परम तत्त्व के दो भिन्न—भिन्न अभिधान हैं, दोनों में कोई भेद नहीं है। आत्मा देश, काल व निमित्त से परे, सदैव एकरस, तर्कातीत एवं स्वयंसिद्ध है। यह नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। यह अजर, अमर, निराकार, निरवयव, अविकारी और अपरिणामी है। यह कूटस्थ, शुद्ध चैतन्यस्वरूप और नित्य विज्ञानस्वरूप है। यह सुख—दुःख एवं पाप—पुण्य आदि से परे है। आत्मा जीव से भिन्न, उपाधि शून्य और स्वयं प्रकाश है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार, आत्मा कर्तृत्व एवं भोक्तृत्वविहीन उपाधि विशिष्ट होने के कारण कर्ता एवं भोक्ता की

तरह प्रतीत होती है। विषयी और विषय, ज्ञाता एवं ज्ञेय, चेतन जीव और जड़ जगत् इसी आत्मतत्त्व के मायाकल्पित आभास मात्र हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में भी कहा गया है– 'अयमात्मा ब्रह्म'– यह आत्मा ब्रह्म ही है।

वेदान्त दर्शन में आत्मा के स्वरूप के संबंध में जो निर्देश प्राप्त होता है, उसके आधार पर आत्मा के लक्षण इस प्रकार सिद्ध होते हैं–

- आत्मा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों से भिन्न होती है।
- आत्मा पंचकोशों से परे होती है।
- आत्मा अवस्थात्रय की साक्षी है।
- आत्मा चौबीस तत्त्वों का आधार है।
- आत्मा या ब्रह्म जीव एवं ईश्वर से पृथक है।
- आत्मा या ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है।

3. जीव विमर्श

शंकराचार्य ने अपनी संपूर्ण मनीषा एवं पूरे अंतःकरण का उपयोग करते हुए 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' (जीव ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं) सिद्धांत का डिण्डिम उद्घोष किया है। उनका संपूर्ण दर्शन इसी एक सिद्धांत की परिपुष्टि में भूमिका स्वरूप माना जा सकता है। द्वैतवाद साध्य न होने के कारण जीव और ब्रह्म के भेद को अनिर्वाच्य माया पर आधारित बताकर एवं मात्र व्यावहारिक मानकर उन्होंने दोनों के परमार्थिक अभेद का वर्णन किया है। अद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार जीव आत्मा का व्यावहारिक रूप है। जब आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि उपाधियों से युक्त हो जाती है तो वह जीव के रूप में दृष्टिगोचर होती है। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि श्रुतियों का तात्पर्य सर्वदा समैकरस ब्रह्म के साथ जीव का अभेदबोधन करने में ही है। जीव परमार्थतः मिथ्या अथवा सत्ताहीन है। ज्ञान द्वारा अज्ञान के विरोधान हो जाने पर जीवरूपत्व मिथ्योपाधि का स्वतः क्षरण हो जाता है। जीवत्व का प्रयोजक अज्ञान वस्तुतः एक मानसिक आरोपित बंधन है। जब तक अज्ञान रहता है, तब तक जीव अपने को शरीरेंद्रियादि से संपृक्त होकर कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुखी आदि के रूप में समझता है। अविद्या की आवरण और विक्षेप शक्तियां इस जैविक मति, विभ्रम का कारण हैं। रज्जु का वास्तविक ज्ञान किस प्रकार अपने अध्यस्त सर्प का विनाशक होता है, उसी प्रकार ब्रह्म का पारमार्थिक ज्ञान उसमें अध्यस्त जीव का तिरोधायक होता है। जीव और आत्मा निम्न रूपों में भिन्न हैं–

शंकराचार्य के अनुसार जीव	शंकराचार्य के अनुसार आत्मा
– जीव अनेक है।	– आत्मा एक है
– जीव शरीरधारी है।	– आत्मा अशरीरी है।
– जीव बंधनयुक्त है।	– आत्मा मुक्त है।
– जीव व्यावहारिक सत् है।	– आत्मा पारमार्थिक सत् है।
– जीव ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है।	– आत्मा न ज्ञाता है, न कर्ता है और न ही भोक्ता है।

यहां उल्लेखनीय है कि जीव की आत्मा से पृथक स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह आत्मा का ही व्यावहारिक रूप है जो कि अविद्या का परिणाम है। जीव अलग–अलग शरीरों में अलग–अलग रूप में रहता है।

जीव भौतिक एवं अभौतिक तत्त्वों का संगठन है। उसका भौतिक तत्त्व शरीर है और अभौतिक तत्त्व चेतन है। यह चेतन तत्त्व निष्क्रिय द्रष्टा या साक्षी है। यह साक्षी स्वयं प्रकाश्य एवं स्वतः सिद्ध है, जो बिना किसी उपकरण के स्वतः अभिव्यक्त होता है। जीव का भौतिक तत्त्व अंतःकरण है जो शरीर के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह अविद्या का परिणाम है। इसी संदर्भ में जीव को परिभाषित करते हुए यह कहा गया है कि अंतःकरण से व्याप्त चैतन्य ही जीव है। यह जीव न तो आत्मा है और न ही आत्मा से भिन्न कोई अन्य स्वतंत्र तत्त्व। अविद्या के कारण जीव बंधन में पड़ता है। अतः अविद्या की निवृत्ति होने पर ही जीव मोक्ष को प्राप्त करता है। अविद्या की निवृत्ति ब्रह्मज्ञान से ही संभव है।

4. जगत् का स्वरूप

पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक भेद से शंकराचार्य जी ने त्रिविध सत्ता को अंगीकार किया है। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। निखिल प्रपंच उसका विवर्त होने से मिथ्या है, परंतु मिथ्या होने पर भी संसार की व्यावहारिक सत्ता का निराकरण नहीं किया जा सकता है। यद्यपि प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक दोनों ही सत्ताएं मायामूलक हैं, तथापि दोनों में अंतर है। जिस प्रकार रज्जु के यथार्थ ज्ञान के बाद सर्प की भ्रांति का बोध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के स्मरणमात्र से जागतिक व्यवहार का अंत नहीं होता। व्यावहारिक जगत असत् होने पर भी प्रातिभासिक वस्तुओं की अपेक्षा सत् होता है, मायामय होने पर भी आकाशकुसुम और शशश्रृंग की भांति सर्वथा मिथ्या नहीं होता।

अद्वैतवादी शंकराचार्य 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस सिद्धांत के आधार पर ब्रह्म को एकमात्र सत्य मानते हुए भी स्वयं लौकिक वैदिक व्यवहारों की उत्पत्ति एवं प्रमाण प्रमेय की सिद्धि के लिए जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

जगत की उत्पत्ति

शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर इस जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण दोनों है। ईश्वर अपनी मायाशक्ति के द्वारा नानारूपात्मक जगत् की सृष्टि करता है। शंकराचार्य जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या पंचीकरण विधि के आधार पर करते हैं। इसमें सबसे पहले पांच सूक्ष्म भूत उत्पन्न होते हैं। इसके बाद उनसे पांच स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है इसे हम एक तालिका के माध्यम से देख सकते हैं–

आकाश = 1/2 आकाश + 1/8 वायु + 1/8 अग्नि + 1/8 जल + 1/8 पृथ्वी

वायु = 1/2 वायु + 1/8 आकाश + 1/8 अग्नि + 1/8 जल + 1/8 पृथ्वी

अग्नि = 1/2 अग्नि + 1/8 आकाश + 1/8 वायु + 1/8 जल + 1/8 पृथ्वी

जल = 1/2 जल + 1/8 आकाश + 1/8 वायु + 1/8 अग्नि + 1/8 पृथ्वी

पृथ्वी = 1/2 पृथ्वी + 1/8 आकाश + 1/8 वायु + 1/8 अग्नि + 1/8 जल

यह जगत् ईश्वर की लीला है। जगत् की रचना के पीछे कोई प्रयोजन नहीं है। ईश्वर में प्रयोजनमूलकता को स्वीकार करने पर उसका ईश्वरत्व खंडित होगा।

वास्तव में जगत् पारमार्थिक दृष्टिकोण से मिथ्या, व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत् और तार्किक दृष्टिकोण से अनिर्वचनीय है। जीवन की व्यावहारिक सफलता के लिए

जगत् की व्यावहारिक सत्ता का होना आवश्यक है। परमार्थ की प्राप्ति के लिए व्यवहार अर्थात जगत् की सत्ता का होना आवश्यक है क्योंकि परमार्थ की प्राप्ति का रास्ता व्यवहार से होकर ही जाता है।

5. मायावाद

शंकराचार्य ने मायावाद के परंपरागत स्वरूप को एक प्रामाणिक, सुव्यवस्थित एवं स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया है। अद्वैत दर्शन में मायावाद का विशिष्ट स्थान है। जीवकृत विहित एवं प्रतिषिद्ध कर्मों का कारण माया ही है। माया के आधार पर ही ब्रह्म में सगुणत्व एवं निर्गुणत्व का व्यपदेश होता है। अनन्त शक्ति संपन्न मायोपहित ईश्वर ही सक्रिय होकर जगत प्रपंच का उपादान व निमित्त कारण होता है एवं मायामुक्त होकर निष्क्रिय। ब्रह्म में नानात्व की कल्पना का आधार अविद्या या माया ही है।

माया ईश्वर की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह नानारूपात्मक जगत् की सृष्टि करता है। शंकराचार्य माया को न तो रामानुज की भांति ईश्वर की वास्तविक सृष्टि करने की शक्ति मानते हैं और न ही उसे ब्रह्म के नित्य स्वरूप के संबंध में स्वीकार करते हैं।

माया के कई अर्थ बताए गए हैं–

– पारमार्थिक दृष्टिकोण से जो नहीं है वही माया है।

– माया वह है जो ब्रह्म को सीमित कर (वास्तविक रूप से नहीं) जगत् का बोध कराती है।

माया के दो कार्य हैं, जिसे हम उसकी शक्ति के रूप में देखते हैं– आवरण तथा विक्षेप। अपनी आवरण शक्ति के द्वारा माया ब्रह्म के स्वरूप को आच्छादित कर देती है। तत्पश्चात माया अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा जगत् को ब्रह्म के ऊपर आरोपित कर देती है। स्पष्ट है कि माया के कारण ही ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के स्थान पर जगत् प्रपंच एवं जीवों की विविधता दिखाई देती है।

शंकराचार्य के इस माया विचार की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

- माया अचेतन है, वह जड़ रूप है।
- माया त्रिगुणात्मक है अर्थात् वह सत्व, रज एवं तम से युक्त है।
- माया सगुण ब्रह्म की शक्ति है, परंतु यह ब्रह्म की वास्तविक शक्ति नहीं है। माया का आश्रय एवं विषय दोनों ब्रह्म है, परंतु ब्रह्म अपनी माया शक्ति से प्रभावित नहीं होता, जैसे जादूगर अपने जादू से प्रभावित नहीं होता।
- माया भावरूप है। यहां भावरूप का आशय है कि वह असत् नहीं है।
- माया ज्ञान विरोधी है, जो बंधन का कारण है। माया की विद्या का नाश ब्रह्मज्ञान से होता है।
- माया सत् और असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। सत् नहीं है क्योंकि ब्रह्मज्ञान से उसका बाध हो जाता है। असत् नहीं है क्योंकि बन्ध्यापुत्र के समान वह असत् नहीं है।
- माया शक्ति युक्त है। इसकी शक्तियां हैं– आवरण और विक्षेप।

6. विवर्तवाद

विवर्तवाद अद्वैतवेदान्त का कारणता संबंधी सिद्धांत है। विवर्तवाद के अनुसार कारण का कार्य में वास्तविक रूपांतरण नहीं होता वरन् उसकी मिथ्या प्रतीति होती है अर्थात् किसी वस्तु में अपने रूप के परित्याग के बिना दूसरी वस्तु का मिथ्याभास होना ही विवर्त कहलाता है। जब कोई कार्य उत्पन्न होता है, तब द्रव्य में विकार नहीं आता, कारण–कार्य का संबंध वास्तविक परिवर्तन सूचित नहीं करता और जो परिवर्तन होता है वह कारण के ही द्वारा होता है। अतएव वस्तु में वास्तविक विकार नहीं आता। यद्यपि हम विकारों को देखते हैं तथापि बुद्धि उन्हें सत्य नहीं मान सकती। अतएव जो प्रत्यक्ष दिखता है उसे प्रत्याक्षाभास समझना चाहिए। हमें आकाश नीला दिखाई देता है, सूर्य में गति दिखलाई पड़ती है, परंतु हम इन सब बातों को सत्य नहीं मान सकते, क्योंकि वे युक्ति के द्वारा असत्य प्रमाणित हो जाती हैं। ऐसी प्रत्यक्ष किंतु असत्य घटना को आभास समझना चाहिए, वास्तविक सत्य नहीं। इस तरह हम केवल युक्ति द्वारा भी विवर्तवाद तक पहुंच सकते हैं। हम जो परिवर्तन देखते हैं वे मानसिक आरोप या विक्षेप मात्र हैं। इसी को शंकराचार्य अध्यास कहते हैं।

7. अध्यास

शंकराचार्य के दर्शन में अध्यास भ्रम के विवेचन से संबंधित है। इसी के आधार पर समस्त लोक–व्यवहार को व्याख्यायित किया गया है। व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से अध्यास का अर्थ है– एक वस्तु पर उससे भिन्न किसी दूसरी वस्तु का आरोपित हो जाना। शंकर अध्यास का कारण अविवेक और मिथ्याज्ञान को मानते हैं।

8. मोक्ष विमर्श

शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष पद मनुष्य के जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, जो कि जन्म–जन्मांतरीय सुकृतों से, संस्कृत ज्ञान से प्राप्त होता है। निर्गुण, निराकार ब्रह्म जब माया की उपाधि से युक्त होता है तो उसे सगुण ब्रह्म (ईश्वर) कहा जाता है। वह ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारक है। जीव भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस जगत् से संबंधित है।

शंकराचार्य के अनुसार अविद्या व अज्ञान के कारण आत्मा को शरीरधारी जीव बनने के लिए बाध्य होना पड़ता है। जीव का यह बंधन कोरी कल्पना ही है, वस्तुगत या सत्तागत नहीं क्योंकि परार्थ वह ब्रह्म ही है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से जीव न कभी बंधन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

अज्ञान का निवारण ब्रह्मज्ञान से होता है। ब्रह्मज्ञान के लिए शारीरिक और मानसिक शुद्धि अनिवार्य है। इसके लिए चार साधनों को अपनाना पड़ता है जिसे अनुभव चतुष्टय कहा जाता है। साधन चतुष्टय के अंतर्गत निम्नलिखित की गणना की गई है–

(क) **नित्यानित्यवस्तुविवेक**– नित्य और अनित्य में अंतर का ज्ञान होना।

(ख) **इहामुत्रार्थफलभोगविराग**– इहलोक और परलोक के भोग से विराग होना चाहिए।

(ग) **शमदमादिसाधनसम्पत्**– ज्ञान प्राप्ति के लिए साधक को शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा रूपी साधनों से युक्त होना चाहिए। इसका विवरण निम्नलिखित है–

- शम– मन का संयम,
- दम– इंद्रियों का दमन,
- श्रद्धा– शास्त्रों में निष्ठा,
- समाधान– चित्त को ज्ञान के साधन में लगाना,
- उपरति– विक्षेपकारी कार्यों से स्वयं को अलग करना,
- तितिक्षा– सर्दी–गर्मी आदि सब सहन करना।

(घ) **मुमुक्षत्व**– साधक को मोक्ष प्राप्त करने की प्रबल इच्छा।

साधन चतुष्टय को पूरा करने के बाद साधक को योग्य गुरु के पास जाना चाहिए। साधक को गुरु से ईश्वर, आत्मा, जगत् आदि के वास्तविक स्वरूप के बारे में शास्त्रनिहित कथनों का श्रवण करना आवश्यक है। श्रवण किये गये धार्मिक विषय पर बौद्धिक चिंतन करना पड़ता है। यह मनन कहलाता है। तत्पश्चात् उन सत्यों का निरंतर स्मरण, विचार और ध्यान करना पड़ता है। यह प्रक्रिया निदिध्यासन कहलाती है। तीनों क्रियाओं के पश्चात गुरु साधक की समुन्नत स्थिति को देखते हुए कहता है–

'तत्त्वमसि' अर्थात् तुम ही वह ब्रह्म हो।

तब शिष्य गुरु के इन शब्दों का चिंतन करता है। आत्मचिंतन या ब्रह्मचिंतन के बाद साधक को आत्म–साक्षात्कार हो जाता है। इसे ही अद्वैत–वेदान्त में तत्त्वज्ञान कहते हैं। साधक ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति के साथ ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

11. अद्वैत वेदान्त दर्शन का केंद्रीय तत्त्व है–

(क) धर्म (ख) अर्थ

(ग) मोक्ष (घ) ब्रह्म

12. किस दर्शन को उत्तर मीमांसा भी कहते हैं?

(क) अद्वैतवेदान्त (ख) वैशेषिक

(ग) पूर्व मीमांसा (घ) सांख्य

2.8 मीमांसा दर्शन

'मीमांसा' का अर्थ है– किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए गहन विवेचन करना। भारतीय धर्म एवं संस्कृति की आधारभूमि वेद के मुख्य रूप से दो विभाग हैं– कर्मकांड एवं ज्ञानकांड। इनमें लक्षित होनेवाले आपाततः विरोधों के परिहार की दृष्टि

से दर्शन की जिस धारा ने विवेचना की है, वह मीमांसा दर्शन कहलाई। वेद के पूर्व खंड कर्मकांड की मीमांसा जिसमें की गई, उसे 'कर्म मीमांसा' अथवा 'पूर्व मीमांसा' कहते हैं और उत्तरखंड ज्ञानकांड की मीमांसा को 'ज्ञान मीमांसा' अथवा 'उत्तर मीमांसा' कहा गया है, जो 'वेदान्त दर्शन' के नाम से जाना जाता है।

2.8.1 मीमांसा दर्शन का इतिहास

मीमांसा दर्शन को सुव्यवस्थित रूप देने का श्रेय महर्षि जैमिनि को है, किंतु वे इसके प्रवर्तक आचार्य नहीं हैं। उन्होंने अपने सूत्र ग्रंथ में पूर्ववर्ती आठ आचार्यों एवं उनके मतों का उल्लेख किया है। ये आचार्य हैं– बादरि, बादरायण, कार्ष्णाजिनि, ऐतिशायन, लावुकायन, कामुकायन, आत्रेय एवं आलेखन। मीमांसा दर्शन के अन्य ग्रंथों में आपिशलि, उपवर्ष, भवदास और बोधायन आदि प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख प्राप्त होता है, किंतु इनमें से किसी का कोई ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है।

भारतवर्ष में बौद्ध धर्म के बढ़ते वर्चस्व के साथ जब वैदिक धर्म का ह्रास होने लगा तो स्कन्दावतार कुमारिल भट्ट मीमांसकों ने ही उसे पुनर्प्रतिष्ठित किया। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में कहा गया है–

बौद्धादिनास्तिकध्वस्तो वेदमार्गः पुरा किल।
भट्टाचार्यः कुमारांशः स्थापयामास भूतले।।

महर्षि जैमिनि के ग्रंथ 'मीमांसासूत्र' के रचनाकाल के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। ई.पू. 500 से ई.पू. 200 वर्ष के मध्य इसकी रचना हुई थी। इस विपुलकाय ग्रंथ में 16 अध्याय एवं 2742 सूत्र हैं। इसके प्रथम बारह अध्यायों में धर्म, जिज्ञासा, कर्मभेद, शेषत्व, प्रयोज्य–प्रयोजक भाव, कर्मों में क्रम अधिकार, सामान्य अतिदेश, विशेष अतिदेश, ऊह, बाध, तंत्र तथा आवाप– इन बारह विषयों का विवेचन है, इसलिए इसे 'द्वादशलक्षणी' भी कहते हैं। शेष चार अध्यायों को 'संकर्ष' अथवा 'देवताकांड' कहा जाता है।

शबरस्वामी ने जैमिनि के मीमांसासूत्र पर भाष्य की रचना की, जो 'शाबरभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार इस भाष्य का रचनाकाल ई.पू. प्रथम शताब्दी है। इस ग्रंथ की अनेक विद्वानों ने व्याख्या की, जिनमें प्रमुख हैं– कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र एवं मुरारि मिश्र। इन विद्वानों के चिंतनानुक्रम में भिन्नता के कारण पूर्व मीमांसा दर्शन में तीन नवीन संप्रदायों की उद्भावना हुई– भाट्टमत, गुरुमत एवं मुरारिमत।

2.8.2 मीमांसा दर्शन के प्रमुख सिद्धांत

मीमांसा दर्शन के प्रमुख सिद्धांत निम्नलिखित हैं–

1. धर्म मीमांसा

मीमांसा दर्शन का प्रथम सूत्र है– 'अथातो धर्मजिज्ञासा।' मीमांसा दर्शन का प्रमुख विवेच्य विषय धर्म ही है। महर्षि जैमिनि ने धर्म का लक्षण बताते हुए कहा है– 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' अर्थात् प्रेरक वचन अथवा विधिवाक्य द्वारा बोधित, शास्त्रों द्वारा

प्रतिपाद्य विषयों को धर्म कहते हैं। लौगाक्षि भास्कर के अनुसार– 'वेद प्रतिपाद्यो प्रयोजनवदर्थो धर्मः' अर्थात् वेद–प्रतिपादित स्वार्गादि प्रयोजन वाला कर्म ही धर्म है।

जीवन में यथार्थ सुख की प्राप्ति ही धर्म का प्रयोजन है। धर्म का यह प्रयोजन वेद द्वारा प्रतिपादित होना चाहिए। वेदविहित कतिपय यज्ञ शत्रुओं की हानि के लिए हैं, जो अंत में दुख का कारण ही बनते हैं। अतः वेदविहित वही कर्म धर्म है जो सुखोत्पादक हो अर्थात् वेद के प्रेरक वाक्य अथवा विधिवाक्य ही धर्म हैं। वेद को औपरुषेय कहा गया है। मीमांसा की दृष्टि से अपौरुषेय वाक्यों के पांच विभाग हैं– विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध तथा अर्थवाद। आख्यात धर्म का ज्ञान कराने वाले वेद भाग को विधि कहा जाता है, जैसे–अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः अर्थात् स्वर्ग पाने की इच्छा से अग्निहोत्र का संपादन करना चाहिए। शब्द प्रमाण स्वरूप वेद के अतिरिक्त कोई भी अन्य प्रमाण अग्निहोत्र का ज्ञान नहीं करा सकता है, इसीलिए यह एक विधिवाक्य है। स्वर्ग की कामना अग्निहोत्र का प्रयोजन है और इसका फल है स्वर्ग की प्राप्ति। विधि के विभाग हैं– उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि, प्रयोग विधि, परिसंख्या विधि एवं अपूर्व विधि।

2. तत्त्व मीमांसा

मीमांसा दर्शन के तीनों संप्रदाय तत्त्व के संबंध में भिन्न–भिन्न मत रखते हैं। गुरुमत में पदार्थों की संख्या आठ है– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, सादृश्य एवं संख्या। शक्ति, सादृश्य व संख्या प्रभाकर मिश्र की नूतन परिकल्पना है। इन्होंने विशेष और अभाव को स्वतंत्र पदार्थ नहीं माना है। न्याय दर्शन के समान गुरुमत में भी द्रव्यों की संख्या नौ है– पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन, किंतु गुणों की संख्या प्रभाकर मिश्र के अनुसार चौबीस नहीं बल्कि इक्कीस है– रूप, रस, गंध, स्पर्श, परिमाण, संयोग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, धर्म, अधर्म, संस्कार और वेग।

भाट्टमत में पदार्थ दो ही प्रकार के होते हैं– भाव और अभाव। भाव के चार प्रकार होते हैं– द्रव्य, गुण, कर्म एवं सामान्य। अभाव के भी चार प्रकार माने गए हैं– प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। कुमारिल भट्ट ने दो नए मतों अंधकार और शब्द को मान्यता दी है। इन्होंने कर्म को प्रत्यक्ष माना है, जबकि प्रभाकर मिश्र ने कर्म को ही अनुमेय माना है।

मुरारि मिश्र का मत इनसे सर्वथा भिन्न है। इन्होंने एकमात्र ब्रह्म को ही एक पदार्थ माना है। ब्रह्म के अंतर्गत ही ये द्रव्य, काल एवं देश की परिकल्पना करते हैं और व्यावहारिक दृष्टि से धर्मि (घट), धर्म (घटत्व), आधार (अनियत आश्रय) तथा प्रदेश विशेष (अनियत स्थान) को भी पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं।

3. प्रमाण मीमांसा

मीमांसा दर्शन में तत्त्वार्थ के ज्ञान को प्रमा माना गया है– 'प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानम्।' प्रमा के कारण को प्रमाण कहते हैं। मीमांसा के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन ही प्रमाण माने हैं। प्रभाकर मिश्र ने इन तीनों के अतिरिक्त उपमान और अर्थापत्ति को भी माना है, जबकि कुमारिल भट्ट ने छठे प्रमाण अभाव अथवा अनुपलब्धि

को भी मान्यता दी है। इस प्रकार, मीमांसा दर्शन में उन सभी प्रमाणों को माना गया है, जो अन्य सभी दर्शनों में मान्य हैं, किंतु प्रमाण–विमर्श में इसकी एक अपनी विशिष्टता है। अन्य सभी प्रमाणों को मानते हुए मीमांसा दर्शन शब्द प्रमाण अथवा आगम प्रमाण को ही वास्तविक मानता है। प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण के परीक्षण के अवसर पर भी मीमांसा शब्द प्रमाण को ही आधार मानता है। तथ्य के प्रत्यक्ष होने पर भी यदि वह शब्द प्रमाण से पुष्ट नहीं होता तो मीमांसाशास्त्र उसे संदेह की दृष्टि से ही देखता है। न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन परतः प्रामाण्य को मानते हैं क्योंकि वे ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए दूसरे की आवश्यकता मानते हैं, जबकि मीमांसा दर्शन स्वयं प्रकाशित होने के कारण ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानता है।

4. कर्म मीमांसा

लोक प्रचलित सूक्ति है–'कर्मेति मीमांसकाः'। मीमांसा शास्त्र की सर्वाधिक दृढ़ आस्था कर्म में है। मीमांसकों ने कर्म को ईश्वर के समतुल्य प्रभावशाली माना है। इनका मंतव्य है कि कर्म में 'अपूर्व' नामक शक्ति होती है जो समुचित अवसर पाकर शुभाशुभ कर्मों का सुख–दुःख रूपी फल अवश्य देती है। कर्म को इतना महत्वपूर्ण मानने के कारण ही पूर्व मीमांसा को 'कर्म मीमांसा' भी कहा गया है।

कर्म मीमांसा का प्रधान उद्देश्य है मनुष्य को वेद प्रतिपादित अभीष्ट कार्यों को करने में नियोजित कर अपने वास्तविक कल्याण की ओर प्रेरित करना। मीमांसकों ने इसे ही धर्म माना है। प्रतिपादित कर्मों को मीमांसा दर्शन ने चार भागों में बांटा है–नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म, प्रतिषिद्ध कर्म तथा काम्यकर्म।

(क) **नित्यकर्म** : वेदविहित संध्यावंदन, जप, बलिवैश्वदेव पितृतर्पण आदि नित्यकर्म हैं। वेदविहित इन कर्मों को निष्काम भाव से करना चाहिए।

(ख) **नैमित्तिक कर्म** : अवसर विशेष पर किसी निमित्त को लक्ष्य कर करणीय कर्म नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं, जैसे– जातकर्म, यज्ञोपवीत, श्राद्ध, ग्रहशान्ति आदि।

(ग) **प्रतिषिद्ध कर्म** : वेद में ऐसे कर्मों का निषेध किया गया है, जिन्हें करने से अशुभ होता है। ऐसे कर्मों को प्रतिषिद्ध कर्म कहते हैं, यथा– कलञ्जं न भक्षयेत् अर्थात् विषैले अस्त्रों से मारे गये प्राणियों का मांस अभक्ष्य है।

(घ) **काम्य कर्म** : वेदविहित ऐसे कर्म जो किसी कामना की पूर्ति के लिए किए जाते हैं और जो वैकल्पिक हैं अर्थात् जिनका करना, न करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है, काम्य कर्म कहे जाते हैं, जैसे– 'स्वर्गकामो यजेत्' अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति की कामना हो तो यज्ञ करें। इस कोटि के कर्मों को करने से अभीष्ट कामना की पूर्ति होती है, किंतु नहीं करने से किसी प्रकार की हानि नहीं होती।

5. अपूर्व विमर्श

मीमांसा के सामने यह कठिनाई उपस्थित होती है कि एक स्वर्गकाम मनुष्य आज याग करता है, याग कुछ दिनों चलता है फिर वह समाप्त हो जाता है। लेकिन वह मनुष्य याग के तुरंत बाद स्वर्ग नहीं प्राप्त करता। उसे स्वर्ग जाने के लिए मृत्यु तक प्रतीक्षा करनी होती है। फिर याग स्वर्ग का साधन कैसे हो सकता है, जबकि इन दोनों के बीच

इतने बड़े समय का अंतर है, क्योंकि करण को फल के अव्यवहित पूर्व होना चाहिए "फलायोगव्यवच्छिन्नं करणम्।"

इस कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए मीमांसकों ने अपूर्व के सिद्धांत की स्थापना की। उनका तात्पर्य है कि याग का अनुष्ठान एक शक्ति विशेष उत्पन्न करता है, जिसकी स्थिति यागानुष्ठान के पूर्व नहीं रहती, उसे ही अपूर्व कहते हैं। यह अपूर्व याग का अनुष्ठान करने वाले में उसकी मृत्यु तक रहता है और तदनंतर वह उसे स्वर्ग प्राप्त कराता है। इसलिए स्वर्ग प्राप्ति का वास्तविक साधन यह अपूर्व है। यह याग से उत्पन्न होता है, इसलिए याग को ही करण या साधन कहा जाता है।

यह विशेष रूप से अवधेय है कि यद्यपि मीमांसकों ने इस अपूर्व शब्द का आविष्कार किया लेकिन इसके अंतर्गत जो सिद्धांत या भाव हैं, वे अन्य दर्शनों में भी उसी प्रकार हैं। कोई व्यक्ति इस जीवन में परोपकार आदि अच्छे कार्य करता है और अपनी मृत्यु के बाद उससे स्वर्ग की कामना रखता है। उसके कार्य और उसकी फल प्राप्ति में एक बहुत बड़े समय का अंतर है। इसलिए यह विश्वास किया जाता है कि वह कार्य किसी अदृष्ट शक्ति को उत्पन्न कर देता है जिसे अनेक शब्दों में बताया जाता है, जैसे प्रारब्ध कर्म, धर्म, अदृष्ट, पुण्य इत्यादि जो वस्तुतः मनुष्य के लिए उसकी मृत्यु के बाद भी प्रत्याशित फल को सुरक्षित रखता है। आचार्य माधव के अनुसार यागजन्म किसी शक्ति को अपूर्व कहते हैं।

मीमांसकों के अनुसार साधारणतया यागों से एक अपूर्व उत्पन्न होता है—फलापूर्व। लेकिन पेचीदे यागों में सामान्यतया चार प्रकार के अपूर्व उत्पन्न होते हैं— फलापूर्व या परमापूर्व, समुद्रायापूर्व, उत्पत्त्यपूर्व, अङ्गापूर्व। दर्शपूर्णमास का उदाहरण लेकर समीक्षा करने से इन चारों का अंतर स्पष्ट हो जाएगा।

दर्शपूर्णमास से जो अपूर्व उत्पन्न होता है और जो स्वर्ग प्राप्ति में साधन होता है, उसे फलापूर्व या परमापूर्व कहते हैं। यह अपूर्व दर्श और पूर्वमास से उत्पन्न हुए समुदायापूर्व से बनता है। इसी प्रकार समुदायापूर्व दर्श और पूर्वमास के अंतर्गत आनेवाले यागों से बनता है। इनमें से प्रत्येक अपना अलग अपूर्व उत्पन्न करता है, जिसे उत्पत्त्यपूर्व कहते हैं। इन यागों के भी अंग होते हैं, जो अङ्गापूर्व उत्पन्न करते हैं।

6. यज्ञ मीमांसा

यज्ञ वैदिक संस्कृति का आधार है। विश्ववाङ्मय के प्रथम ग्रंथ ऋग्वेद की प्रथम ऋचा में ही अग्नि की स्तुति के साथ यज्ञ की महत्ता का प्रतिपादन हुआ है— 'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्'। मीमांसा दर्शन की दृष्टि में यज्ञ मनुष्य का प्रमुख धर्म—कृत्य है, जो स्वर्ग प्राप्ति ही नहीं, ईश्वर प्राप्ति में भी सहायक है। मीमांसा के अनुसार यज्ञ का प्राचीन स्वरूप अग्निहोत्र और कर्मकांडपरक यज्ञ ही है। यज्ञ के दो विभाग माने गए हैं— श्रौतयाग एवं स्मार्तयाग।

7. श्रौतयाग

श्रौतसूत्रों में वर्णित यागों को श्रौतयाग कहते हैं। इसमें खड़े होकर याञ्जापूर्ण वाक्य के साथ षड्कारपूर्वक आहुति प्रदान की जाती है। इसमें तीन अग्नियां होती हैं—

आह्वानीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि। चार ऋत्विक होते हैं– होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। इन्हें दो भागों में बांटा गया है– (क) हविर्याग और (ख) सोमयाग।

8. स्मार्तयाग

स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित याग को स्मार्तयाग कहते हैं। इनका उल्लेख श्रुतियों में नहीं मिलता, परंतु इन्हें श्रुतियों के अनुकूल होना चाहिए क्योंकि जो कर्म श्रुति के अनुकूल नहीं होता उसे भारतीय संस्कृति में सही नहीं माना जा सकता। लक्ष्मीयाग, गणेशयाग, विष्णुयाग आदि स्मार्तयाग के उदाहरण हैं जो प्रायः लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए किए जाते हैं। आधुनिक काल में स्मार्तयाग ही अधिक प्रचलित है।

9. ईश्वरवाद

मीमांसा दर्शन को अनेकशः अनीश्वरवादी और नास्तिक दर्शन कहा जाता रहा है, वास्तव में ऐसा है नहीं। मीमांसा के मूल सूत्रों में ईश्वर का विरोध कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता बल्कि कतिपय स्थलों पर ईश्वर की ओर संकेत अवश्य प्राप्त होता है। मीमांसा सूत्र के छठे अध्याय के तृतीय पाद का प्रथम सूत्र द्रष्टव्य है– 'सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथा भूतोपदेशात्' अर्थात् सर्वशक्तिमान परमात्मा की ओर प्रवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि प्राणियों के लिए ऐसा ही उपदेश किया गया है। परमात्मा में प्रवृत्ति से ही मनुष्य सबसे बड़े लाभ का अधिकारी बनता है, अतः अगले सूत्र में यज्ञादि अनुष्ठानों को परमात्मा की प्राप्ति का निमित्त बताया गया है– 'अपि वाऽप्येकदेशे स्यात्प्रधाने ह्यर्थनिवृत्तिर्गुणमात्र– मितरत्तदर्थत्वात्'। सूत्रकार ने आगे भी कहा है– 'तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेषः स्यात् प्रधानेनाऽभिसम्बन्धात्' अर्थात् प्रधान परमात्मा की ओर उदासीनता दोष की बात है। यज्ञादि कर्म में परमात्मा से संबंध स्थापित करके ही दोषों से मुक्त हुआ जा सकता है, अन्यथा नहीं। मीमांसा दर्शन के ये समस्त सूत्र उसके ईश्वरवादी और आस्तिक होने का प्रमाण देते हैं।

आस्तिक दर्शन वेदान्त के प्रवर्तक महर्षि बादरायण ने ईश्वर की सिद्धि के संदर्भ में जैमिनि का दृष्टांत देते हुए कहा है– 'ब्रह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः' अर्थात् जैमिनि के अनुसार मुक्त स्थिति में जीव ब्रह्म के आनंदादि गुणों को धारण करता है। यह उद्धरण मीमांसा दर्शन के ईश्वरवादी होने के पक्ष में एक महत्वपूर्ण प्रमाण है। बादरायण ने वेदान्त दर्शन के चतुर्थ अध्याय के तृतीय पाद के अनेक सूत्रों में मीमांसा दर्शन के आस्तिक होने के प्रमाण दिए हैं।

10. मोक्षविमर्श

दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में मोक्ष एक महत्वपूर्ण विषय है। समस्त दर्शनों ने मोक्ष को मानव जीवन का परम लक्ष्य माना है। जीव के बंधन का कारण सकाम कर्म है। निष्काम भाव से धर्म का आचरण करने और आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेने से जीव के पूर्वकृत कर्मों के संचित संस्कार नष्ट हो जाते हैं, जिससे आवागमन (जन्म–मृत्यु) के चक्र से मुक्ति मिल जाती है। इस मुक्ति की प्राप्ति हेतु अन्य दर्शन कर्म–संन्यास अथवा अनासक्त कर्म को साधन मानते हैं, किंतु मीमांसा दर्शन कर्मकांड को मोक्ष–प्राप्ति का साधन मानता है।

अपनी प्रगति जांचिए

13. निम्नलिखित में किस ग्रंथ की रचना कुमारिल भट्ट ने नहीं की?
    (क) मीमांसासूत्रानुक्रमणी (ख) श्लोकवार्तिक
    (ग) तंत्रवार्तिक (घ) टुप्टीका
14. धर्म की प्रधानता, कर्म व पुनर्जन्म, ऋण व संस्कार भारतीय समाज के कौन–से प्रमुख आधार हैं?
    (क) मानवीय (ख) दार्शनिक
    (ग) शास्त्रीय (घ) ख एवं ग दोनों

2.9 चार्वाक दर्शन – सामान्य परिचय

भारतवर्ष की धरती सभी दृष्टिकोणों से उर्वर रही है। यह बात प्रकृति के अन्यान्य साधनों, जीवों और जलवायु दशाओं से लेकर साहित्य, संगीत, कला, ज्ञान–विज्ञान, धर्म और दर्शन में भी समान रूप से लागू होती है। अब से तकरीबन पांच हज़ार वर्ष पूर्व जब महाभारत काल में भारत की पुरातन महत्ता के संरक्षकों और उनके हन्ताओं के बीच निर्णायक युद्ध की तैयारी हो रही थी; तब चिंतन और विचार के क्षेत्र में एक दूसरा संघर्ष भी गतिमान हो रहा था।

यह द्वन्द्व वेद आधारित मान्यताओं के विपरीत चिंतन से उपजा था, जो इसी संसार को एकमात्र लोक और इसी शरीर को एकमात्र जीवन मानता था। उसके अनुसार शरीर में आत्मा नाम का कोई तत्त्व नहीं है, इसलिए पुनर्जन्म और कर्मफल का कोई अस्तित्त्व नहीं हो सकता। उनकी मान्यता थी कि स्वार्थ सिद्धि ही मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य है और इसके लिए किसी प्रकार के नीति–नियमों का बंधन नहीं होना चाहिए। यह चरम नास्तिक परंपरा सुदूर वैदिक काल से महाभारत काल तक किसी न किसी रूप में प्रचलित और मान्य रही। लेकिन इसके वैचारिक आधार पर कोई साहित्यिक परंपरा अभी भी प्राप्त नहीं हुई है। इसके अनेक नाम समय और स्थान के अनुसार प्राप्त होते हैं। इनमें बार्हस्पत्य, चार्वाक, लोकायत, अनात्म आदि प्रमुख हैं।

इस मत के प्रमुख संस्थापक आचार्य बृहस्पति को माना जाता है। उनके शिष्य चार्वाक का नाम भी काफी प्रचलित है। कुछ विद्वानों के अनुसार चार्वाक कोई व्यक्ति न होकर चारू+वाक् से निर्मित शब्द है जो इस मत में व्यक्त लोक लुभावन सिद्धांतों के कारण उपजा है। फिर भी 'चार्वाक' नाम से किसी व्यक्ति के होने की मान्यता काफी प्रबल है। माना जाता है कि इन दोनों ने नास्तिक परंपरा की इस विचारधारा को स्वरूप प्रदान किया और प्रसिद्धि दिलाई। 'लोकायत' नाम इस मत की लोक स्वीकृति और मान्यता को प्रकट करता है। लोक का अर्थ है समाज और आयत शब्द विस्तार को व्यक्त करता है।

इस प्रकार लोकायत सामाजिक मान्यता और स्वीकृति का वाचक है। अनात्म से आभास होता है कि इस मत में अदृश्य आत्मा का कोई अस्तित्त्व नहीं माना जाता;

शरीर को ही आत्मा स्वीकार किया जाता है जो भारतीय परंपरा के अनुसार अस्वीकार्य है। यही कारण है कि इस शरीरात्म संप्रदाय को लोगों ने अनात्म का नाम दे दिया। फिर भी इस मत का सर्वाधिक प्रचलित और स्वीकार्य नाम 'चार्वाक दर्शन' है।

चार्वाक दर्शन – पदार्थ विज्ञान

चार्वाक दर्शन के सिद्धांतों और मान्यताओं का कोई निश्चित ग्रंथ संप्रति उपलब्ध नहीं है। इसकी जानकारी अनेक धर्म और दर्शन ग्रंथों में उद्धरणों और कटाक्ष के रूप में प्राप्त होती है। पुराणों, जैन व बौद्ध शास्त्रों और वैदिक दर्शन संप्रदायों के अनेक ग्रंथों में सूत्रों के रूप में चार्वाक दर्शन पर सामग्री उपलब्ध होती है। इनमें से अधिकांश सूत्र बृहस्पति द्वारा रचित हैं इसलिए इन्हें बार्हस्पत्य सूत्रों के नाम से जाना जाता है।

बृहस्पति कृत सूत्रों से चार्वाक दर्शन में स्वीकृत पदार्थ विज्ञान पर पर्याप्त आभास हो जाता है। इस तत्त्व विवेचन के अनेक सूत्र भट्ट जयराशि द्वारा लिखित ग्रंथ 'तत्त्वोपप्लवसिंह' में उपलब्ध हैं। इसके अनुसार चार्वाक दर्शन का पदार्थ चिंतन इस प्रकार है –

- **पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि।**

  यह संसार चार पदार्थों से निर्मित है– पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। ये चारों पदार्थ आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा; इन ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण किए जा सकते हैं, इसलिए चार्वाक मत में इन्हीं का ग्रहण किया गया है। यह सारा दृश्य जगत इन्हीं चार तत्त्वों से निर्मित है।

- **तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा।**

  इन्हीं चार तत्त्वों के संयोग से वृक्षों, वनस्पतियों, ऋतुओं, इन्द्रियों और उनके विषयों की उत्पत्ति होती है। भोक्ता अर्थात् मनुष्य और उसके द्वारा उपभोग्य पदार्थों का सृजन पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु नामक चार पदार्थों से ही हुआ है। इन पदार्थों के अणु ही परस्पर संयोग से इन सांसारिक पदार्थों और विषयों का निर्माण करते हैं।

- **तेभ्यश्चैतन्यम्।**

  हमारे शरीर में इन चार भूतों के अतिरिक्त जो चैतन्य विद्यमान है, वह भी इन्हीं (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) का संयोग है। इस सूक्त के माध्यम से शरीरेतर आत्मा की उपस्थिति की संभावना का निराकरण किया गया है। यह आत्मा भूतों के संयोग से निर्मित होने के कारण जन्म, वृद्धि, स्थिरता, क्षय और नाश का भी कारण है, जो आत्मा के वैदिक संदर्भ से भिन्न है।

- **किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् चैतन्यम्।**

  जिस प्रकार पौधों के बीजों और फलों से मदिरा तैयार होती है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि तत्त्वों से चैतन्य उत्पन्न होता है। ज्ञातव्य है कि शराब आदि मादक पदार्थों के निर्माण के लिए कुछ प्रकार के बीजों और फलों (अंगूर, सेब आदि) का किण्वन किया जाता है। इस प्रक्रिया से उनमें आसवन होकर मदकारी गुण उत्पन्न हो जाता है। इसके सेवन से व्यक्ति भ्रमित हो जाता है। इसी प्रकार चार्वाक मत में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के संयोग से आत्मा उत्पन्न हो जाती है, जो जीवों को संचालित करती है।

टिप्पणी

- **चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः।**

चैतन्य यानी चेतनता या जीवन से युक्त शरीर ही पुरुष अथवा आत्मा है। यह शरीर से पृथक और अतीन्द्रिय नहीं है जैसा कि अन्य मतों में माना जाता है, अपितु शरीर ही है। शरीर के जन्म होने से आत्मा उत्पन्न होती है और शरीर के नाश होने पर इसका भी अस्तित्त्व नहीं रहता। आत्मा की अस्थिरता को अगले सूत्र में और स्पष्ट किया गया है।

- **जलबुद्बुदवज्जीवाः। (जलबुद्बुदवत्+ जीवाः)**

संसार के जीव पानी के बुलबुले के समान अस्थिर हैं। यहां जीव का तात्पर्य शरीर के साथ आत्मा से भी है। वास्तव में चार्वाक मतावलम्बी शरीर से पृथक किसी आत्मा के अस्तित्त्व में विश्वास ही नहीं रखते इसलिए इस सूत्र में केवल जीव शब्द का प्रयोग किया गया है।

- **परलोकिनो अभावात् परलोकस्य अभावः।**

जीव का अस्तित्त्व शरीर रहने तक ही है, इसलिए मरण के उपरांत परलोक गमन जैसी कोई बात नहीं होती। परलोक जाने वाले जीव के न होने से परलोक की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इस सूत्र द्वारा संकेत किया गया है कि इस संसार से अलग अन्य कोई लोक नहीं है, इसलिए कर्म के शरीरांतर परिणाम की कोई सम्भावना नहीं है। इस प्रकार कर्म के बंधन और कर्म के अनिवार्य फल के मत का खंडन किया गया है।

- **मरणमेव अपवर्गः।**

जीव के शरीर का समाप्त हो जाना ही उसकी अन्तिम गति है। एक बार मृत जीव किसी स्थिति में जन्म धारण नहीं करता। इस सूत्र द्वारा वैदिक परंपरा के पुनर्जन्म के मत का खंडन किया गया है। इसका संदेश है कि धर्म, दर्शन, परंपरा आदि में जिन कर्मकाण्डों का प्रावधान किया जाता है और जिनका परिणाम स्वर्ग आदि के रूप में स्वीकार किया जाता है, वह सब व्यर्थ है, निरर्थक है। इसी सूत्र पर आश्रित अधोलिखित प्रचलित श्लोक की रचना भी चार्वाक मुनि द्वारा कही जाती है–

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

(जब तक जीना है सुख से जीना चाहिए, उधार लेकर घी पीना चाहिए अर्थात् स्वास्थ्यवर्धक वस्तुओं का उपभोग करना चाहिए। शरीर के भस्म हो जाने के बाद फिर लौटना कैसे हो सकता है?)

- **धूर्तप्रलापस्त्रयी स्वर्गोपादकत्वेन विशेषाभावात्।**

विशेष सुख के स्थान स्वर्गादि की बात कहने वाले वेदवचन धूर्तों का प्रलाप है। स्वर्ग में वासन्ती पवन, सम शीतोष्ण मौसम, युवा और आकर्षक स्त्रियों आदि जिन सुखों के होने का वर्णन किया जाता है, वे सब पृथ्वी पर भी उपलब्ध हैं, इसलिए उनके लिए किसी स्थान विशेष की कल्पना करना व्यर्थ है। जिन शास्त्रों में इस प्रकार के लोकोत्तर स्थानों का वर्णन पाया जाता है, वे सब कपोल कल्पित हैं।

प्रस्तुत वर्णन से आभास होता है कि चार्वाक दर्शन का पदार्थ विज्ञान केवल इन्द्रियगत अनुभवों पर ही आधारित है। इस मत में इन्द्रियातीत अनुभवों का कोई स्थान

नहीं है। यहां तक कि मन, बुद्धि, चित्तादि में व्याप्त वृत्तियों से होने वाले आभासों को भी मान्यता नहीं दी गई है। इस प्रकार चार्वाक दर्शन केवल एक प्रमाण यानि प्रत्यक्ष प्रमाण को मान्यता देता है। (प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्)। यह मत केवल उन्हीं लोगों को मान्य हो सकता है जो गहन विचार और मनस्साधना में असमर्थ हों और केवल सामने दिखने और सुनाई देने वाले विषयों को ही समझ सकते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

15. चार्वाक दर्शन के अनुसार पदार्थों की संख्या कितनी है?

    (क) तीन (ख) चार

    (ग) पांच (घ) दो

16. चार्वाक मतानुसार आत्मा की उत्पत्ति किसके बाद होती है।

    (क) शरीर (ख) मन

    (ग) बुद्धि (घ) अहंकार

2.10 जैन दर्शन

यद्यपि जैन दर्शन में सनातन धर्म की मूर्ति–पूजा को भी पर्याप्त स्थान मिला है, तथापि वेदानुकूलता के अभाव में इसे भी नास्तिक दर्शनों में परिगणित किया जाता है।

2.10.1 जैन दर्शन – सामान्य परिचय

जैन शब्द की उत्पत्ति जिन शब्द से हुई है जिसका अर्थ है विजयी या जीतने वाला। जिन वे हैं जिन्होंने इन्द्रियों और विषयों पर विजय प्राप्त कर ली है अर्थात् उनके प्रति राग, द्वेष, भय आदि से मुक्त हो गए हैं। इस कोटि के महापुरुषों को तीर्थंकर भी कहा जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ है– पार हो जाने वाला। इसका भाव भी जिन के समान ही है। जैन मान्यता के अनुसार जिनों या तीर्थंकरों की कुल संख्या चौबीस है, जिनमें ऋषभदेव या आदिनाथ प्रथम और वर्धमान महावीर अन्तिम हैं। इनमें से अन्तिम यानी भगवान महावीर को छोड़कर अन्यों के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। इसका कारण है कि भगवान महावीर से पहले यानी तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ जी का जन्म ईसा से लगभग तीन हजार अर्थात् महावीर से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व का माना जाता है। इस क्रम से सभी तीर्थंकरों के समय में अंतर को माना जाए तो जैन धर्म वैदिक युग जितना प्राचीन सिद्ध होता है।

वर्धमान महावीर सभी तीर्थंकरों में अन्तिम और सुपरिचित हैं। उनका जन्म ईसा से लगभग छह सौ वर्ष पूर्व वैशाली जनपद कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ के पुत्र के रूप में हुआ था। यह स्थान अब बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में पड़ता है। इनकी माता का नाम त्रिशला था। इनके विवाह के विषय में जैन मतों में एकरूपता नहीं पाई जाती। किन्तु यह सर्वमान्य है कि विनम्र और करुण स्वभाव वाले वर्धमान लगभग तीस वर्ष की अवस्था में घर त्याग कर सत्य की खोज में निकल पड़े थे। लगभग बारह वर्षों की कठिन साधना और तपस्या के बाद उन्हें जगत और जीवन

के तथ्यों का साक्षात्कार हुआ। उनके समस्त भ्रम और संदेह समाप्त हो गए जिसके बाद उन्हें महावीर कहा जाने लगा। इसके उपरांत उन्होंने भ्रमण और उपदेश के माध्यम से अपने विचारों का प्रसार किया। वर्तमान बिहार के ही पावापुरी नामक स्थान पर बहत्तर वर्ष की अवस्था में कार्तिक अमावस्या की सुबह उनका देहावसान हुआ। भगवान बुद्ध की ही भांति वर्धमान महावीर को भी विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकार किया जाता है।

आज जैन धर्म के अनेक संप्रदाय प्रचलित हैं जिनमें श्वेताम्बरी, दिगम्बरी, तेरापन्थी, शृंगारी आदि मुख्य हैं। ये अंतर साधना और भगवान महावीर के प्रति दृष्टिकोण के विषय में ही है; दर्शन के सम्बन्ध में सभी मतान्तरों के विचार एक समान हैं। दार्शनिक विचारों और आचार शास्त्र की दृष्टि से जैन दर्शन अत्यन्त गहन और सूक्ष्म है। इसके अनेक सिद्धांतों को आधुनिक वैज्ञानिक तथ्यों से जोड़कर देखा जाता है। अनेक विषयों में जैन दर्शन परंपरागत वैदिक मान्यताओं को स्वीकार करता है लेकिन कुछ मूलभूत विषयों में जैन दार्शनिकों का स्वतन्त्र दृष्टिकोण है। इस मतान्तर के विषय में जैन विचारकों के अपने तर्क हैं जो सुविचारित और न्यायसम्मत हैं। सारतः कहा जा सकता है कि जैन दर्शन पर्याप्त विस्तृत, विचारपूर्ण, तर्कसम्मत और गम्भीर है। इस मत में दार्शनिकों और दर्शनग्रंथों की संख्या भी पर्याप्त है जिससे इस दर्शन की सूक्ष्मताओं के विषय में विस्तार से जाना जा सकता है।

2.10.2 जैन दर्शन – अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

अनेकान्तवाद जैन दर्शन के मुख्य आधारों में से एक है। इसका तात्पर्य है कि संसार में कोई भी व्यक्ति या पदार्थ एक ही प्रकार का या जैसा वह दिखाई दे रहा है, वैसा नहीं होता। दृष्टिकोण के बदलने से पदार्थ के प्रति दृष्टि बदल सकती है। हम प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति के विषय में अपनी राय किन्हीं कारणों से स्थापित करते हैं। इन कारणों के बदलने से राय और विचार भी बदल जाते हैं। इस मत के माध्यम से संसार के समस्त विरोधों का सहज समन्वय संभव है। जो व्यक्ति किसी भी मत, विचार, व्यक्ति या विचारधारा में विकल्प की संभावना रखता है वह कदापि राग, द्वेष, वैमनस्य और हठ जैसे विकारों में नहीं बंधता और सर्वत्र आसानी से समायोजित हो सकता है। यही इस अनेकान्तवाद की विशेषता है। प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने अपनी पुस्तक 'भगवान महावीर एवं जैन दर्शन' में स्पष्ट किया है कि अनेकान्तवाद एकांगी विचार और आग्रह के विपरीत समग्रबोध और अनाग्रह का द्योतक है।

स्याद्वाद अनेकान्तवाद का ही अग्रिम रूप है, जिसमें अनेकान्त के विकल्पों का स्पष्ट कथन किया गया है। इस कथन का मूल मन्त्र है कि प्रत्येक वस्तु और विचार का अस्तित्त्व अन्य वस्तुओं और विचारों की अपेक्षा से होता है। यह अपेक्षा इतनी लचीली हो सकती है कि इसमें सात विकल्प रखे जा सकते हैं। ये विकल्प स्यात् (शायद) की भावना को लेकर चलते हैं और इसी शब्द से आरंभ होते हैं, इसलिए इसे स्यात् वाद या सप्तभंगी न्याय के नाम से जाना जाता है। स्याद्वाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए 'भगवान महावीर एवं जैन दर्शन' पुस्तक के रचयिता प्रोफेसर

महावीर सरन जैन ने विचार व्यक्त किया है कि स्यात् शब्द शायद, सम्भावना और कदाचित् के अर्थ के साथ संशय को व्यक्त नहीं करता अपितु किसी विषय को अपेक्षा से कथन करने की विधि है। यह अनेक गुण वाले पदार्थों, व्यक्तियों या विचारों के किसी एक ही पक्ष की अपेक्षा अन्यान्य पक्षों को स्पष्ट करने का विधान है। स्याद्वाद या सप्तभंगी न्याय का स्वरूप इस प्रकार है–

1. **स्यात् अस्ति** – किसी वस्तु की अपेक्षा से कोई वस्तु विद्यमान है।
2. **स्यान्नास्ति** – किसी वस्तु की अपेक्षा से कोई वस्तु विद्यमान नहीं है।
3. **स्यादस्ति च स्यान्नास्ति** – किसी वस्तु की अपेक्षा से कोई वस्तु विद्यमान है और नहीं भी है। यह विद्यमानता और अविद्यमानता की समवेत स्थिति है।
4. **स्यात् अव्यक्तव्यम्** – किसी वस्तु की अपेक्षा से किसी अन्य वस्तु का स्वरूप स्पष्ट नहीं है।
5. **स्यादस्ति च स्यात् अव्यक्तव्यं च** – किसी वस्तु की अपेक्षा अन्य वस्तु का स्वरूप है और अव्यक्त भी है।
6. **स्यान्नास्ति च स्यात् अव्यक्तव्यं च** – यह नियम दूसरे और चौथे नियमों के समन्वय से निर्मित है। इसके अनुसार किसी वस्तु की अपेक्षा से कोई वस्तु विद्यमान नहीं है और उसका स्वरूप भी स्पष्ट नहीं है।
7. **स्यादस्ति च स्यान्नास्ति च स्यात् अव्यक्तव्यं च** – यह नियम तीसरे और चौथे नियमों या भंगों के संयोग से निर्मित है। इसका भाव है कि किसी वस्तु की अपेक्षा से कोई वस्तु विद्यमान है और नहीं भी है। इस प्रकार उस वस्तु का स्वरूप स्पष्ट नहीं है।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि इस संसार की किसी वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति अथवा विचार का रूप निश्चित नहीं है। यदि हम उसे कोई निश्चित रूप देने का प्रयास करते हैं तो उसकी समग्रता और विस्तार को सीमित करते हैं। इससे विवाद और कलह उत्पन्न होते हैं। जैन दर्शन अहिंसा पर ही निर्मित और केन्द्रित है। इसलिए विचार और विचारधारा के स्तर पर भी वह किसी प्रकार का मतभेद और वैमनस्य की संभावना नहीं रखना चाहता। अनेकांतवाद और स्याद्वाद इस स्थिति के उत्तम उदाहरण हैं।

2.10.3 जैन दर्शन – जीव, बंध और मुक्ति का सिद्धांत

जैन दर्शन में जीव को भी एक पदार्थ माना गया है जो मुक्त और संसारी के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से मुक्त जीव संसार के जन्म, मरण, कर्म और कर्मफल के बंधन से विमुक्त होता है जबकि संसारी पुरुष आस्रव यानी पूर्वकर्म के बंधन के कारण नए कर्म करता है और उनके फल भोगता है। संसारी जीव कर्मफल के कारण कभी स्थावर यानी वृक्षादि का रूप धारण करता है तो कभी मनुष्य और पशु–पक्षी के रूप में गतिमान जीवन जीता है। जैन धर्म के अनुसार तीर्थंकर मुक्त पुरुष हैं जो जन्म, मरण, कर्म और कर्मफल से मुक्त हैं जबकि शेष जीव इस दिशा में प्रयासरत हैं और इसीलिए संसारी कहलाते हैं।

बंध का अर्थ है जीव और कर्म का परस्पर संयोग। यह संयोग किसी के हाथ में मौजूद लेखनी या भोजन का नहीं अपितु चेहरे पर मौजूद आंख, नाक, कान आदि अवयवों जैसा अवयव–अवयवी सम्बन्ध है। अन्य शब्दों में कहें तो यह पानी और दूध या दूध और चीनी जैसा रासायनिक सम्बन्ध है जिसे किसी उपाय से विभक्त नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार दूध और पानी के मिश्रण से दूध और पानी दोनों में परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार जीव और कर्म के संयोग से जीव कर्मफलबद्ध और कर्म सफल या फलप्रद हो जाता है। जीव के अभाव में कर्म की सत्ता नहीं हो सकती और कर्म के बिना जीव का अस्तित्व रह पाना असंभव है। इस प्रकार जीव और कर्म का बंध अर्थात् संयोग शाश्वत और अविभाज्य है। याद रखना चाहिए कि कर्म के प्रभाव से ही मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है।

मोक्ष का अर्थ है सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना (कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः – उमास्वामी)। मोक्ष का शाब्दिक अर्थ है मुक्त हो जाना या छूट जाना। इसका स्पष्ट संकेत है कि यह स्थिति एक विधायक स्थिति है जो कल्याण की प्राप्ति की ओर इशारा करती है। यह मुक्ति वस्तुतः कर्मों, कर्मबंधन और कर्मफल से मुक्ति है जिससे जीव अपनी वास्तविक दशा को उपलब्ध हो जाता है। इस स्थिति का वर्णन करते हुए जैन दर्शन में कहा गया है कि मोक्ष को उपलब्ध व्यक्ति अनन्त चतुष्टय का अधिकारी हो जाता है, अर्थात् वह अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त दर्शन तथा अनन्त सुख को प्राप्त करता है। ऐसा व्यक्ति इस संसार में जीवन यापन करता हुआ भी परम मंगल के कार्यों में लगा रहता है। वह स्वयं तो मोक्ष को उपलब्ध होता ही है साथ ही अन्य संसारी व्यक्तियों को भी मोक्ष की उपलब्धि की प्रेरणा देता है। इस श्रेणी के जीवों को ही तीर्थंकर कहा जाता है।

सारतः कहा जा सकता है कि जैन दर्शन के अनुसार जीव इस संसार के मुख्य अवयवों में से एक है जो मुक्त और संसारी के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से मुक्त जीव कर्म और कर्मफल के बंधनों से रहित होता है जबकि संसारी पुरुष कर्म और कर्मबंध से आबद्ध रहता है। बंध जीव और कर्म का परस्पर संयोग है। यह रासायनिक परिवर्तनों की भांति अपरिवर्तनीय और नित्य है। इसी संयोग से जीव और कर्म की सार्थकता होती है। मोक्ष कर्म और कर्मफल से वियुक्त होने की स्थिति है जिसमें जीव अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त दर्शन तथा अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

अपनी प्रगति जांचिए

17. स्याद्वाद में कुल न्याय कितने हैं?

    (क) तीन (ख) चार

    (ग) पांच (घ) सात

18. पूर्वकर्म बंधन को जैन मत में क्या कहा गया है?

    (क) आस्रव (ख) आश्रय

    (ग) आधार (घ) निमित्त

2.11 बौद्ध दर्शन – सामान्य परिचय

भारतीय नास्तिक दर्शनों में दूसरा स्थान बौद्ध दर्शन का है। अपनी तत्त्वगहनता और प्रामाणिकता के चलते यह धर्म विश्व के मान्य संप्रदायों में शामिल है। इसका प्रादुर्भाव ईसा से लगभग छह शताब्दी पूर्व भारत में हुआ था। इसे यहां के अनेक राजाओं ने स्वयं स्वीकार किया और देश–विदेश में इसके प्रचार–प्रसार के लिए अथक प्रयास किए। इसके परिणामस्वरूप आज यह मत भारत और भारत से भी अधिक विदेशों में प्रचलित है। भारत के बाहर चीन, जापान, श्रीलंका, कोरिया, थाईलैण्ड, बर्मा और यूरोप के अनेक समृद्ध देशों में बौद्ध मत के अनुयायी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। समय के साथ बौद्ध धर्म अनेक संप्रदायों में विभक्त हो गया। हीनयान, महायान, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचारी आदि में विभक्त होता गया। आजकल इस धर्म की लगभग एक हजार शाखाएं प्रचलित हैं।

इसके संस्थापक गौतम बुद्ध (पूर्वनाम सिद्धार्थ) बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व आजकल के पूर्वी उत्तर प्रदेश में स्थित कौशल नामक नगर के राजकुमार थे। इनके पिता का नाम शुद्धोदन और माता का नाम महामाया था। गौतम के जन्म के कुछ दिनों बाद ही महामाया चल बसीं। इसके बाद बालक सिद्धार्थ का लालन–पालन शुद्धोदन की दूसरी पत्नी गौतमी ने किया। इसीलिए सिद्धार्थ का अपरनाम गौतम प्रसिद्ध हो गया। इनका विवाह राजकुमारी यशोधरा से हुआ जिससे राहुल नाम का पुत्र प्राप्त हुआ। लगभग तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने जीवन में पहली बार अपने महलों के बाहर की यात्रा की। इस दौरान उन्होंने एक वृद्ध, एक रोगी, एक मृत और एक संन्यासी को देखा। चूंकि उन्होंने ये दृश्य पहली बार देखे थे; इसलिए उनके हृदय पर इनका गहन प्रभाव हुआ और वे गहन वेदना अनुभव करने लगे। अंततः उन्होंने अपने मन में उठते प्रश्नों का समाधान पाने के लिए घर छोड़ दिया। छह वर्षों के भटकाव और गहन साधना के उपरांत वैशाख पूर्णिमा की सुबह उन्हें संबोधि प्राप्त हुई और वे बुद्ध कहलाए। अपने अनुभवों को जन सामान्य तक पहुंचाने के लिए उन्होंने प्रवचन और साधना का साधन अपनाया। वे इतिहास के प्रथम संन्यासी थे जिन्होंने अपने माता, पिता, पत्नी, भाई और अन्य सम्बन्धियों को भी अपना शिष्य बनाया। उनके जीवन की तीन विशेष घटनाएं नामतः जन्म, बुद्धत्व और परिनिर्वाण एक ही तिथि – कार्तिक पूर्णिमा को हुईं, इसलिए बौद्ध धर्म में इस दिन का परम महत्त्व है। पौराणिक हिन्दू मान्यता में भगवान बुद्ध को विष्णु के नौवें अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है।

बौद्ध दर्शन मूलतः चार आर्य सत्यों पर आधारित है। ये हैं – (1) दुःख है। (2) दुःख किसी कारण से उत्पन्न होता है। (3) दुःख का निराकरण किया जा सकता है। और (4) दुःख निवारण का मार्ग है और इस मार्ग का अनुसरण करके दुःख से निवृत्त हुआ जा सकता है। दुःख निवारण मार्ग के आठ चरण हैं इसलिए इसे 'अष्टांग मार्ग' कहा जाता है। इनका परिचय इस प्रकार है–

1. **सम्यक् ज्ञान** – दुःख की अनिवार्यता आदि चार आर्य सत्यों को यथारूप समझना।
2. **सम्यक् संकल्प** – दुःख के निवारण के लिए कठोर निश्चय करना।

3. **सम्यक् वचन** – दुःख निवारण मार्ग के पालन के लिए सत्यादि व्रतों के पालन की प्रतिबद्धता।
4. **सम्यक् कर्मान्त** – हिंसा, असत्य, निन्दा आदि निषिद्ध कर्मों का पूर्णतः त्याग।
5. **सम्यक् आजीव** – अपने अधिकार, कर्त्तव्य और न्याय के अनुसार आजीविका का अर्जन।
6. **सम्यक् व्यायाम** – शरीर के स्वास्थ्य और शक्ति के प्रति सचेत रहना।
7. **सम्यक् स्मृति** – कर्तव्य और दुःख निवारण मार्ग के अनुपालन के लिए मन से तैयार रहना।
8. **सम्यक् समाधि** – अपने मार्ग के परिपालन के प्रति एकनिष्ठ और व्रतबद्ध रहना।

बौद्ध दर्शन – चार आर्य सत्य

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है; बौद्ध मत और दर्शन में चार आर्य सत्यों की केन्द्रीय भूमिका है। ये आर्य सत्य धर्म, दर्शन और आचार संहिता के कारण हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार इन चार आर्य सत्यों से ही संसार और मनुष्य की सत्ता का उद्देश्य सिद्ध होता है–

- **दुःखम्।**

  दुःख है, यह बौद्ध दर्शन का पहला आर्य सत्य है। जीवन में रोग, शोक, अप्रिय अनुभव, प्रिय वियोग, मरण आदि अनन्त दुःख कारण हैं।'पंच स्कन्ध' (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) इनके कारण हैं। बुद्ध ने जीवन के दो पहलुओं सुख और दुःख में से दुःख को अपने दर्शन और निर्वाण साधना का माध्यम बनाया क्योंकि वे जानते थे कि सुख की अपेक्षा दुःख ज्यादा व्यापक और प्रभावकारी है। सुख का अनुभव स्वयं दुःख की आशंका से घिरा होने के कारण दुःखमय हुआ रहता है। दुःख को माध्यम बनाना सुख को माध्यम बनाने की अपेक्षा सरल और सहज था।

- **दुःख–समुदयः।**

  दुःख का कारण – तृष्णा और भय; यह बौद्ध दर्शन का दूसरा आर्य सत्य है। इसका संबंध उन कारणों से है जिनके कारण दुःख उत्पन्न होता है। इनमें तृष्णा का स्थान सर्वोपरि है। एक बार दुःख की उपस्थिति और व्यापकता स्वीकार करने के बाद वे साधक को उसके मूल कारण से परिचित कराते हैं। कारण के समाप्त होने से कार्य स्वयं ही समाप्त हो जाएगा। इसलिए वे विश्वास दिलाते हैं कि जिस प्रकार दुःख का होना सत्य और अवश्यंभावी है उसी प्रकार दुःख का कारण भी अनिवार्य सत्य है।

- **दुःख–निरोधः।**

  तृष्णा, कामना या इच्छा का निरोध दुःख से पार होने का मार्ग है। बुद्ध के अनुसार दुःख किन्हीं स्थितियों या व्यक्तियों के कारण नहीं अपितु मनुष्य की अपनी इच्छाओं और वासनाओं के कारण होता है। इस संदर्भ को उनके जीवन के एक अनुभव से समझा जा सकता है। बुद्ध रास्ते से जा रहे थे कि उनके किसी विरोधी ने उन्हें दुर्वचन कहने आरंभ किए। बुद्ध बिना किसी प्रतिक्रिया के सुनते रहे। कुछ देर बाद वह व्यक्ति चुप हो गया तो बुद्ध ने पूछा – तुम्हारी बात समाप्त हो गई हो तो मैं आगे बढ़ूं? वह व्यक्ति लज्जित होकर क्षमा मांगने लगा।

बुद्ध ने कहा कि क्षमा तुम अपने से मांगो क्योंकि मैं तो बीच में कहीं था ही नहीं। न मैंने तुम्हारी बातों को ग्रहण किया और न ही मैं क्षमा करने में समर्थ हूं। जो कुछ किया तुम्हीं ने किया। इस उदाहरण से उन्होंने सिद्ध किया कि दुःख, लज्जा आदि कष्ट स्वयं के कारणों से होते हैं और ये कारण हमारे स्वार्थ से उत्पन्न होते हैं किसी अन्य के कारण नहीं।

- **दुःख–निरोध–गामिनी प्रतिपद्।**

  दुःख निवारण मार्ग का आचरण बौद्ध दर्शन का चौथा और अन्तिम सत्य है। यह आठ नियमों वाला है इसलिए अष्टांग मार्ग कहलाता है। इस मार्ग का अनुसरण करते हुए व्यवहार्य सावधानी का उल्लेख करते हुए भगवान बुद्ध का संदेश है कि इस पथ के साधक को अतिसीमाओं के अतिक्रमण से बचना चाहिए। इनमें पहली है शरीर को सुख देने के लिए अतिकाम में लिप्त होना और दुःख निरोध के लिए शरीर को अतिकष्ट देना। इन्हीं कारणों से भगवान बुद्ध के अष्टांग मार्ग को मध्यम मार्ग कहा जाता है। बुद्ध के अनुसार चार आर्य सत्यों के साक्षात्कार और अष्टांग मार्ग के अनुसरण से चक्षु, ज्ञान, प्रज्ञा, विद्या और आलोक की उपलब्धि होती है। यही संबोधि है, जिससे चित्त निर्विकार और सम्बुद्ध हो जाता है। यही निर्वाण है।

प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन मूल रूप से जीवन के दुःखमय स्वरूप को स्वीकार करता है। इस स्वीकृति के उपरांत वह मानता है कि दुःख अकारण नहीं अपितु सकारण है और उसका कारण तृष्णा और भय जैसी वासनाएं हैं, जो व्यक्ति के भीतरी जगत का अंग हैं। ये वासनाएं अजेय नहीं हैं। इनके कारण का दमन करके इन्हें नष्ट किया जा सकता है। इस स्थिति को दुःख निरोध का नाम दिया गया है। अन्तिम स्थिति दुःख निरोध के मार्ग का अनुपालन है जिसे अष्टांग मार्ग के नाम से अभिहित किया जाता है। इस साधना के अन्तिम चरण पर साधक की प्रज्ञा का उदय हो जाता है जिसे सम्बोधि दशा कहा जाता है। इसकी उपलब्धि ही जीवन का लक्ष्य है।

अपनी प्रगति जांचिए

19. बौद्ध मत के अनुसार दुःख निवारण के कितने चरण हैं?

    (क) चार (ख) छह

    (ग) सात (घ) आठ

20. बौद्ध मत के अनुसार आर्य सत्य कितने प्रकार के बताए गए हैं?

    (क) दो (ख) चार

    (ग) पाँच (घ) तीन

2.12 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (ग)

4. (क)
5. (ख)
6. (ख)
7. (ख)
8. (क)
9. (ख)
10. (ग)
11. (घ)
12. (क)
13. (क)
14. (ग)
15. (ख)
16. (क)
17. (घ)
18. (क)
19. (घ)
20. (ख)

2.13 सारांश

सत्य की खोज, तत्त्व का अन्वेषण अथवा आत्मा का ज्ञान ही भारतीय दर्शन का परम लक्ष्य है। भारतीय दर्शन के अनुसार, आत्मा एवं ब्रह्म का ज्ञान ही सत्य को जानना है। इस सत्य के साक्षात्कार से ही ब्रह्मानंद की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। इसे पाकर और कुछ पाना बाकी नहीं रहता। आत्मा का आनंद ही मोक्ष है और यह मोक्ष ही मानव–जीवन का उद्देश्य है। मनुष्य को इस यथार्थ से अवगत कराना ही भारतीय दर्शन का लक्ष्य है। दर्शन भारतीय चिंतन–परंपरा का सबसे उत्कृष्ट अवदान है। अन्य समस्त भारतीय ज्ञान धारा की भांति ही दर्शनशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास का क्रम निर्धारित करना भी दुष्कर है।

भारतीय दर्शन मूल रूप से दो वर्गों में विभक्त है– (क) आस्तिक दर्शन और (ख) नास्तिक दर्शन। आस्तिक और नास्तिक से क्या अभिप्राय है। वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास करने वाले आस्तिक कहलाए और अविश्वास करने वाले नास्तिक कहे गए। वेदों को प्रामाणिक मानने के कारण न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त आस्तिक दर्शन की कोटि में आते हैं और वेदों की प्रामाणिकता का निषेध करने वाले चार्वाक, जैन, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक नास्तिक दर्शन वर्ग में गिने जाते हें। दोनों ही वर्गों में छह दर्शन हैं। इसलिए, भारतीय दर्शन को षड्‌दर्शनसमुच्चय भी कहा जाता है।

भारत के प्राचीनतम दर्शन संप्रदायों में सांख्य दर्शन का विशिष्ट स्थान है। इसके प्रवर्तक आचार्य कपिल मुनि हैं। अपने प्रारंभिक काल में सांख्य ईश्वरवादी और वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास करने वाला था। अपने मध्ययुग में बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रभाव की अतिशयता के कारण संभवतः यह वस्तुवादी और अनीश्वरवादी हो गया। इसीलिए, शंकराचार्य एवं बादरायण जैसे मनीषियों ने इसका खंडन करते हुए इसे वेदान्त दर्शन का प्रतिपक्षी माना।

मनुष्य जीवन की सार्थकता त्रिविध दुःखों, क्लेशों, वासनाओं एवं अतृप्ति से मुक्त होकर पुरुषार्थ–चतुष्टय द्वारा सच्चिदानंद की प्राप्ति में है। योग दर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने भारतीय शास्त्रों के अनुसार इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विभिन्न प्रकार के साधनों का उल्लेख किया है, जिनमें योग को उच्चतर माना गया है क्योंकि यह पूर्ण रूप से व्यावहारिक एवं क्रियात्मक है।

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद हैं। भारतीय दर्शन की इस धारा के नामकरण के विषय में अनेक तरह के मत हैं। वैशेषिक सूत्र के भाष्यकार चन्द्रकान्त तर्कालंकार के अनुसार अन्य दर्शनों की अपेक्षा इस दर्शन में विशिष्ट तत्त्वों का विनिवेश कर उनकी व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण इसका नाम वैशेषिक पड़ा। सर्वमान्य मत यह है कि 'विशेष' नामक पदार्थ को मान्यता देने के कारण ही इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा।

महर्षि गौतम द्वारा प्रवर्तित दर्शन न्याय दर्शन कहलाता है। अनुमान प्रकरण में 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन' इन पांच अवयवों से युक्त न्यायवाक्य को प्रधानता देने के कारण इस दर्शन को न्याय दर्शन कहते हैं– पञ्चावयवोपेतवाक्यात्मको न्यायः।' (न्यायाभाष्य, 1.1.1) न्यायशास्त्र को 'आन्वीक्षिकी', 'हेतुविद्या' तथा 'न्यायविद्या' आदि नामों से भी जाना जाता है। न्याय दर्शन आध्यात्मिक समस्याओं का आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचन करता है। वैदिक धर्म के यथार्थ स्वरूप का अनुसंधान ही इसकी सर्वोच्च उपादेयता है।

वैशेषिक दर्शन में संसार की सृष्टि परमाणुओं से मानी गई है। परमाणुओं के पारस्परिक संयोग से ही विभिन्न प्रकार के पदार्थों की रचना होती है और सृष्टि का उद्भव होता है तथा जब ये परमाणु एक–दूसरे से अलग हो जाते हैं तो वह प्रलय का काल होता है। महर्षि कणाद ने सृष्टि की संरचना के लिए द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय– इन छह पदार्थों को महत्त्वपूर्ण माना है। वैशेषिक दर्शन में इन्हीं पदार्थों की विवेचना की गई है।

समस्त भारतीय दर्शनों में अद्वैतवेदान्त शीर्षस्थ दर्शन है। वेदान्त का अर्थ है वेद का अंत अथवा सिद्धांत। वेदों का अंतिम भाग उपनिषद है और वेदान्त वैदिक उपनिषदों के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन करता है। दर्शन की इस धारा को उत्तर मीमांसा भी कहते हैं, किंतु यह जैमिनि के पूर्व मीमांसा का पूरक न होकर एक स्वतंत्र शास्त्र है।

मीमांसा दर्शन का प्रथम सूत्र है– 'अथातो धर्मजिज्ञासा।' मीमांसा दर्शन का प्रमुख विवेच्य विषय धर्म ही है। महर्षि जैमिनि ने धर्म का लक्षण बताते हुए कहा है–

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' अर्थात् प्रेरक वचन अथवा विधिवाक्य द्वारा बोधित, शास्त्रों द्वारा प्रतिपाद्य विषयों को धर्म कहते हैं। मीमांसा दर्शन के अनुसार शुभ प्रयोजन से विहित यज्ञादि कर्म ही धर्म और वेद ही धर्म का मूल है– 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।'

नामतः चार्वाक, जैन और बौद्ध तीन नास्तिक दर्शन हैं। चार्वाक दर्शन केवल इन्द्रियगत अनुभवों पर ही आधारित है। इस मत में इन्द्रियातीत अनुभवों का कोई स्थान नहीं है। यहां तक कि मन, बुद्धि, चित्तादि में व्याप्त वृत्तियों से होने वाले आभासों को भी मान्यता नहीं दी गई है। चार्वाक दर्शन केवल एक प्रमाण यानि प्रत्यक्ष प्रमाण को मान्यता देता है। अपनी उत्पत्ति के बाद से ही इस मत के अनुयायियों की संख्या काफी सीमित रही है और आज भी इसके मानने वालों की संख्या नगण्य है।

जैन शब्द 'जिन' से बना है जिसका अर्थ है विजेता या जीतने वाला। तदनुसार यह धर्म उन महापुरुषों के विचारों और आचरण पद्धति का अनुसरण करता है जिन्होंने इन्द्रियों और विषयों पर विजय प्राप्त कर ली है और राग, द्वेष, भय आदि से मुक्त हो गए हैं। इस कोटि के महापुरुषों को तीर्थंकर भी कहा जाता है। जैन दर्शन में संसार के घटक पदार्थों का सूक्ष्म और तार्किक विवरण उपलब्ध होता है। यहां मनुष्य, मनुष्येतर जीवों, वृक्ष–वनस्पति, नदी, पहाड़ आदि समस्त तत्त्वों के निर्माण के लिए पदार्थ, कारण और परिणाम की पूरी व्यवस्था का विधान उपलब्ध है। जैन दर्शन अहिंसा के विचार को सर्वोपरि मानता है इसलिए इसमें अनेकांतवाद और स्याद्वाद जैसे तत्त्व हैं जो संसार की किसी वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति अथवा विचार को अनेक पक्षों या दृष्टिकोणों से देखने का उपाय उपलब्ध कराते हैं। इन उपायों के अनुपालन से किसी प्रकार के मतभेद और वैमनस्य की संभावना नहीं रह जाती। इस प्रकार का जीवन कर्मबंध को क्षय करने के लिए उत्तम अवसर बन जाता है जिससे मोक्ष की उपलब्धि होती है। इस दशा में जीव अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त दर्शन तथा अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

बौद्ध दर्शन की स्थापना भगवान बुद्ध ने ईसा से लगभग छह सौ वर्ष पूर्व की थी। लेकिन अपनी तत्त्वगहनता और प्रामाणिकता के चलते यह धर्म आज भी विश्व के मान्य संप्रदायों में शामिल है। बौद्ध धर्म हीनयान, महायान, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचारी नामक अनेक संप्रदायों में विभक्त है। यह दर्शन मूल रूप से जीवन के दुःखमय स्वरूप को स्वीकार करता है। तृष्णा और भय जैसी वासनाएं इस दुःख का कारण हैं। इस दुःख को 'दुःख निरोध मार्ग' का अनुपालन करके समाप्त किया जा सकता है। यह मार्ग आठ साधनाओं से युक्त है और अष्टांग मार्ग के नाम से जाना जाता है। इस साधना द्वारा भिक्खु की प्रज्ञा का उदय हो जाता है और वह सम्बोधि दशा को प्राप्त होता है।

2.14 मुख्य शब्दावली

- **उत्स** : स्रोत।
- **त्रिगुण** : प्रकृति के तीन गुण– सत्त्व, रज और तम।
- **पंचज्ञानेन्द्रिय** : नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना व त्वचा।

- **पंचकर्मेन्द्रिय** : वाणी, हाथ, पैर, गुदा व उपस्थ।
- **चित्त** : अंतःकरण।
- **जागतिक** : जगत से संबंधित।
- **वेदविहित** : वेद में बताये गए।
- **धृति** : धारण करना।
- **अनास्रव** – आस्रव (मल) से रहित।
- **आस्तिक** – वैदिक मत पर आधारित विचार या ईश्वर के अस्तित्त्व में विश्वास रखने वाला।
- **इन्द्रियातीत** – ज्ञान इन्द्रियों से अनुभव न होने वाला।
- **कर्मकाण्ड** – संस्कारों और ईश्वर की उपासना के लिए किया जाने वाला विधि–विधान।
- **तीर्थंकर** – जिन्होंने इन्द्रियों और विषयों पर विजय प्राप्त कर ली है
- **नास्तिक** – वैदिक मत से प्रतिकूल, ईश्वर के अस्तित्त्व में अविश्वास रखने वाला।
- **निरोध** – पूरी तरह से रोक देना।
- **पदार्थ** – शब्द से प्रतीत होने वाली वस्तु, जिस तत्त्व से अन्य वस्तुएं निर्मित होती हैं।
- **पिटक** – पिटारी, बौद्ध धर्म के उपदेश ग्रंथ।
- **लोकायत** – लोक में प्रचलित/व्याप्त।
- **सम्यक्** – भली भांति, अच्छी तरह से।
- **संघात** – परमाणुओं के संयोग से बनने वाला परमाणु समूह।
- **सास्रव** – आस्रव (मल) से युक्त।

2.15 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय दर्शन के उद्भव पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
2. आस्तिक और नास्तिक दर्शन क्या हैं? प्रमुख आस्तिक दर्शनों के नाम लिखिए।
3. सांख्य दर्शन में सांसारिक दुखों के कितने प्रकार बताए गए हैं? उदाहरण सहित लिखिए।
4. अष्टांगयोग के आठों अंगों का विवरण लिखिए।
5. वैशेषिक दर्शन का वर्ण्य विषय क्या है?
6. न्याय दर्शन के बारह प्रमेयों का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

7. अद्वैत वेदान्त मत की आचार्य परंपरा का उल्लेख कीजिए।
8. चार्वाक दर्शन पर टिप्पणी लिखिए।
9. बौद्ध दर्शन की उत्पत्ति कब व कैसे हुई?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय दर्शन की विकास–यात्रा का वर्गीकरण करते हुए सभी कालों का परिचय दीजिए।
2. सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों का विवेचन करते हुए उनकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. योग दर्शन के सिद्धांतों पर विस्तार से प्रकाश डालिए।
4. वैशेषिक दर्शन के इतिहास का उल्लेख करते हुए उसकी विशेषताओं का परिचय दीजिए।
5. न्याय दर्शन के पदार्थ विमर्श की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
6. मीमांसा दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों की विवेचना कीजिए।
7. वेदान्त दर्शन में निवेचित दार्शनिक विषयों पर सविस्तार टिप्पणी कीजिए।
8. बौद्ध दर्शन के विभिन्न अंगों का वर्णन कीजिए।
9. स्याद्वाद की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

2.16 सहायक पाठ्य सामग्री

1. बलदेव उपाध्याय, *वैदिक साहित्य और संस्कृति,* शारदा संस्थान, वाराणसी।
2. गौरीनाथशास्त्री, *ए हिस्ट्री ऑफ वैदिक लिटरेचर,* संस्कृत पुस्तक भंडार, कोलकाता।
3. चन्द्रधर शर्मा, *भारतीय दर्शन का तात्विक सर्वेक्षण,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
4. बलदेव उपाध्याय, *संस्कृत शास्त्रों का इतिहास,* चौखंबा विद्या भवन, वाराणसी।
5. ए.बी. कीथ, अनु. मंगलदेव शास्त्री, *संस्कृत साहित्य का इतिहास,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1978.
6. कानिकिशोर भरतिया, *संस्कृत नाटककार,* प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1959.
7. डॉ. नगेंद्र (संपादक), *नाट्यशास्त्र,* दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
8. कपिलदेव द्विवेदी, *प्रौढ़–रचनानुवादकौमुदी,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
9. कृष्ण लाल, वेद व्याख्या और वैदिक विचारधारा, नाग पब्लिशर्स दिल्ली, 1987
10. भिक्षु धर्मरक्षित, सुत्त निपात्, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1977.
11. महर्षि दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1988

इकाई 3 षोडश संस्कारों का परिचय

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 षोडश संस्कार
  3.2.1 संस्कार का विधान और महत्व
  3.2.2 विविध संस्कारों के नाम व रूप
  3.2.3 संस्कारों के प्रयोजन एवं उद्देश्य
3.3 अपनी प्रगति जांचिए के उत्तर
3.4 सारांश
3.5 मुख्य शब्दावली
3.6 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.7 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

प्राचीन काल से हिंदू समाज में मनुष्य के व्यक्तित्व के उत्थान के निमित्त संस्कारों का संयोजन किया गया था। जीवन में इसकी नियोजना इसलिए की गई कि मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक विकास हो सके तथा उसका दैहिक और भौतिक जीवन सुव्यवस्थित ढंग से उन्नत हो सके। व्यक्ति के असंस्कृत स्वरूप को सुसंस्कृत और अनुशासित करने के निमित्त संस्कारों की अभिव्यक्ति की गई। अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य के जीवन पर अपना कुप्रभाव डालने वाले अदृश्य विघ्नों से निरापद होने के लिए भी संस्कारों का निर्धारण समाज में किया गया। शुद्धता, आस्तिकता, धार्मिकता और पवित्रता संस्कार की प्रधान विशेषताएं मानी गई हैं। धर्म, यज्ञ और कर्मकांड इसके मूल आधार रहे। मनुष्य का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जीवन संस्कारों की निष्पन्नता से प्रभावित होता रहा है। अतः संस्कार का आधार धर्म है जिसके माध्यम से मनुष्य अपने जीवन को उन्नत, परिष्कृत और सुसंस्कृत बनाता है।

प्राचीन काल से आज तक अनेक परिवर्तनों के बाद भी हिंदू समाज में संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कारों की यह महत्ता धर्म के ही कारण है। आंतरिक और बाह्य शुद्धता, नैतिकता और आध्यात्मिकता तथा जीवन की परिशुद्धता संस्कारों के माध्यम से मानी गई। संस्कारों के विभिन्न क्रमिक रूप मनुष्य के जन्म के पहले ही प्रारंभ होकर उसकी मृत्यु के पश्चात तक निरंतर बने रहे। वह अपने विभिन्न सामाजिक और धार्मिक कार्यों को इन्हीं के माध्यम से कर सकने में समर्थ होता है। इस प्रकार संस्कारों के माध्यम से मनुष्य का समाजीकरण होता है और वह अपने दायित्वों के प्रति जागरूक होता है।

यही नहीं संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालकर उसे उस योग्य बनने की स्थिति प्रदान की गई। हिंदू दर्शन के अनुसार मनुष्य पर अनेक ऋण हैं। उन ऋणों से तब तक मुक्ति नहीं हो सकती जब तक उनसे संबंधित यज्ञों को संपन्न नहीं कर लिया जाता। यज्ञों की संपन्नता आंतरिक पवित्रता और धार्मिक अनुष्ठान से मानी गयी

टिप्पणी

है। वस्तुतः संस्कार में अनेक देवी–देवताओं का स्मरण और पूजन किया जाता है। अग्नि के सम्मुख मंत्रों का उच्चारण किया जाता है और धार्मिक अनुष्ठान से अपने को परिशुद्ध किया जाता है। इन कार्यों से मनुष्य पर यह मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है कि वह संस्कारों द्वारा सौंपे गए दायित्वों को कर सकने में समर्थ है और उस पर देवी–देवताओं की अनुकंपा भी है।

संस्कारों का विधान अलौकिक पृष्ठभूमि में किया गया है तथा इसकी उत्पत्ति में मानवीय प्रवृत्तियों का विशेष हाथ माना गया है। यह आख्यानों के निर्माण में निहित प्रवृत्ति से भी स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में संस्कार सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था तथा कार्यप्रणाली को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार भारतीय समाज और संस्कृति में संस्कार का अभूतपूर्व स्थान है।

इस इकाई में हम षोडश संस्कारों के विधान, रूप आदि से परिचित होंगे।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप–

- संस्कार का अर्थ तथा उसके स्वरूप को जान पाएंगे;
- संस्कारों के विस्तार व प्रयोजन को समझ पाएंगे;
- विविध संस्कारों जैसे – गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह अंत्येष्टि, नामकरण, कर्णवेधन, वेदारंभ आदि को जान पाएंगे।

3.2 षोडश संस्कार

संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु में घञ् प्रत्यय लगाने से बनता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है परिष्कार, शुद्धता एवं पवित्रता। इस प्रकार हिंदू व्यवस्था में संस्कारों का विधान व्यक्ति के शरीर को परिष्कृत अथवा पवित्र बनाने के उद्देश्य से किया गया ताकि वह वैयक्तिक और सामाजिक विकास के लिए उपयुक्त बन सके। संस्कार वह क्रिया है जिसके संपन्न होने पर कोई वस्तु किसी उद्देश्य के योग्य बनती है।

3.2.1 संस्कार का विधान और महत्व

शुद्धता, पवित्रता, धार्मिकता एवं आस्तिकता संस्कार की प्रमुख विशेषताएं हैं। ऐसी मान्यता है कि मनुष्य जन्म असंस्कृत होता है, किंतु संस्कारों के माध्यम से वह सुसंस्कृत हो जाता है। इनसे उसमें अंतर्निहित शक्तियों का पूर्ण विकास हो पाता है तथा वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है। संस्कार व्यक्ति के जीवन में आने वाली बाधाओं का भी निवारण करते हैं तथा उसकी प्रगति के मार्ग को निष्कंटक बनाते हैं। इनके माध्यम से मनुष्य आध्यात्मिक विकास भी करता है। मनु के अनुसार संस्कार शरीर को विशुद्ध करके उसे आत्मा का उपयुक्त स्थल बनाते हैं। इस प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व की सर्वांगीण उन्नति के लिए भारतीय संस्कृति का विधान प्रस्तुत किया गया है।

संस्कार शब्द का उल्लेख वैदिक तथा ब्राह्मण साहित्य में नहीं मिलता। मीमांसक इसका प्रयोग यज्ञीय सामग्रियों को शुद्ध करने के अर्थ में करते हैं। वास्तविक रूप में संस्कारों का विधान हम सूत्र साहित्य विशेषतया गृह्यसूत्रों में पाते हैं। संस्कार जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत संपन्न किये जाते थे। अधिकांश गृह्यसूत्रों में अंत्येष्टि का उल्लेख नहीं मिलता। स्मृति ग्रंथों में संस्कारों का विवरण प्राप्त होता है। इनकी संख्या चालीस तथा गौतम धर्मसूत्र में अड़तालीस मिलती है। मनु ने गर्भाधान से मृत्युपर्यंत तेरह संस्कारों का उल्लेख किया है। बाद की स्मृतियों में इनकी संख्या सोलह स्वीकार की गयी। आज यही सर्वप्रचलित है।

प्राचीन हिंदू समाज में व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तथा उसके उपरांत भी, संस्कारों के विधान की परम्परा थी। यह विश्वास व्याप्त था कि संस्कार हीन व्यक्ति का जीवन अपवित्र, अपूर्ण और अव्यवस्थित होता है और ऐसी दशा में अनेक विघ्न तथा बाधाएं उपस्थित होती हैं। संस्कारों का मूल उद्देश्य शरीर और आत्मा का शुद्धिकरण, विघ्न और बाधाओं का निवारण तथा देवताओं की अनुकंपा और आशीर्वाद प्राप्त करना था। संस्कारों के अंतर्गत विभिन्न आयोजनों द्वारा देवताओं की स्तुति, प्रार्थना तथा ध्यान के लिए यज्ञों का आयोजन किया जाता था। प्रत्येक संस्कार के अवसर तथा विधि-विधान नियत थे। व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक महत्वपूर्ण अवसर पर इनका संपादन किया जाता था। इस प्रकार किये गये संस्कारों द्वारा जीवन को योग्य, गुणादय, परिष्कृत तथा व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त होता था।

संस्कारों का उदय वैदिक काल में हो चुका था किंतु वेदों तथा ब्राह्मण ग्रंथों में इनका उल्लेख नहीं मिलता। वे गृह्यसूत्रों के विषय-क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं, किंतु वहां भी उनका प्रयोग वास्तविक अर्थ में उपलब्ध नहीं है। वे समस्त गृह-विधि विधानों का वर्गीकरण विविध यज्ञों के अंतर्गत करते हैं। दैहिक संस्कार पाक यज्ञों में शामिल है। पारस्कर गृह्यसूत्र में पाक यज्ञों को हुत, आहुत, प्रहुत और प्राशित में विभक्त किया गया है। जब यज्ञ में आहुति दे दी जाती है तो उसे हुत कहते हैं। इसके अंतर्गत विवाह के सीमंतोन्न पर्यंत संस्कार आ जाते हैं। अग्नि में आहुति देने के पश्चात जब ब्राह्मणों तथा अन्य व्यक्तियों को दान-दक्षिणा दी जाती है तो उसे प्रहुत कहा जाता है। इसमें जातकर्म से चौल पर्यंत संपूर्ण संस्कारों का समावेश हो जाता है। अहुत और ब्राह्मणों को दक्षिणा देने के अनंतर जब कोई स्वयं अन्य व्यक्तियों से उपहार प्राप्त करता है तो उसे आहुत कहते हैं। उपनयन और समावर्तन संस्कार इसमें अंतर्भूत हैं। इस प्रकार आगे चलकर उनका नाम संस्कार रखा गया एवं वहां उनका निरूपण गृह यज्ञों के रूप में किया गया। इनमें दैहिक पवित्रता और व्यक्तित्व की पूर्णता के बारे में स्पष्ट संकेत नहीं है। धार्मिक कृत्यों का केंद्र देवता है व्यक्ति नहीं। अतः दैहिक संस्कारों सहित संपूर्ण यज्ञों का अनुष्ठान आराधना के लिए किया जाता था। वैखानस स्मार्त सूत्रों में दैहिक संस्कारों (अष्टादश संस्कारा:) तथा सामान्य यज्ञों में उनका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। परवर्ती स्मृतिकार हारीत के अनुसार यज्ञों, अवसरों पर किये जाने वाले संस्कारों का समावेश ब्राह्मण संस्कारों के अंतर्गत करना चाहिए। केवल ब्राह्मण संस्कारों को ही यथार्थ में संस्कार समझना चाहिए।

वे परिस्थितियां जिनमें संस्कारों का प्रादुर्भाव हुआ युगों के गर्भ में जा छिपी हैं तथा उनके चारों ओर लोक प्रचलित अंधविश्वासों का जाल बिछा है। प्राचीन बातों को

अंधविश्वासपूर्ण न मानते हुए, अतीत के प्रति समुचित आदर तथा मानव स्वभाव के प्रति पूर्ण सहानुभूति के साथ संस्कारों पर विचार करना चाहिए।

टिप्पणी

मोटे तौर पर हम संस्कारों के विधान को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं–

(i) लोकप्रिय एवं अंधविश्वासपूर्ण

(ii) कर्मकांडीय एवं सांस्कृतिक

पहले वर्ग का आधार सरल विश्वास तथा सहज सादगी है तथा दूसरे वर्ग का उद्भव सामाजिक विकास तथा उन्नति के कारण हुआ।

प्राचीन समय में लोगों का विश्वास था कि वे चारों ओर से ऐसे प्रभावों से घिरे हैं जो शुभाशुभ करने की शक्ति रखते हैं अत: वे अमंगलजनक प्रभावों को दूर करने तथा हितकर प्रभावों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया करते थे, जिससे बिना किसी विघ्न के विकास एवं अभिवृद्धि हो। हिंदुओं ने अपने संस्कारों के अंतर्गत अनेक साधनों का अवलंबन किया। उनमें प्रथम स्थान आराधना का था। भूतों, पिशाचों और अन्य अशुभ शक्तियों की स्तुति कर उन्हें बलि तथा भोजन दिया जाता था, जिससे वे किसी प्रकार की क्षति न पहुंचाएं। स्त्री के गर्भिणी रहने के समय, शिशु जन्म, शैशव आदि के समय भी इस प्रकार की प्रार्थनाएं की जाती थीं। दूसरा उपाय था विकल्प, मुंडन तथा अंत्येष्टि के अवसर पर इसका प्रयोग किया जाता था। विकल्प के लिए मरणासन्न व्यक्ति की प्रतिकृति का दाह कर दिया जाता था, जिससे मृत्यु जब मरणासन्न व्यक्ति के शरीर पर आक्रमण करे तो विकल्प रूप से प्रस्तुत प्रतिकृति के कारण भ्रम में पड़ जाए। अशुभ शक्तियों को स्पष्टत: दूर चले जाने के लिए कहा जाता था, उनकी भर्त्सना की जाती और प्रत्यक्षत: उन पर आक्रमण भी किया जाता था। कभी-कभी जल और अग्नि से व्यक्ति उक्त अशुभ शक्तियों को आतंकित कर दूर हटा देता था। जल का प्रयोग साधारणत: प्रत्येक संस्कार में किया जाता था। अवांछित व्यक्तियों को आतंकित करने के लिए अंत्येष्टि के समय शब्द किया जाता था। मार्ग में आने वाली अमंगल घटना का सामना करने के लिए मुमुक्षु अपने को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर लेता था, जैसे विद्यार्थी दंड धारण करता था। दंड को संवेग आंदोलित करना भी अशुभ प्रभावों को दूर करने का एक उपाय था। सीमंतोन्नयन संस्कार के अवसर पर केशों को इसी उद्देश्य से संवारा जाता था। स्वार्थपरता के वशीभूत होकर इन अमंगल शक्तियों को अपने ऊपर से हटा कर अन्य व्यक्तियों की ओर भेजने का भी प्रयास किया जाता था। उदाहरणार्थ, वधू द्वारा धारण किये हुए वैवाहिक वस्त्र ब्राह्मण को दान कर दिये जाते थे क्योंकि वे वधू के लिए घातक समझे जाते थे।

जिस प्रकार अशुभ प्रभावों के बचाव का प्रयत्न किया जाता था, उसी प्रकार संस्कार के अवसर पर संस्कार्य व्यक्ति के हित के लिए शुभ प्रभावों को आमंत्रित किया जाता था। यह विश्वास व्याप्त था कि जीवन का प्रत्येक समय किसी न किसी देवता द्वारा अधिष्ठित है। अत: प्रत्येक अवसर पर संस्कार्य व्यक्ति को आशीर्वाद देने के लिए उस देवता का उद्बोधन किया जाता था। विष्णु गर्भाधान के समय के प्रधान देवता थे। विवाह के समय के प्रजापति और उपनयन के समय के देवता बृहस्पति थे। शुभ वस्तुओं के स्पर्श से वे मंगल परिणाम की आशा करते थे। सीमांतोन्नयन संस्कार के समय उदुंबर वृक्ष की शाखा का पत्नी के गले से स्पर्श कराया जाता था। यह विश्वास था कि उसके स्पर्श से उर्वरता आ जाती है। शिलारोहण से दृढ़ता आ जाती है। हृदय स्पर्श ऐक्य और सामंजस्य स्थापित करने का उपाय

समझा जाता था। यह भी धारणा थी कि कुरूप और अशुभ दृश्य के निवारण और अपवित्र व्यक्तियों के साथ संबंध तोड़ लेने से पवित्रता सुरक्षित रहती है।

वस्तुतः संस्कारों को घरेलू कर्मकांड के रूप में स्वीकार किया गया था। संस्कार अनुष्ठान के समय घरेलू जीवन के लिए आवश्यक सभी वस्तुओं की तुलना देवों से की जाती थी। लोगों को विश्वास था कि आराधना और प्रार्थना के माध्यम से उनकी इच्छाओं और आकांक्षाओं को देवता जान लेते थे और पशु संतान, दीर्घजीवन, संपत्ति, समृद्धि शक्ति और बुद्धि के रूप में उसकी पूर्ति करते थे।

कई संस्कारों का संबंध व्यक्ति के मनोभावों से भी था, जैसे पुत्र जन्म पर प्रसन्नता और मृतक संस्कार के समय शोक। सुख और दुख को व्यक्त करने के लिए संस्कारों का अनुष्ठान किया जाता था। संतान के जन्म के समय पिता को असीम आनंद होता था। विवाह मनुष्य जीवन के सबसे बड़े उत्सव का शुभ अवसर था। शिशु की प्रगति की प्रत्येक अवस्था से परिवार को हर्ष होता था। हर्ष के भावों को साज-सजावट संगीत, भोज तथा उपहारों के रूप में व्यक्त किया जाता था। शोक की अभिव्यक्ति केवल अंत्येष्टि कृत्य में होती थी।

संस्कार शब्द के अर्थ के अनुसार संस्कार द्वारा परिमार्जन या परिष्कार किया जाता था। इस दृष्टि से संस्कारों का सांस्कृतिक प्रयोजन भी था। ऐसा विश्वास था कि उत्पन्न होते समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है और उसका संस्कार व परिमार्जन आवश्यक है। उपनयन से वह द्विज, वेदों के अध्ययन से विद्वान् और ब्रह्म के साक्षात्कार से उसे ब्राह्मण की स्थिति प्राप्त होती है। संस्कारों की व्यवस्था इस प्रकार से की गई थी कि वे आरंभ से ही व्यक्ति के जीवन पर ठीक प्रभाव डालें। संस्कारों के संपादन को अनिवार्य बनाने का उद्देश्य यह था कि संस्कृति तथा चरित्र की दृष्टि से समाज का समान विकास हो तथा उसमें समान आदर्श आरोपित किये जा सकें। संस्कारों द्वारा संस्कृत व्यक्ति यह अनुभव करता था कि संपूर्ण जीवन वस्तुतः संस्कारमय है और संपूर्ण दैहिक क्रियाएं आध्यात्मिक ध्येय से अनुप्राणित हैं।

प्रारंभ में संस्कार जीवन के प्रति यथार्थ थे। वे लचीले और सजीव संस्था थे जड़ या अपरिवर्तनीय कर्मकांड नहीं। उन्हें देश और काल के अनुरूप व्यवस्थित किया गया। बाद में संस्कारों को नियमित और व्यवस्थित किया गया तथा बौद्धिक आधार पर उनका वर्गीकरण किया जाने लगा। उनसे संबंधित सूक्ष्मतम बातें निश्चित कर ली गईं। परंतु काल के थपेड़े खाते हुए अब संस्कार एक क्रिया मात्र रह गये हैं। इसका कारण यह है कि बदलती परिस्थितियों से उनका समयानुकूलन नहीं किया गया।

3.2.2 विविध संस्कारों के नाम व रूप

यद्यपि संस्कारों का प्रचलन वैदिक युग में था तथापि इनके विषय में स्पष्ट और विस्तृत सामग्री सूत्र तथा स्मृति साहित्य में मिलती है। गौतम तथा वैखानस ने संस्कारों की संख्या क्रमशः 40 तथा 18 बताई है।

संस्कारों के महत्व तथा प्रमुखता को ध्यान में रखते हुए प्रायः सभी धर्म शास्त्रकारों ने ये 16 महत्वपूर्ण संस्कार निर्धारित किये हैं - गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, विद्यारंभ, उपनयन, वेदारंभ, केशांत,

समावर्तन, विवाह तथा अंत्येष्टि संस्कार। इन संस्कारों का विधि-विधान, उद्देश्य तथा महत्व निम्नलिखित है-

टिप्पणी

(i) **गर्भाधान (निषेक) संस्कार :** वैदिक काल से प्रचलित इस संस्कार का संबंध संतान की कामना द्वारा स्त्री के गर्भ में पुरुष द्वारा संतान के बीजारोपण से है। ऋतु स्नान के उपरांत चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि के मध्य अंतिम पहर का समय इसके लिए उपयुक्त माना गया है। याज्ञवल्क्य तथा मनु के अनुसार आठवीं तथा पंद्रहवीं रात्रियां गर्भाधान के लिए वर्जित बतायी गयी हैं। दिन का समय भी निषिद्ध कहा गया है। अलबरूनी ने इस संस्कार का उल्लेख करते हुए लिखा है कि संतान प्राप्ति के लिए किये गये संभोग से पूर्व यज्ञ करना आवश्यक था। इस संस्कार को निषेक (ऋतुसंगम, चतुर्थीकर्म तथा चतुर्थी होम भी कहा जाता था) भी कहा जाता था क्योंकि इस संस्कार के संपादन के समय तथा उद्देश्य की अनिश्चितता के साथ-साथ लज्जा का भी समावेश रहता था। अत: कभी-कभी इसका संपादन नहीं किया जाता था।

(ii) **पुंसवन संस्कार :** गर्भाधान के तीसरे मास में पुंसवन संस्कार किया जाता था। यह संस्कार संतान के रूप में पुत्र प्राप्ति हेतु संपादित होता था। पुराणों के अनुसार तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति हेतु यह संस्कार होता था। कभी-कभी यह संस्कार गर्भधारण के दो माह उपरांत से लेकर आठवें माह के बीच संपन्न होता था। जब चंद्र पुरुष नक्षत्र में स्थित होता था, तब यह संस्कार पुत्र के मंगलकारी होने के लिए आयोजित किया जाता था। इस संस्कार में रात्रि के समय गर्भवती स्त्री की नाक के दाहिने छेद में बरगद की छाल का रस डाला जाता था। इससे गर्भपात की संभावना का निराकरण होता था। यह विश्वास व्याप्त था कि इस संस्कार के संपादन से उत्पन्न होने वाले पुत्र में समस्त बाधाओं का निवारण होगा।

(iii) **सीमंतोन्नयन संस्कार :** गृहसूत्रों में यह संभावना व्यक्त की गई है कि स्त्री द्वारा गर्भधारण करने पर अनेक व्याधियां गर्भ को समाप्त करने अथवा भावी संतान को पीड़ा और हानि पहुंचाने के लिए उद्यत रहती हैं। इसके लिए पति को श्री का आह्वान करके इन व्याधियों को भगा देना चाहिए। इस संस्कार में गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमांत) को ऊपर उठाया जाता था। इसलिए इस संस्कार को सीमंतोन्नयन संस्कार कहा गया। इस संस्कार का आयोजन गर्भधारण के चतुर्थ मास में किया जाता था। इस संस्कार को करने का उद्देश्य गर्भिणी के लिए अत्यधिक श्रम वर्जित करके उसे मानसिक व शारीरिक आराम देना था। पुराणों में प्रस्तावित किया गया है कि इस संस्कार में नांदीमुख नामक पितरों की पूजा करनी चाहिए।

(iv) **जातकर्म संस्कार :** यह संस्कार पुत्रोत्पत्ति के उपरांत नाभि छेदन (नाल काटने) से पहले किया जाता था। अलबरूनी ने लिखा है कि पुत्र उत्पन्न होने के बाद तथा माता द्वारा उसका पोषण प्रारंभ करने के बीच जातकर्म नामक तीसरा यज्ञ किया जाता था। इस संस्कार में पिता विधिपूर्वक स्नान करके नांदीमुख नामक पितरों का श्राद्ध और पूजन करता था। इसके उपरांत आशीर्वाद मंत्रों का उच्चारण करते हुए पुत्र को स्पर्श करते हुए सूंघता था। आश्वलायन के अनुसार इस संस्कार में सबसे पहले पिता पुत्र को स्पर्श की शलाका से घी तथा शहद चटाता

था। जातकर्म संस्कार का उद्देश्य संतान पर पड़ने वाली अनिष्टकारी बाधाओं का निवारण करना था।

(v) **नामकरण संस्कार :** मनु के अनुसार जन्म से दसवें या बारहवें दिन; भाष्यकार विश्वरूप तथा कुल्लूक के अनुसार ग्यारहवें दिन; मेधातिथि के अनुसार दसवें दिन तथा बृहस्पति के अनुसार बारहवें, तेरहवें, सोलहवें, उन्नीसवें अथवा बत्तीसवें दिन नामकरण संस्कार किया जाना चाहिए क्योंकि इस संस्कार का आयोजन प्रसूति (जिसका सूतक कम से कम दस दिन और अधिक से अधिक तीस दिन माना जाता था) की समाप्ति के बाद किया जाता था। अत: नामकरण संस्कार जन्म से दसवें दिन या उसके बाद ही संपन्न किया जाता था। इस संस्कार के आयोजन में शुभ तिथि, नक्षत्र तथा मुहूर्त का विशेष महत्व था। देवपूजन, यज्ञाहुति तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं का संपादन करते हुए कर्णप्रिय, शोभनीय तथा अर्थपूर्ण नाम प्रदान किये जाने का प्रावधान था। देवता नाम, मास नाम, नक्षत्र नाम तथा संतान को पुकारने वाले कई नाम रखे जाते थे। पुत्री के नामांत में आ, दा अक्षर लगाए जाते थे, जैसे भावना, रंजना, वसुंधरा, यशोदा आदि। मनु के अनुसार ब्राह्मण का नाम मंगलसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक और वैश्य का धन-संपदा सूचक रखा जाता था तथा शूद्र संतानों के नामांत में शर्मा, वर्मा, गुप्त और दास शब्द लगाने की व्यवस्था थी।

(vi) **निष्क्रमण संस्कार :** जन्म के उपरांत प्रथम बार संतान को घर से बाहर निकालने से पूर्व निष्क्रमण संस्कार संपादित किया जाता था। मनु के अनुसार संतान को जन्म से चौथे माह में घर से बाहर लाना चाहिए। अत: इस संस्कार का आयोजन प्राय: जन्म के चौथे मास के बाद ही होता था। संतान को मां की गोद में देकर सर्वप्रथम उसे सूर्य का दर्शन कराया जाता था। इसके उपरांत पिता शिशु को सूर्य दर्शन कराता था। इस संस्कार द्वारा शुभ मुहूर्त में देवताओं का स्मरण करते हुए बालक को घर के बाहर प्राकृतिक जगत में लाया जाता था।

(vii) **अन्नप्राशन संस्कार :** इस संस्कार द्वारा शिशु को सर्वप्रथम अन्न खिलाया जाता था। पांचवें या छठे मास में अथवा जिस शिशु के दांत निकलने आरंभ हो जाते थे तो उसकी अवस्था अन्न लेने लायक समझी जाती थी। कभी-कभी इस संस्कार में शहद, घी, दही, दूध, पके हुए चावल का मिश्रण शिशु को चटाया जाता था। इसके उपरांत ब्राह्मण को भोजन कराया जाता था और तब अन्नप्राशन संस्कार पूर्ण हो जाता था।

(viii) **चूड़ाकर्म (मुंडन) संस्कार :** जब बालक एक वर्ष का या तीन वर्ष का हो जाता था तो उसका चूड़ाकर्म संस्कार होता था। इसके अतिरिक्त यह अपने पारिवारिक रीति-रिवाजों के अनुसार कभी भी किया जा सकता था। माता ब्राह्मणों को भोजन कराकर बालक को स्नान कराकर उसे नवीन वस्त्र पहनाकर, गोद में लेकर अग्नि के पश्चिम की ओर बैठती थी। अग्नि में देवताओं की आहुति दे देने के पश्चात बालक को हवन की बची हुई (स्थाली पाक) सामग्री का प्राशन कराया जाता था। तत्पश्चात गंगाजल से बच्चे का सिर धोया जाता था। उस समय पिता यह मंत्र पढ़ता था—वायुउदकेनेहादिते केशान्वपेति। फिर पिता नवनीतपिंड, घृतपिंड तथा दधिपिंड को पानी में डालकर लाता था और उसी जल से बालक के गोदान

टिप्पणी

(गोदानं नाम कर्णस्य उपरि प्रदेशः) प्रदेश को भिगोकर सविता देवता का मंत्र पढ़ता था। साही के तीन कांटों से बालों को अलग करके बीच में तीन कुश रखे जाते थे तत्पश्चात शिवोनमिति कहकर लोहे का छुरा हाथ में लेकर निवर्तयामीति इस मंत्र को पढ़कर शिखा को छोड़कर शेष केश काटे जाते थे। उसके साथ वे कुश भी कटते थे । सब बाल गोबर के पिंड में डाल दिये जाते थे और वह केश समेत गोपिंड, गौशाला, तालाब अथवा नदी में डाल दिया जाता था। बाल कट जाने पर छुरा सिर के चारों ओर घुमाया जाता था और बालक को स्नान कराकर चूड़ाकर्म संस्कार समाप्त हो जाता था।

इस समय बालक के सिर पर शिखा रखकर उसका दैवी जगत से संबंध जोड़ दिया जाता था। उसी समय से उसका सिर अत्यंत पवित्र माना जाने लगता था। पुराणों में उल्लिखित है कि यह संस्कार संपन्न करते समय नांदीमुख तथा पितरो की अर्चना करनी चाहिए। कूल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति की टीका में लिखा है कि यह चौलकर्म धर्म की स्थापना के लिए ही होता है। बाद में यह संस्कार मंदिरों तथा प्रमुख तीर्थ स्थलों में भी संपन्न किया जाने लगा, जहां विधिपूर्वक हवन-पूजन के साथ मातृकाओं और देवताओं की स्तुति एवं अर्चना की जाती थी।

(ix) कर्णवेध (कर्णछेदन) संस्कार : कर्णवेध संस्कार की व्यवस्था वैदिककालीन है। इस संस्कार के संपादन का समय पूर्ण निश्चित नहीं है। गर्ग ने छठा, सातवां, आठवां या बारहवां माह; सुश्रुत ने छठा या सातवां वर्ष; बौधायन ने सातवां या आठवां; बृहस्पति ने दसवां, बारहवां या सोलहवां दिन अथवा सातवां या आठवां माह इस संस्कार के लिए उचित बताया है। इस संस्कार द्वारा सुई की नोक से कानों का छेदन होता था और उस छिद्र में सोने की बाली पहना दी जाती थी।

(x) विद्यारंभ संस्कार : संतान जन्म के पांचवें वर्ष में उपनयन संस्कार से पूर्व विद्यारंभ संस्कार किया जाता था। मार्कण्डेय पुराण का उदाहरण देते हुए अपरार्क ने लिखा है कि संतान द्वारा विद्यारंभ वर्णमाला स्वर और व्यंजन द्वारा कराया जाता था। इस संस्कार में शुभ मुहूर्त में शिक्षक द्वारा काष्ठ की तख्ती पर ऊँ और स्वास्तिक के साथ वर्णमाला लिखकर संतान को अक्षर ज्ञान कराया जाता था।

(xi) उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार : हिंदू समाज में उपनयन संस्कार का सर्वाधिक महत्व है। यज्ञोपवीत संस्कार करने का समय विभिन्न वर्णों में अलग-अलग था। ब्राह्मण के पुत्र का जन्म के आठवें वर्ष, क्षत्रिय के पुत्र का जन्म के ग्यारहवें वर्ष तथा वैश्य के पुत्र का जन्म के बारहवें वर्ष उपनयन संस्कार करना चाहिए। मनु, ब्राह्मण का पांचवें वर्ष, क्षत्रिय का छठे तथा वैश्य का आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार करने का आदेश देते हैं। इसके लिए यथा 'मांगल्यं वा सर्वेषाम्' भी कहा गया है। इसके अनुसार अपने घर की रीति के अनुसार कोई भी वर्ण किसी भी समय पर यज्ञोपवीत करा सकता था। यज्ञोपवीत के समय से बालक ब्रह्मचारी हो जाता था क्योंकि गुरु और आचार्य के समीप जब वह जाता था तो गुरु उससे ब्रह्मचार्य भागामिति कहलवाते थे। इस संस्कार में ब्राह्मणों को भोजन कराकर बालक के सिर को चारों ओर से मुंडा दिया जाता था। तत्पश्चात बालक को स्नान कराकर वस्त्र पहनाये जाते थे। तत्पश्चात बालक अग्नि के पश्चिम में बैठता था। इस समय बालक मुंज मेखला धारण करता था जो कि तीन लड़ की होती थी। यह तीन लड़ की

टिप्पणी

मेखला आत्मा के तीनों गुणों का प्रतीक होती थी। इसी कारण मेखला बांधकर ब्रह्मचारी के शरीर में उन तीनों गुणों की एकता स्थापित की जाती थी। इस मेखला द्वारा ब्रह्मचारी के अवगुण दूर होते थे तथा प्राणों और अपानों को बल प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त यज्ञोपवीत के समय ब्रह्मचारी दंड धारण करता था। ब्राह्मण का दंड पलाश का बनता था और केशों तक होता था। क्षत्रिय का दंड बेल का बनता था तथा मस्तक तक होता था। वैश्य उदुंबर (गूलर) वृक्ष का दंड धारण करता था जो नासिका तक होता था। तत्पश्चात गुरु बालक को गुरुमंत्र देता था जो गायत्री मंत्र के नाम से प्रसिद्ध है किंतु इसे सावित्री मंत्र कहते थे क्योंकि इस मंत्र के देवता सविता थे। ब्राह्मणों का अग्नि से संबंध है और अग्नि का गायत्री छंद से संबंध है। इसी कारण ब्राह्मणों को गायत्री मंत्र दिया जाता था। क्षत्रिय का संबंध त्रिष्टुप छंद से होता है। अत: उन्हें त्रिष्टुप का मंत्र दिया जाता था।

ऐतरेय ब्राह्मण में 'जागत: वै पशव:' आया है अर्थात जगती छंद पशु तथा धनादि की वृद्धि करने वाला होता है। वैश्य का विशेष रूप से इन सभी वस्तुओं से संबंध है। इसी कारण वैश्य को जगती छंद में गुरुमंत्र दिया जाता था। इसके साथ-साथ गायत्री मंत्र का संबंध सभी वर्णों से था। यज्ञोपवीत के समय धारण करने के लिए मृगचर्म ब्राह्मण का, चितकबरा मृगचर्म क्षत्रिय का और वैश्य के लिए बकरे का चर्म होता था। ब्रह्मचारी को इस संस्कार के बाद गृह-गृह भेजा जाता था और उस दिन से भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न से ही वह उदरपूर्ति करता था। इसी कारण उपनयन के समय बालक अपनी माता तथा भगिनी आदि से भिक्षा मांगता था। ब्राह्मण अपनी माता से भिक्षा मांगते समय ''भवती माता भिक्षां देहि'' क्षत्रिय का बालक 'माता भवती भिक्षां देहि' तथा वैश्यपुत्र 'माता भिक्षां देहि भवती' का उच्चारण करता था। इस भिक्षा याचना द्वारा आचार्य इसी समय से बालक का अच्छे-अच्छे भोजन से संबंध छुड़ा देता था। अंत में बालक को स्नान कराकर, वस्त्र पहनाकर ब्राह्मण भोजन कराया जाता था।

विभिन्न वर्णों के ब्रह्मचारियों की वेश-भूषा अलग-अलग प्रकार की होती थी। आपस्तंब का कथन है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी का वस्त्र पटुआ का, क्षत्रिय का सन का तथा वैश्य का मृगचर्म का होना चाहिए। उन्होंने आगे यह भी निर्दिष्ट किया है कि तीनों वर्णों के उत्तरीय के लिए भेड़ का चर्म या कंबल तथा अधोवस्त्र के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य हेतु क्रमश: हरा, लाल व हल्दी के रंग का उल्लेख किया है। गौतम के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के कोपीन का वस्त्र क्रमानुसार सन, अलसी आदि के रेशे एवं कंबल से निर्मित होना चाहिए। प्रथम तीन वर्णों की मेखला क्रमश: मुंज, मूर्वा एवं पटुआ से निर्मित होनी चाहिए। प्रत्येक वर्ण से ब्रह्मचारी अपने तथा गुरु के भोजन के लिए भिक्षा याचना करते थे। ब्रह्मचारियों को केवल अभिशास्त्रों तथा बहिष्कृतों को छोड़कर सभी वर्णों से भिक्षा याचना करने की अनुमति प्राप्त थी। जिसके लिए बौधायन गृह्यसूत्र के अनुसार उन्हें अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करना पड़ता था।

अलबरूनी ने उपनयन संस्कार के संबंध में यह मत व्यक्त किया है कि जब आचार्य उसे भिक्षा देने, उसे उनके कर्तव्य सिखाने, उन पर स्थिर रहने तथा जीवन पर्यंत उनपर चलने के लिए निर्देशित करने आते हैं, तब वे उसकी कमर में सूत्र बांधते

टिप्पणी

हैं। उसे यज्ञोपवीत का एक जोड़ा अर्थात नौ इकहरे तंतुओं से इकट्ठी बांटी गयी मजबूत डोरी तथा कपास से निर्मित यज्ञोपवीत देते हैं। यह यज्ञोपवीत पहनने पर बायें कंधे से दायें कूल्हे तक जाता है। अलबरूनी आगे लिखता है कि विद्यार्थी तिहरे यज्ञोपवीत को एक डोरी से और कपास की इकहरी दूसरी डोरी से अपने को लपेटता है। यह कार्य तब संपन्न होता है, जब उसकी आयु का बारहवां वर्ष समाप्त हो जाता है। तदनंतर उसे दंड प्रदान किया जाता है, जिससे कि वह संग्राम कर पाये और दायें हाथ की अंगूठी पहनने वाली अंगुली में अंगूठी पहनने का अर्थ यह है कि उस हाथ से जो दान प्राप्त करे उन सबके लिए वह मंगलमय हो। अलबरूनी ने यज्ञोपवीत के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि ''यदि वह खाते समय या किसी प्राकृतिक आवश्यकता को पूरा करते समय यज्ञोपवीत उतार देता है तब वह ऐसा पाप करता है जो प्रायश्चित के किसी कर्म तथा दान, उपवास के बिना नहीं छूट सकता। ब्राह्मण अगर बिना यज्ञोपवीत पहने भोजन करता है तो उसे प्रायश्चित करना चाहिए। मिताक्षर ने भी इसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा कि अगर प्राकृतिक आवश्यकता के समय यज्ञोपवीत नहीं है तो प्रायश्चित करना पड़ता है। उपनयन संस्कार संपन्न होने के बाद कृष्ण और बलराम संदीपनि ऋषि के सान्निध्य में शिक्षा ग्रहण करने गये थे। शिवदत्त ने अपने पुत्र का यज्ञोपवीत संपन्न करने के पश्चात सांगोपांग वेदाध्ययन प्रारंभ किया था।

(xii) वेदारंभ संस्कार : वेदों का अध्ययन करने के लिए शास्त्रोक्त विधान था। अत: वेदाध्ययन प्रारंभ करने से पूर्व वेदारंभ संस्कार किया जाता था। इस संस्कार का आयोजन उपनयन संस्कार के उपरांत होता था। मनु के अनुसार वेदों का अध्ययन करने से पूर्व आचमन करके ब्रह्मंजलि बांधकर हल्के वस्त्र धारण करके जितेंद्रिय होना चाहिए। शिष्य को वेदारंभ करने से पूर्व तथा अंत में प्रणव का उच्चारण करना चाहिए। प्रारंभ में प्रणव का उच्चारण न करने से अध्ययन नष्ट हो जाता है तथा अंत में प्रणव का उच्चारण न करने से अध्ययन स्थायी नहीं होता है। वेदों का अध्ययन करना शिक्षा का प्रमुख अंग भी था।

(xiii) केशांत संस्कार : मुख पर दाढ़ी-मूंछ का उगना, तरुण होने का कारण मान कर इनकी क्षौर क्रिया द्वारा व्यक्ति को ब्रह्मचर्य तथा सदाचरण का स्मरण दिलाने के लिए सोलहवें वर्ष की आयु में केशांत संस्कार किया जाता था। इस संस्कार द्वारा दाढ़ी-मूंछ का पहली बार क्षौरकर्म किया जाता था। मनु ने यह ओदश दिया है कि गर्भ से सोलहवें वर्ष में ब्राह्मण का, बाइसवें वर्ष में क्षत्रिय का तथा चौबीसवें वर्ष में वैश्य का केशांत संस्कार किया जाना चाहिए। इस संस्कार के अवसर पर आचार्य को दान में गाय दी जाती थी।

(xiv) समावर्तन संस्कार : गुरु गृह में रहता हुआ ब्रह्मचारी गुरु की सेवा में रहकर जब जीवन संबंधी यथेष्ट विद्या प्राप्त कर लेता था तब गुरु उसको अपने घर वापस जाने की आज्ञा देता था। यह संस्कार शिक्षा समाप्ति के उपरांत संपादित किया जाता था। इस संस्कार के दिन प्रात: काल ही उठकर ब्रह्मचारी किसी यज्ञीय वृक्ष से हवन के लिए समिधा लाता था। तत्पश्चात चौलकर्म की ही भांति उसका केशांत संस्कार होता था और उसको शीतोष्ण जल से विधिपूर्वक स्नान कराया जाता था। उसी समय से वह स्नातक हो जाता था। स्नातक का अर्थ है जो विधिवत स्नान कर चुका

हो। तत्पश्चात गुरु की आज्ञानुसार ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्याश्रम के वस्त्रों को त्यागकर सुंदर वस्त्र पहनता था। गुरु इस अवसर पर उसे आभूषण पहनाता था। तत्पश्चात स्नातक हवन करता था और अपने जीवन द्वारा संसार के सब प्राणियों को सुखी रखने का व्रत धारण करता था। तब आचार्य उसे जीवन संबंधी कुछ अन्य उपदेश देकर विदा करता था। इस प्रकार स्नातक आचार्य का आशीर्वाद प्राप्त कर अपने घर को जाता था। समावर्तन का शाब्दिक अर्थ भी गुरुकुल से शिक्षा ग्रहण करने के उपरांत घर की ओर लौटना है।

टिप्पणी

(xv) विवाह संस्कार : समस्त संस्कारों में विवाह संस्कार को विशेष महत्व प्राप्त है। इस संस्कार द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता है। यहां से व्यक्ति का समाजीकरण होकर उसके उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व का प्रारंभ होता था। विवाह संस्कार के अंतर्गत वाग्दान, वरवरण, कन्यादान, विवाह, होम, पाणिग्रहण, हृदयस्पर्श, सप्तपदी, अश्मारोहण, सूर्यावलोकन, ध्रुव दर्शन, त्रिरात्रव्रत एवं चतुर्थीक्रम आदि संपादित किये जाते थे। वर जब कन्या के घर जाता है तो कन्या का पिता अथवा रक्षक उसे वर को दान करता है और वर उस दान को स्वीकार करता है। तत्पश्चात पिता वर से उसे धर्म, अर्थ काम के उपभोग में सदैव साथ रखने की प्रतिज्ञा कराता था। तत्पश्चात होम आदि होता था। जिससे वर-वधू अग्नि में देवताओं के प्रति आहुतियां छोड़ते थे। इसी समय वर वधू का हाथ पकड़कर अर्यमा, सविता आदि देवताओं को संबोधित करके मंत्र पढ़ता था, जिसमें वह प्रसन्नतापूर्वक वृद्धावस्था तक साथ रहने की प्रतिज्ञा करता था।

इसी समय कन्या के गृह में वैवाहिकाग्नि की स्थापना होती थी। उसी अग्नि के चारों ओर वर वधू के पीछे तीन बार ऐसे घूमता था कि जल से पूर्ण घट उनके दाहिनी ओर रहे। इसी को अग्नि परिणयन कहते थे। वह अपनी तथा वधू दोनों की एकता के लिए सविता और अर्यमा देवता को संबोधित कर मंत्र पढ़ता था कि मैं तुम्हारा रूप हूं तुम मेरा रूप हो, मैं सोम हूं तुम ऋक हो, मैं द्यौ हूं तुम पृथ्वी हो। मेरा मन तुम्हारा अनुसरण करे तथा तुम्हारा हृदय मेरा अनुसरण करे। इस प्रकार हम दोनों एक साथ रहते हुए एक-दूसरे से मिल जाएं। तत्पश्चात वर एक पत्थर पर वधू के हाथ की सहायता से चढ़ता था और मंत्र पढ़ता था कि इस पत्थर पर चढ़ो, पत्थर की ही भांति सदैव तुम स्थिर रहो (अश्मेव त्वं स्थिरा भव) तथा सब शत्रुओं पर तथा सब कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करो। इसको अश्मारोहण कहते हैं। इसी समय वधू का भाई वर तथा वधू दोनों की समृद्धि हेतु अग्नि में होम करता है और अर्यमा, वरुण, पूषण और अग्नि देवता के लिए मंत्र पढ़ कर आहुति देता है। जिससे ये चारों देवता अपने पाश के बंधन से उसे (वधू) छोड़ दें। इसके बाद सबसे महत्वपूर्ण सप्तपदी नामक संस्कार होता था। इसमें वर-वधू उसी अग्नि के चारों ओर सात बार घूमकर प्रत्येक पग पर मंत्र उच्चारण करते थे। इसमें प्रथम पग रक्त के लिए, द्वितीय ऊर्जा, तृतीय धन, चतुर्थ आनंद, पंचम पुत्रादि, षष्ठ दीर्घायु (वैवाहिक जीवन दीर्घ हो) तथा सप्तम संपूर्ण जीवन में सखा रूप में पत्नी को रखने के लिए होता था। इसमें पत्नी सोम, गंधर्व तथा अग्नि इन तीन देवताओं द्वारा वर को प्रदान की जाती थी। प्राचीन काल में वधू को घर लाते समय वर वैवाहिकाग्नि भी साथ लाता था तथा उसी में सदा अपना हवन करता था।

टिप्पणी

(xvi) अंत्येष्टि संस्कार : संस्कारों का उद्देश्य आत्मा का अभ्युदय करना भी था। आत्मा जो पंचतत्व का शरीर आच्छादित किये हुए है, पंचतत्व के दुर्ग में बंदी बनी राग-द्वेष आदि षड्रिपुओं के नियंत्रण में पड़कर उनके अधीन हो जाती है। इन रिपुओं को परास्त करने के बाद ही आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार कर सकती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अंत्येष्टि संस्कार का संपादन किया जाता था। यह अंतिम संस्कार था और इसकी संपन्नता में यह भाव निहित था कि मृतक परलोक में शांति प्राप्त करेगा। बौधायन के अनुसार संस्कार द्वारा परलोक विजित होता है। अंत्येष्टि संस्कार से शव ले जाने के लिए बांस की अर्थी या बैलगाड़ी प्रयोग में लायी जाती थी। शव यात्रा में सगे संबंधियों के साथ मित्रादि होते थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र सबके आगे रहता था। पुराणों के अनुसार मृत शरीर को स्नान कराकर, पुष्प माला से सजाकर, जलाशय में अर्थी सहित स्नान कराकर दाह किया जाना चाहिए। तत्पश्चात सभी सम्मिलित लोगों को जलाशय में सवस्त्र स्नान करके तिलांजलि देनी चाहिए। शव जल जाने के उपरांत अवशेष की भी दाह क्रिया होती थी। कुछ समय तक मृतक के संबंधी अशौच में रहते थे। अशौच की अवधि प्राय: तेरह दिन की होती थी। अशौच की शुद्धि के उपरांत शांति और श्राद्ध क्रिया की जाती थी। पिंडदान, श्राद्ध कर्म व ब्राह्मण भोजन के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता था। हिंदुओं में अंत्येष्टि संस्कार प्राचीन शास्त्रोक्त विधि से आज भी संपन्न किया जाता है।

3.2.3 संस्कारों के प्रयोजन एवं उद्देश्य

हिंदू संस्कार में प्राचीन काल से आज तक अनेक विश्वास और कर्मकांड जुड़ते रहे हैं जो उसके स्वरूप और कार्यविधि को समयानुसार आंदोलित करते रहते हैं। इससे इसके प्रयोजन और उद्देश्य भी समय-समय पर प्रभावित होते रहे हैं। ये प्रयोजन और उद्देश्य इसके सामाजिक और धार्मिक पक्षों से संबद्ध हैं–

(i) प्रतीकात्मक उद्देश्य : मनुष्य के जीवन से संबंधित जो विशिष्ट भावनाएं और उद्वेग उद्घाटित होते हैं वे संस्कारों के प्रतीकात्मक उद्देश्य हैं। अनुराग, स्नेह, प्रेम, शोक, दुख, घृणा आदि व्यक्ति के मन की ऐसी अभिव्यक्तियां हैं। नामकरण संस्कार पुत्र जन्म के आनंद को व्यक्त करता है तथा अंत्येष्टि संस्कार किसी के निधन पर उसके प्रति व्यक्त की गयी विषाद भावना को व्यक्त करता है।

(ii) विघ्न बाधाओं और अशुभ शक्तियों से जीवन की रक्षा : व्यक्ति के जीवन में विघ्न बाधाएं आती हैं जिनसे उसका विकास क्रम अवरुद्ध होता है। ऐसी अशुभ शक्तियों और विघ्न बाधाओं से जीवन की रक्षा करने के लिए संस्कारों का नियोजन किया गया, जिनके संपन्न करने से ऐसी समस्त तामसी बाधाएं समाप्त हो जाती हैं। संस्कारों की संपन्नता में अग्नि, जल, फल, फूल आदि विभिन्न उपकरण इकट्ठे किए जाते रहे तथा मंत्रों के उच्चारण से विभिन्न संस्कार संपन्न किये जाते रहे। हवन-पूजन का समस्त कार्यक्रम पूरा किया जाता रहा और देवताओं की आराधना की जाती रही ताकि अदृश्य बाधाएं और अशुभ शक्तियां निष्क्रिय हो जाएं और व्यक्ति के जीवन का विकास निर्बाध रूप से हो सके। संस्कारों के माध्यम

से अशुभ शक्तियों के विनाश की कामना की जाती रही तथा शुभ शक्तियों के आगमन की कामना होती रही। इस संबंध में अनेक रीति-रिवाज और आचार-विचार भी अनुगामित किये जाते रहे।

टिप्पणी

(iii) लौकिक समृद्धि की कामना : संस्कारों को संपन्न करते समय व्यक्ति विभिन्न सांसारिक वस्तुओं की कामना करता है। दीर्घ जीवन सुख-समृद्धि, संपत्ति, शक्ति, वृद्धि, वैभव, संतान आदि की प्राप्ति की इच्छा व्यक्ति देवताओं से करता है और उन्हें प्रसन्न करने के लिए आराधना पूजन में संलग्न होता है। इस प्रकार भौतिक और लौकिक समृद्धि प्राप्ति के लिए संस्कारों को संपन्न किया जाता रहा है जो इसका तीसरा उद्देश्य है।

(iv) वांछित वस्तुओं की प्राप्ति : संस्कारों के आयोजन के माध्यम से व्यक्ति अपनी वांछित वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना करता रहा है जो उसका चौथा उद्देश्य था। अदृश्य शक्तियों को प्रसन्न करके व्यक्ति अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयास करता रहा है। संस्कारों को संपन्न करते समय देवताओं की आराधना और उनसे मनोवांछित वस्तु को प्राप्त करने की कामना व्यक्ति किया करता है। विष्णु, शिव, सप्तमातृका आदि का पूजन इसी संदर्भ में किया जाता रहा है।

(v) मनुष्य का समाजीकरण : संस्कारों का पांचवां उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक बनाना था तथा इसके माध्यम से उसका समाजीकरण किया जाता रहा। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानों, मूल्यों, आदर्शों आदि का ज्ञान प्राप्त करता है तथा तदनुरूप अपने कार्यों को करता है। नामकरण, जातकर्म, उपनयन, विवाह आदि ऐसे ही संस्कार हैं जिनसे व्यक्ति समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और सामाजिक बनता है।

(vi) नैतिकता का संवर्द्धन : संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन में नैतिकता का विकास करता है तथा ऐसे जीवन मूल्यों और प्रतिमानों का संवर्द्धन करता है, जिनसे नैतिक उत्थान होता है। इस प्रकार संस्कार व्यक्ति को, नैतिक दायित्वों के प्रति जागरूक करते हैं और इसी आधार पर अन्य कार्यों को करने के लिए उत्प्रेरित करते हैं। उपनयन और विवाह जैसे संस्कारों में नैतिक अभिव्यक्तियों का निवेशन है जिनसे व्यक्ति प्रभावित होता रहता है। फलतः वह अपने दायित्वों को नैतिकता के आधार पर पूरा करता रहता है।

(vii) व्यक्तित्व का उत्कर्ष : संस्कारों की निष्पन्नता से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है और वह अपना आचरण और चरित्र सुदृढ़ करता है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में वह अपने विभिन्न उत्तरदायित्वों को संपन्न करता है तथा धार्मिक प्रभाव में वह विभिन्न देवी-देवताओं के पूजनोपरांत एकनिष्ठ होकर संदर्भ का अनुसरण करता है। इस बीच वह अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है जिसमें सामाजिक और धार्मिक प्रेरणा निहित होती है। अतः अधिकांश संस्कार व्यक्ति को बहुमुखी जीवन विकसित करने में और मार्ग दर्शन करने में सहयोग प्रदान करते हैं।

(viii) आध्यात्मिक विकास : संस्कारों के संयोजन और अनुगमन से आध्यात्मिक विकास भी होता है क्योंकि समस्त संस्कारों का प्रधान आधार धर्म है। धर्म आध्यात्म का जीवन है। अतः भारतीय समाज आध्यात्मवाद से अनुप्रमाणित है और सभी

टिप्पणी

संस्कार धर्मसमन्वित हैं। ये संस्कार व्यक्ति की आध्यात्मिकता के क्रमिक विकास के क्रम हैं जिनसे व्यक्ति अनुप्राणित और अनुप्रेरित होकर सामाजिक क्रियाशील जीवन को आध्यात्मिक आधार पर विकसित करता है। संस्कारों में की जाने वाली सभी धार्मिक क्रियाएं विभिन्न देवी-देवताओं के अनुष्ठान से संबद्ध हैं तथा उनका दार्शनिक पक्ष भी अध्यात्म से प्रभावित है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास भी होता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. संस्कारों का उदय हुआ-

(क) वैदिक काल में	(ख) मौर्यकाल में
(ग) गुप्तकाल में	(घ) ज्ञात नहीं है

2. गौतम ने संस्कारों की संख्या बताई है–

(क) 30	(ख) 35
(ग) 40	(घ) 16

3. मनु के अनुसार नामकरण संस्कार होता है–

(क) 10 - 12 वें दिन	(ख) छठे दिन
(ग) एक मास में	(घ) एक वर्ष में

3.3 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (क)

3.4 सारांश

सभी संस्कार वर्ण धर्म और आश्रम धर्म के अंग माने गए हैं। वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति की सामाजिकता समुदाय के माध्यम से निर्धारित होती थी। आश्रम व्यवस्था का भी लक्ष्य मनुष्य को सामाजिक बनाना था, जिसके आधार पर मनुष्य का समाजीकरण होता था। इस दृष्टि से संस्कार मनुष्य के जीवन के क्रमिक विकास का व्यवस्थित, अनुशासित, एकनिष्ठ और समग्र रूप हैं। इस प्रकार व्यक्ति प्रकृति को सामाजिक पद पर प्राप्त कर लेता है जहां वह गृहस्थ बनकर उच्चतर धर्म लाभ करता है।

अधिकांश संस्कार मनुष्य के जीवन के आधे भाग में ही संपन्न हो जाते हैं। इन संस्कारों में किये जाने वाले समस्त धार्मिक कार्य व्यक्ति के समाजीकरण के परिचालक है। व्यक्ति अपने जीवन की अवधि में एक के बाद एक अनुभव प्राप्त करता है जो उसे उसके समुदाय के निकटतम होने के लिए आबद्ध करता है। समय-समय पर होने वाले संस्कार व्यक्ति और समुदाय दोनों को इसकी महत्ता का भान कराते हैं तथा यह भी

टिप्पणी

अवगत कराते हैं कि जीवन में जिन अभिव्यक्तियों का महत्व है उनके प्रति व्यक्ति का अनुपम लगाव है। व्यक्ति के संपूर्ण जीवन की कालावधि विभिन्न संस्कारों से निरूपित और संवर्द्धित होती हुई समाज के निर्माण में विशुद्धता और परिष्कृति का विनियोग करती है। मनोविश्लेषण और समाजशास्त्रीय विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य समाज में अपनी स्थिति के निर्माण और उसके उत्थान के निमित्त संस्कारों के माध्यम से अपना विकास करता है।

व्यक्ति का समाज का सदस्य बनना, अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना, परिवार या कुटुंब के माध्यम से समाज का उत्थान करना, अपना नैतिक और शैक्षणिक विकास करना आदि इन्हीं संस्कारों के माध्यम से संभव रहा है। सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नयन के साथ-साथ व्यक्ति अपना आध्यात्मिक उन्नयन भी करता है। बौद्धिक और आत्मिक परिष्करण और परिशुद्धीकरण विभिन्न संस्कारों के संपादन से होता है। मनुष्य की जब व्यक्तिगत और सामाजिक स्थिति सुदृढ़ रहती है, तब उसकी लोकसमृद्धि भी होती है तथा वह अपने नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक मूल्यों एवं प्रतिमानों को सशक्त बना सकने में सफल होता है। संस्कारों से उसका आचरण, चरित्र, कर्तव्य और आध्यात्मिक, सामाजिक कर्म प्रभावित होते हैं। अत: संस्कार जीवन को गतिशीलता प्रदान करते हुए मनुष्य के विभिन्न कर्मों को जीवंत और प्राणवान करते हैं।

आधुनिक सभ्यता और पश्चिमी प्रभाव के परिप्रेक्ष्य में आज संस्कारों का प्रचलन अत्यधिक मंद और गतिहीन हो गया है। मुंडन, उपनयन, विवाह और अंत्येष्टि जैसे संस्कारों को छोड़कर अन्य संस्कारों का हिंदू समाज से लोप होता जा रहा है। आज के परिवर्तनशील और भौतिकवादी समाज में संस्कारों का महत्व नाम मात्र का रह गया है। प्राचीन और नवीन सभ्यताओं के बीच संस्कारों का निस्तेज होना स्वाभाविक भी है।

3.5 मुख्य शब्दावली

- **हुत** - संस्कारों के दौरान यज्ञ में दी जाने वाली आहुति।
- **प्रहुत** - अग्नि में आहुति देने के पश्चात ब्राह्मणों को दी जाने वाली दान-दक्षिणा।
- **आहुत** - ब्राह्मणों को दक्षिणा देने के बाद अन्य से उपहार प्राप्त करना।
- **ऋतुसंगम, चतुर्थीकर्म या चतुर्थीक्रम** - गर्भाधान संस्कार।
- **वैवाहिकाग्नि** - विवाह संस्कार के दौरान यज्ञ के कुंड में प्रज्ज्वलित अग्नि।

3.6 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. संस्कार से क्या आशय है?
2. संस्कारों का उदय कब हुआ?
3. संस्कारों का उद्देश्य क्या था?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

टिप्पणी

1. संस्कार-विधान एवं इसकी महत्ता का विश्लेषण कीजिए।
2. सोलह संस्कारों का परिचयात्मक विवरण दीजिए।
3. संस्कारों के प्रयोजन एवं उद्देश्य की विवेचना कीजिए।

3.7 सहायक पाठ्य सामग्री

1. प्राचीन भारत का इतिहास - एल.पी. शर्मा
2. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति - के.सी. श्रीवास्तव
3. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास - जयशंकर मिश्र
4. प्राचीन भारतीय संस्कृति कला राजनीति धर्म दर्शन - ईश्वरी प्रसाद, शैलेंद्र शर्मा

इकाई 4 वाच्य परिवर्तन

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 वाच्य : अर्थ, परिभाषा एवं भेद
    4.2.1 वाच्य का अर्थ एवं परिभाषा
    4.2.2 वाच्य–विभेद
4.3 वाच्य परिवर्तन नियम व सिद्धान्त
    4.3.1 कर्तृवाच्य तालिका (सकर्मक क्रिया)
    4.3.2 कर्तृवाच्य तालिका (अकर्मक क्रिया)
    4.3.3 कर्मवाच्य तालिका (सदा सकर्मक क्रिया)
    4.3.4 भाववाच्य तालिका (सदा अकर्मक क्रिया)
    4.3.5 वाच्य परिवर्तन अभ्यास
4.4 संस्कृत निबंध
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

वाच्य अर्थात कहने योग्य अथवा प्रशंसनीय। इसका विलोम शब्द 'अवाच्य' है, जिसका सामान्य अर्थ न कहने योग्य अथवा निन्दनीय है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति कहते हैं–

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।

पहली पंक्ति का अन्वय

तव अहिताः (शत्रवः) बहून् अवाच्यवादान् वदिष्यन्ति।

इस वाक्य का कर्ता 'अहिताः' यदि प्रथमा के स्थान पर तृतीया विभक्ति में रख दिया जाए, तब वाक्य में अन्य परिवर्तन भी करने होंगे।

उदाहरणार्थ– **तव अहितैः (शत्रुभिः) बहवः अवाच्यवादाः वदिष्यन्ते।**

कर्ता पद 'अहित' जब तृतीया विभक्ति को प्राप्त हुआ तब कर्मपद 'अवाच्यवादान्' अपने विशेषण पद 'बहून्' सहित प्रथमा विभक्ति में स्थित हो गया। इसके साथ ही 'वदिष्यन्ति' यह परस्मैपद का क्रियापद भी आत्मनेपद में परिवर्तित करना पड़ा। इस प्रकार वाक्यों की अभिव्यक्ति की शैली में किया जाने वाला परिवर्तन ही व्याकरण में 'वाच्य–परिवर्तन' कहलाता है। प्रस्तुत 'वाच्य परिवर्तन' की प्रक्रिया में वाच्य का अर्थ 'कहने योग्य/प्रशंसनीय' न होकर क्रिया का विवक्षित पद है। अर्थात गीता के पूर्वोक्त

वाक्य में क्रिया पद 'वदिष्यन्ति' का विवक्षित/वाच्य था कर्तृपद 'अहिताः' जबकि परिवर्तित वाक्य में क्रियापद वदिष्यन्ते का वाच्य/विवक्षित पद हैः '(बहवः) वादाः'।

टिप्पणी

इस इकाई में वाच्य का अर्थ, परिभाषा एवं विभेद रेखांकित करते हुए वच्य परिवर्तन प्रक्रिया एवं इसके स्वरूपों से हम अवगत होंगे।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- कर्तृवाच्य में कर्ता, कर्म और क्रिया के रूप को समझ पाएंगे;
- कर्मवाच्य और भाववाच्य में कर्तृवाच्य से भिन्नता जान पाएंगे;
- तीनों वाच्य में परस्पर परिवर्तन विधि रेखांकित कर पाएंगे;
- संस्कृत के विविध निबंधों से अवगत हो पाएंगे।

4.2 वाच्य : अर्थ, परिभाषा एवं भेद

वाच्य की अर्थवत्ता, परिभाषा एवं इसके भेदों को पृथक–पृथक इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है–

4.2.1 वाच्य का अर्थ एवं परिभाषा

वाच्य का शाब्दिक अर्थ 'वाणी' या 'कथन' है। यहां वाणी का तात्पर्य वक्ता का कथन है।

वाच्य वस्तुतः किसी बात को थोड़े–से अर्थ के अंतराल से कहने का एक तरीका है, जिसमें कहे गए वाक्य–कथनों की संरचना भिन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ–

- मां ने खाना बनाया।
- मां के द्वारा खाना बनाया गया।

उक्त दोनों वाक्यों/कथनों का अर्थ समान ही लग रहा है, किंतु दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अंतर है। वाक्य–संरचनागत भिन्नता के कारण ऐसा हुआ है। प्रथम वाक्य में कर्ता क्रिया में सक्रिय रूप से प्रतिभागी है, जबकि द्वितीय वाक्य में उसकी भूमिका निष्क्रिय प्रतीत होती है।

इस प्रकार वाच्य में क्रिया के तीनों मूल रूपों की संरचना प्रधान होनी चाहिए। ये तीनों रूप हैं– कर्ता, कर्म और भाव।

उदाहरण–

- विवेक भोजन करता है। (कर्तानुसार क्रिया)
- विवेक द्वारा भोजन किया जाता है। (कर्मानुसार क्रिया)
- विवेक से भोजन किया जाता है। (भावानुसार क्रिया)

वाच्य की परिभाषा

वाच्य क्रिया का वह रूपांतर है जो यह ज्ञात कराता है कि क्रिया–निर्मित विधान का मुख्य बिंदु/विषय कर्ता है या कर्म। अर्थात क्रिया के जिस रूप से पता चले कि किसी

वाक्य में कर्ता, कर्म या भाव में किसी एक की प्रधानता है, उसे वाच्य कहते हैं। उदाहरणार्थ–

(अ) राहुल फल बेच रहा था।

(ब) (i) फल बेचा जा रहा था (ii) वह फल बहुत बिक रहा था।

(स) उससे यहां नहीं बैठा जाता।

वाक्य 'अ' में 'बेच रहा था' क्रियापद राहुल के बारे में बता रहा है। राहुल कर्ता है और क्रियापद उसी के संदर्भ में कुछ विधान कर रहा है। इस प्रकार यह वाक्य कर्तृवाच्य का रूप है।

वाक्य 'ब' में 'बेचा जा रहा था' क्रियापद का उद्देश्य विक्रेता के संदर्भ में बताना नहीं है। इसका उद्देश्य फल के बारे में बताना है। यहां संपूर्ण वाक्य में 'फल' कर्म है। इस प्रकार यह कर्मवाच्य का स्वरूप है।

वाक्य 'स' में 'बैठा जाता' क्रिया के साथ कर्म संभव नहीं है। यहां कर्ता पर भी बल नहीं है। यह क्रिया–भाव प्रधान है। इस प्रकार यह वाक्य भाववाच्य का रूप है।

इस प्रकार वह रूप–रचना वाच्य कहलाती है, जिससे यह पता चले कि क्रिया को मूल रूप से चलाने वाला कर्ता है, कर्म है या अन्य कोई घटक।

4.2.2 वाच्य–विभेद

संस्कृत भाषा में मूलतः तीन वाच्य होते हैं– (1) कर्तृवाच्य, (2) कर्मवाच्य, (3) भाववाच्य।

1. कर्तृवाच्य

कर्तृवाच्य में कर्ता प्रधान होता है। कर्ता और क्रिया के पुरुष और वचन समान होते हैं। अकर्मक तथा सकर्मक सभी धातुओं के दसों गणों में, दसों लकारों के रूप कर्तृवाच्य में होते हैं।

अकर्मक क्रिया के होने पर कर्ता में प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे– रामः हसति (अकर्मक), रामः पुस्तक पठति (सकर्मक), छात्राः हसन्ति (बहुवचन), यूयं ग्रामं गच्छथ (मध्यम पुरुष, बहुवचन), आवाम् याचावः (उत्तम पुरुष, द्विववचन), बालिका लज्जते (प्रथम पुरुष, एकवचन) इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त क्रियाओं के पुरुष और वचन कर्ता के अनुसार हैं।

कर्ता में सब जगह प्रथमा विभक्ति तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। अतः इन क्रियाओं को कर्तृवाच्य की क्रिया कहा जाएगा।

2. कर्मवाच्य

कर्मवाच्य में क्रिया द्वारा कर्म की प्रधानता प्रत्यक्ष होती है। वाक्य में कर्म प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है, कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है तथा क्रिया का पुरुष और वचन कर्म के अनुसार होता है।

कर्मवाच्य केवल सकर्मक धातुओं का ही होता है। जैसे– बालकेन पुस्तकं पठ्यते, छात्रेण वृक्षाः दृश्यन्ते, युष्माभिः वयं ताड्यामहे, पशुना पक्षिणौ दृश्येते इत्यादि वाक्यों में बालकेन, छात्रेण, युष्माभिः तथा पशुना आदि कर्ताओं में तृतीया विभक्ति है।

पुस्तकं, वृक्षाः, वयं, पक्षिणौ आदि कर्म में प्रथमा विभक्ति है तथा इन्हीं के अनुसार पठ्यते, दृश्यन्ते, ताड्यामहे तथा दृष्येते आदि क्रियाओं में पुरुष और वचन का प्रयोग हुआ है।

कर्मवाच्य की क्रियाओं में क्रिया का रूप आत्मनेपद में चलता है। लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में धातु के बाद 'य' लग जाता है तथा शेष लकारों में बिना 'य' के रूप चलता है।

3. भाववाच्य

जब अकर्मक क्रियाओं वाले वाक्य में कर्ता की प्रधानता न होकर भाव (क्रिया) की प्रधानता होती है तो वह भाववाच्य कहलाता है। यहां कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है।

भाववाच्य में क्रिया में सदा प्रथम पुरुष एकवचन का रूप रहता है। क्रिया में शेष परिवर्तन वैसे ही होते हैं, जैसे कर्मवाच्य की क्रिया में होते हैं, अर्थात् लट्, लोट्, लङ्, और विधिलिङ् में 'य' लगता है तथा सभी लकारों में आत्मनेपद में रूप चलता है। जैसे— छात्रेण हस्यते, तेन भूयते, मया भूयते, त्वया भूयते इत्यादि में कर्ता में तृतीया विभक्ति है तथा क्रिया में आत्मनेपद का प्रथम पुरुष एकवचन का 'य' के साथ बना हुआ रूप है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. संस्कृत भाषा में मूलतः कितने वाच्य होते हैं?

(क) दो	(ख) तीन
(ग) चार	(घ) पांच

2. कर्ता प्रधान किस वाच्य में होता है?

(क) कर्तृवाच्य	(ख) कर्मवाच्य
(ग) भाव वाच्य	(घ) इनमें से कोई नहीं

4.3 वाच्य परिवर्तन नियम व सिद्धान्त

वाच्य परिवर्तन के अंतर्गत तीनों प्रकार के वाच्यों को परस्पर परिवर्तित किया जाता है। सकर्मक क्रिया वाले कर्तृवाच्य वाक्य को कर्मवाच्य के वाक्य में बदला जा सकता है तथा अकर्मक क्रिया वाले कर्तृवाच्य वाक्य को भाववाच्य में बदला जा सकता है। 'भाव' शब्द का अर्थ है 'होना' अथवा 'क्रिया'। अतः भाववाच्य में क्रिया के द्वारा 'क्रिया' ही वाच्य हो जाती है तथा उस क्रिया के रूप के द्वारा कर्ता के पुरुष या वचन का न तो निर्धारण किया जा सकता है, न नियमन। उदाहरण के लिए—

'बालकेन हस्यते'

इस वाक्य में कर्ता 'बालक' शब्द यद्यपि प्रथम पुरुष का एकवचन है परन्तु क्रिया इस पर आश्रित नहीं है। 'हस्यते' के साथ बालिकया, बालकैः, बालिकाभिः, मया, त्वया, अस्माभिः, युष्माभिः आदि किसी भी कर्ता को रखा जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि यहां

'क्रिया' का वाच्य स्वयं क्रिया ही है न कि कोई कर्ता विशेष। 'बालकः हसति' वाक्य में 'हसति' के साथ प्रथम पुरुष के एकवचन के कर्ता को ही रखा जा सकता है, अतः यहां क्रिया से कर्तृवाच्य प्रमाणित है।

इस संदर्भ में पाणिनि के निम्नलिखित सूत्र पर विचार करना आवश्यक है–

'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः।' (3/4/69)

(लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च)

अर्थात सकर्मक धातुओं के लिए लकार कर्ता और कर्म में हों तथा अकर्मक धातुओं के लिए लकार भाव अर्थात क्रिया और कर्म हों।

इससे स्पष्ट है कि क्रिया चाहे सकर्मक हो या अकर्मक, कर्ता तो दोनों ही स्थिति में उपस्थित हो सकता है, जबकि अकर्मक क्रिया की स्थिति में 'कर्म' के अनुपस्थित होने से क्रिया की भाववाच्य होने की स्थिति में क्रिया स्वयं को ही प्रकट करती है।

भाववाच्य वाक्यों के निर्माण के लिए अकर्मक धातुओं की पहचान आवश्यक है। अकर्मक धातुएं किन अर्थों में होती हैं, यह निम्नलिखित श्लोक से जाना जा सकता है–

लज्जा–सत्ता–स्थिति–जागरणम्

वृद्धि–क्षय–भय–जीवन–मरणम्।

शयन–क्रीडा–रुचि–दीप्त्यर्थं

धातव एते कर्मविहीनाः।।

लज्जा, सत्ता (अस्, भू), स्थिति (स्था) जागना (जागृ), वृद्धि (वृध्)/एध्) क्षय (क्षि) जीवन (जीव्), भय (भी), मरण (मृ) शयनम् (शी/स्वप्) क्रीडा (क्रीड्/खेल) रुचि (रुच्) दीप्ति (दीप्/ज्वल्) इन अर्थों वाली धातुएं अकर्मक होती हैं।

अकर्मक क्रिया के लिए इस नियम को सदा ध्यान रखना चाहिए–

फलव्यापारसमानाधिकरणवाचकत्वम् अकर्मकत्वम्।

अर्थात क्रिया के फल के प्रभाव को जब क्रिया पर ही पड़ता देखें तो उसे 'अकर्मक' क्रिया समझें। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति किसी लक्ष्य के बिना/निरुद्देश्य जा रहा है तब उसका जाना (गम्) अकर्मक हो जाता है। अतः **'बालकेन गम्यते'** वाक्य में सकर्मक क्रिया 'गम्' भी अकर्मक के समान ही व्यवहार में आ रही है, जबकि **'बालकः ग्रामं गच्छति'** वाक्य में क्रिया के फल का प्रभाव ग्राम पर हो रहा है। अतः यहां 'गम्' सकर्मक है।

कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य के नियमों को अच्छी तरह से जान लेने पर कर्तृवाच्य के वाक्यों को 'सकर्मक' क्रिया होने पर कर्मवाच्य में बदला जा सकता है तथा 'अकर्मक' क्रिया होने पर भाववाच्य में बदला जा सकता है। इसी प्रकार 'कर्मवाच्य वाक्यों' और 'भाववाच्य वाक्यों' को कर्तृवाच्य में बदला जा सकता है। इन तीन प्रकार के वाक्यों में कर्ता, कर्म और क्रिया का स्वरूप क्या होगा; इसे हम अग्रांकित तालिकाओं से स्पष्ट रूप से जान सकते हैं–

टिप्पणी

4.3.1 कर्तृवाच्य तालिका (सकर्मक क्रिया)

कर्ता	कर्म	क्रिया
प्रथमा विभक्ति	द्वितीया विभक्ति	1. लकारों में क्रिया का कर्ता के पुरुष व वचनकर्ता के अनुसार
उदाहरण	1. बालकः पुस्तकं पठति। 2. बालकः गुरुं सेवते। 3. याचकः नृपं धनं याचति 4. याचकः नृपं धनं याचते।	2. परस्मैपदी धातुएं परस्मैपद में ही रहती हैं, आत्मनेपदी धातुएं आत्मने पद में ही प्रयोग में आती हैं जबकि उभयपदी धातुओं में परस्मैपद और आत्मने पद का विकल्प होता है।
उदाहरण	1. रामः ग्रामं गतवान्। 2. बालकाः ग्रामं गतवन्तः। 3. छात्रा विद्यालयं गतवती 4. बालिके फलानि खादिवत्यौ 5. फलं भूमौ पतितवत् 6. फलानि भूमौ पतितवन्ति।	3. 'क्तवतु' प्रत्ययान्त क्रिया होने पर क्रिया के लिंग विभक्ति और वचनकर्ता के लिंग, विभक्ति वचन के अनुरूप होते हैं।

4.3.2 कर्तृवाच्य तालिका (अकर्मक क्रिया)

कर्ता	कर्म	क्रिया
प्रथमा विभक्ति	अनुपस्थित	1. लकारों में कर्ता के पुरुष व वचनकर्ता के अनुसार
उदाहरण	1. वृक्षः वर्धते 2. वृक्षाः वर्धन्ते 3. लताः वर्धते 4. वृक्षः वर्धितवान् 5. लता वर्धितवती 6. कलिका हसति 7. कलिका हसितवती 8. पुष्पं स्थितवत् 9. पुष्पे स्थितवती 10. पुष्पाणि स्थितवन्ति	2. परस्मैपदी धातुएं परस्मैपद में ही और आत्मनेपदी धातुएं आत्मने पद में ही प्रयुक्त होती हैं। 3. क्तवतु प्रत्ययान्त धातु का रूप कर्ता के लिंग वचनानुसार रहता है।

4.3.3 कर्मवाच्य तालिका (सदा सकर्मक क्रिया)

कर्ता	कर्म	क्रिया
तृतीया विभक्ति	प्रथमा विभक्ति	1. क्रिया + यत् (य) – आत्मनेपद रूप केवल, क्रिया का पुरुष व वचन कर्म के अनुसार
उदाहरण	1. रामेण रावण हतः	2. क्रिया के कृदन्त (क्त, तव्य, शतृ, शानच् प्रत्ययान्त) रूप के विभक्ति, वचन कर्म के अनुसार।
	2. मया वृक्षः दृश्यते।	
	3. मया वृक्षाः दृश्यन्ते।	

4. मया वृक्षौ दृश्येते।
5. अस्माभिः लताः दृष्टाः।
6. युष्माभिः पर्वताः दृष्टाः
7. तैः पुष्पाणि चितानि।
8. त्वया पुस्तकं लिखितम्।
9. रामेण पतन्तं बाणं दृष्ट्वा राक्षसाः पलायिताः।
10. शिष्यैः सेवमानः गुरुः सन्तुष्टः।
11. मया क्रोधः न कर्तव्यः।
12. षड्दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
13. मया पुस्तकम् पठिष्यते।
14. मया पुस्तके पठिष्येते।
15. मया पुस्तकानि पठिष्यन्ते। (लृट्कार)
16. मया पुस्तकम् अपठ्यत। (लङ् लकार)

बालकेन लेखः लिख्यताम्/ लेखौ लिख्येताम्/लेखाः लिख्यन्ताम्। (लोट् लकार)

बालकेन वृक्षः दृश्येत/वृक्षौ दृश्येयताम्/वृक्षाः दृश्येरन्। (विधिलिङ् लकार)

टिप्पणी

विशेष– कर्मवाच्य और भाववाच्य में लङ् लकार का विकल्प क्त प्रत्यय, विधिलिङ् व लोट् लकार का विकल्प तव्य/अनीयर् प्रत्यय सरलतर प्रयोग हैं। लकार स्मरण न होने पर क्त, तव्य और अनीयर् प्रत्यय के रूप राम, लता व फल के समान अपेक्षित लिङ्ग में बनाकर प्रयोग किए जा सकते हैं।

4.3.4 भाववाच्य तालिका (सदा अकर्मक क्रिया)

कर्ता	क्रिया	उदाहरण वाक्य
तृतीया विभक्ति	1. क्रिया+य्+ आत्मनेपद रूप, प्रथम पुरुष एकवचन	1. भवता न खिद्यताम्।
	2. क्रिया के कृदन्त रूप, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, व सदा नपुंसकलिङ्ग	2. विमानैः उड्डीयताम्।
		3. तया हसितम्/अहस्यत
		4. तेन हसितव्यम्/हस्यताम्/हस्येत।
		5. भवद्भिः स्थीयताम्/स्थातव्यम्।
		6. नर्तक्या नर्तितव्यम्।
		7. शिष्येण/शिष्यैः वर्ध्यताम्/वर्धनीयम्।
		8. मया/त्वया उत्थीयताम्/उत्थातव्यम्।
		9. छात्रेण/छात्राभ्याम्/छात्रैः उपविश्यताम्/उपवेष्टव्यम्।
		10. त्वया किमर्थं रुद्यते।
		11. सर्वैः हस्यते।
		12. केनापि न भेतव्यम्

टिप्पणी

4.3.5 वाच्य परिवर्तन अभ्यास

वाच्य परिवर्तन के नियमों को इस प्रकार समझा जा सकता है–

- **कर्तृवाच्य से कर्मवाच्य में परिवर्तन**

कर्तृवाच्य से कर्मवाच्य बनाते समय निम्न परिवर्तन किए जाते हैं–

1. कर्तृवाच्य के कर्ता की प्रथमा विभक्ति के स्थान पर कर्मवाच्य में तृतीया विभक्ति की जाती है।
2. कर्तृवाच्य के कर्म की द्वितीया विभक्ति के स्थान पर कर्मवाच्य में प्रथमा विभक्ति की जाती है।
3. कर्मवाच्य में क्रिया का पुरुष/वचन तथा लिंग विभक्ति कर्म के पुरुष और वचन तथा लिंग/विभक्ति के अनुसार हो जाता है।
4. कर्तृवाच्य में क्तवतु (तवत्) प्रत्यय के स्थान पर कर्मवाच्य में क्त (त) प्रत्यय हो जाता है।

(क) कर्तृवाच्य	**(ख) कर्मवाच्य**
सः पाठं पठति।	तेन पाठ् पठ्यते।
त्वं गीतं गीतवान्।	त्वया गीतं गीतम्।
सः मां पश्यति।	तेन अहं दृश्यते।
त्वं पुष्पाणि चिनोषि।	त्वया पुष्पाणि चीयन्ते।

- **कर्मवाच्य से कर्तृवाच्य में परिवर्तन**

1. कर्मवाच्य में कर्ता की तृतीया विभक्ति कर्तृवाच्य में प्रथमा विभक्ति में बदल जाती है।
2. कर्मवाच्य में कर्मकारक की प्रथमा विभक्ति कर्तृवाच्य में द्वितीया विभक्ति में बदल जाती है।
3. क्रिया के पुरुष व वचन कर्म के अनुसार न होकर कर्ता के अनुसार होते हैं। क्रिया आत्मेन पद से परस्मैपद में बदल दी जाती है।
4. कर्मवाच्य में प्रयुक्त क्त प्रत्यय की जगह कर्तृवाच्य में क्तवतु प्रत्यय होता है। जैसे–

(क) कर्मवाच्य	**(ख) कर्तृवाच्य**
मया त्वं दृश्यते।	अहं त्वां पश्यामि।
तेन यूयं दृश्यध्वे।	सः युष्मान् पश्यति।
मया त्वम् आहूयसे।	अहं त्वाम् आह्वयामि।

- **कर्तृवाच्य से भाववाच्य में परिवर्तन**

(क) कर्तृवाच्य	**(ख) भाववाच्य**
1. बालकः क्रीडति।	बालकेन क्रीड्यते।
2. शिशुः स्वपिति।	शिशुना सुप्यते।

टिप्पणी

3. छात्राः तिष्ठन्ति।	छात्रैः स्थीयते।
4. कन्याः हसन्ति।	कन्याभिः हस्यते।
5. अश्वाः धावन्ति।	अश्वैः धाव्यते।

उपरोक्त वाक्यों में–

(1) कर्तृपद है।

(2) क्रिया पद भी है परंतु कर्मपद नहीं है।

वाक्यों में क्रीड्, स्वय्, स्था, हस्, धाव् इन धातुओं का प्रयोग है। ये धातुएं अकर्मक हैं।

इससे ज्ञात होता है कि यहां अकर्मक धातुओं का प्रयोग है। अर्थात् यहां कर्मपद नहीं है। अकर्मक धातु के योग में कर्तृवाच्य एवं भाववाच्य होते हैं।

भाववाच्य के नियम इस प्रकार हैं–

1. कर्तृपद में तृतीया विभक्ति होती है। कर्तृपद के विशेषण में भी तृतीया विभक्ति होती है।
2. भाववाच्य में अकर्मक धातुओं का ही प्रयोग होता है।
3. भाववाच्य में बहुवचन भी क्रियापद हमेशा प्रथम पुरुष एकवचन में ही प्रयुक्त होता है।
4. भू, अस्, स्था, स्वप्, शीङ्, हस्, क्रीड् इत्यादि धातुएं अकर्मक हैं।

भाववाच्य में

↓ कर्ता — तृतीया विभक्ति में होता है।

↓ कर्म नहीं होता है

↓ क्रिया — प्रथम पुरुष एकवचन में होती है

- **कर्तृवाच्य से कर्मवाच्य के उदाहरण**

कर्तृवाच्य	कर्मवाच्य
सः मां पश्यति	तेन अहं दृश्ये।
सः तं पश्यति।	तेन सः दृश्यते।
सः त्वां पश्यति।	तेन त्वं दृश्यसे।
सः तां पश्यति।	तेन सा दृश्यते।
सः आवां पश्यति।	तेन आवां दृश्यवाहे।
सः युवां पश्यति।	तेन युवां दृश्येते।
सः तौ पश्यति।	तेन तौ दृश्यते।
सः ते पश्यति।	तेन ते दृश्येते। (ते = वे दो स्त्रियां)
सः अस्मान् पश्यति।	तेन वयं दृश्यामहे।
सः युष्मान् पश्यति।	तेन यूयं दृश्यध्वे।

टिप्पणी

सः तान् पश्यति।	तेन ते दृश्यन्ते।
सः ताः पश्यति।	तेन ताः दृश्यन्ते।
ता मां पश्यतिः।	ताभ्याम् अहं दृश्ये।
ते मां पश्यन्ति।	तैः अहं दृश्ये।
सा मां पश्यन्ति।	तया अहं दृश्ये।
बालकः पुस्तकं पठति।	बालकेन पुस्तकः पठ्यते।
खगः फलं खादति।	खगेने फलं खाद्यते।
अहं पुस्तकं पठामि।	मया पुस्तकानि पठयन्ते।
ते मां पश्यतः।	ताभ्याम् अहं दृश्ये।
ताः मां पश्यन्ति।	ताभिः अहं दृश्ये।
त्वं ते पश्यसि।	त्वया सः दृश्यते।
युवां तं पश्यथः।	युवाभ्यां सः दृश्यते।
यूयं तं पश्यथः।	युष्माभिः सः दृश्यते।
अहं त्वां पश्यामि।	मया त्वं दृश्यते।
आवां त्वां पश्यावः।	आवाभ्यां त्वं दृश्यसे।
वयं त्वां पश्यामः।	अस्माभिः त्वं दृश्यसे।
रामः मोहनं पश्यति।	रामेण मोहनः दृश्यते।
अहं चन्द्रमसं पश्यामि।	मया चन्द्रमाः दृश्यते।
त्वं पुष्पाणि चिनोषि।	त्वया पुष्पाणि चीयन्ते।
बालकाः वृक्षान् पश्यन्ति।	बालकैः वृक्षाः दृश्यन्ते।
सः पुस्तकं पठतु।	तेन पुस्तकं पठ्यताम्।
शिशुः पयः पिबतु।	शिशुना पयः पीयताम्।
कृष्णः वनम् अगच्छत्।	कृष्णेन वनम् अगम्यत्।
रामः वनं गतवान् गतः।	रामेण वनं गतम्।
रमेशः पुस्तकं पठेत्।	रमेशेन पुस्तकं पठ्यते।
रमेशः ग्रामं गच्छति।	रमेशेन ग्राम गम्यते।
अहम् लेखम् लिखामि।	मया लेखः लिख्यते।
छात्रः ग्रन्थं पठति।	छोत्रेण ग्रन्थः पठ्यते।

- **कर्मवाच्य से कर्तृवाच्य के उदाहरण**

कर्मवाच्य	**कर्तृवाच्य**
युष्माभिः पर्वताः दृश्यन्ते।	यूयं पर्वतान् पश्यथ।
मया त्वम् आहूयसे।	अहं त्वाम् आहयामि।
गवां तृणानि भक्ष्यन्ते।	गौः तृणानि भक्षयति।

श्रमिकैः कार्यम् अक्रियत।	श्रमिकाः कार्यम् अकुर्वन्।
रामेण रावणः अहन्यत्।	रामः रावणम् अहनत्।
रामेण रावणः हतः।	रामः रावणं हतवान्।
श्रमिकैः कार्यं कृतम्।	श्रमिकाः कार्यं कृतवन्तः।
बालकैः वृक्षाः दृश्येरन्।	बालकाः वृक्षान् पश्येयु।
त्वया पुष्पाणि चेतव्यानि।	त्वं पुष्पाणि चिनुयाः।
तेन त्वं वदितव्यः।	सः त्वां वदेत्।
त्वया चित्रम् दृश्यते।	त्वम् चित्रम् दृश्यसि।
मया पुस्तकं पठ्यते।	अहं पुस्तकं पठामि।
बालकेन चित्रं दृश्यते।	बालकः चित्रं दृश्यति।
त्वया सा दृश्यते।	त्वम् ता पश्यसि।
सीतया वनम् गम्यते।	सीताः वनम् गच्छति।

- **कर्तृवाच्य से भाववाच्य के उदाहरण**

कर्तृवाच्य	**भाववाच्य**
सः हसति।	तेन हस्यते।
तौ हसतः।	ताभ्यां हस्यते।
ते हसन्ति।	तैः हस्यते।
त्वम् हससि।	त्वया हस्यते।
युवां हस्थः।	युवाभ्यां हस्यते।
यूयं हसथः।	युष्माभिः हस्यते।
अहं हसामि।	मया हस्यते।
आवाम् हसावः।	आवाभ्यां हस्यते।
वयम् हसामः।	अस्माभिः हस्यते।
सः खट्वायां शेते।	तेन खट्वायां शय्यते।
सः गृहे स्वपिति।	तेन गृहे सुप्यते।
त्वं कथं रोदिषि?	त्वयां कथं रुद्यते?
अहं नैव रोदिमि।	मया नैव रूद्यते।
वयं विद्यालये तिष्ठामः।	अस्माभिः विद्यालये स्थीयते।
हरिः वैकुण्ठे वसति।	हरिणा वैकुण्ठे उष्यते।
कृष्णः वनं गच्छति।	कृष्णेन वनं गम्यते।
सः पठति।	तेन पठ्यते।
सा भवति।	तया भूयते।
बालकः हससि।	बालकेन हस्यते।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. कर्तृवाच्य में 'कर्म' में कौन—सी विभक्ति प्रयुक्त होती है?
   (क) प्रथमा (ख) द्वितीया
   (ग) तृतीया (घ) पंचमी
4. भाववाच्य में 'कर्तृपद' कौन—सी विभक्ति में रहता है?
   (क) प्रथमा (ख) द्वितीया
   (ग) तृतीया (घ) चतुर्थी

4.4 संस्कृत निबंध

निबन्धलेखनं एका विशिष्टकला वर्तते। एतदन्तर्गतं निष्णातच्छात्रैः एकस्मादेव निबन्धाद्बहूनां निबन्धानाम् उद्भावना कर्तुं शक्यते। निबन्धेषु निष्णातत्त्वमवाप्तुकामैः छात्रैः अधोलिखितस्य निबन्धस्य उचितरूपेण अध्ययनं कर्तव्यम्।

1. संस्कृतभाषायाः महत्त्वम्

संस्कृत भाषा भारतस्य विश्वस्य च प्राचीनतमा भाषा अस्ति। संस्कृत भाषा परिशुद्धा व्याकरणसम्बन्धितदोषादिरहिता भाषेति निगद्यते। संस्कृतभाषैव भारतस्य प्राणभूता भाषा अस्ति राष्ट्रस्य ऐक्य च साधयति भाषा अस्ति। जीवनस्य सर्वसंस्कारेषु संस्कृतस्य प्रयोगः भवति।

सर्वासामेतेषाम् भाषाणाम् इयं जननी। सर्वे जनाम् आर्याणां सुलभा शोभना गरिमामयी च संस्कृतभाषा वाणी अस्ति। वेदाः, रामायणः, महाभारतः, भगवद् गीता इत्यादि ग्रन्थाः संस्कृतभाषायां एवं विरचितानि। इयं भाषायाः महत्वं विदेशराज्येष्वपि प्रसिद्धं अस्ति। संस्कृतभाषायाः संरक्षणार्थं वयं संस्कृतपठनं प्रचारणं च अवश्यं करणीयं। संस्कृतवाङ्मयं विश्ववाङ्मये स्वस्य अद्वितीयं स्थानम् अलङ्करोति।

संस्कृतमेव हि भारतम्। यदि वयं प्राचीन भारतमर्वाचीनं वापि भारतं ज्ञातुमिच्छामः तर्हि संस्कृतसमोऽन्य उपायः नास्ति। भारतीयजनस्य अद्यापि यत् चिन्तनं तस्य मूलं प्राचीनसंस्कृतवाङ्मये दृश्यते। यदि च तत् चिन्तनं वयं नूतनविज्ञानाभिमुख कर्तुमिच्छामस्तदा तस्य मूलं पृष्ठभूमि च अविज्ञाय विच्छिन्नरूपेण कर्तुं न शक्नुमः। यदि वयमिच्छामो यत् भारतीयजनः परिवर्तनम् आत्मसात् कुर्यात् तदा तेन परिवर्तनेन आत्मरूपेण संस्कृतमयेन च भाव्यम्।

संस्कृतस्य शब्दाः सर्वासु भारतीयभाषासु वैदेशिकभाषासु च प्रयुज्यन्ते। यदि वयं भारतीयजनानामेकीभावं, तेषां भाषागतम् अभेदं सौमनस्यं च इच्छामः तदा संस्कृतज्ञानेनैव तत् सम्भाव्यते। संस्कृत भाषा सर्वाः—भारतीयभाषायाम् सर्वं जनमानसं च एकसूत्रेण संयोजयति। प्राचीनभारतीयेतिहासस्य भूगोलस्य च समीचीनं चित्रं संस्कृताध्ययनं विना असम्भवम्।

संस्कृतसाहित्यम् अति समृद्धं विविधज्ञानमयं च वर्तते। अत्र वैदिकं ज्ञानमुपलभ्यते, यस्य क्वचिदपि साम्यं नास्ति। महाभारतं तु विश्वकोशरूपमस्ति। रामायणशिक्षाः दिशि

दिशि प्रचरिताः अस्ति। उपनिषद्भिर्वैदेशिकैरपि विद्वद्भिः शान्तिः प्राप्ता। कालिदासादीनां काव्यानाम् उत्कर्षस्य तु कथैव का।

संस्कृतवाङ्मयं विश्ववाङ्मये स्वस्य अद्वितीयं स्थानम् अलङ्करोति। संस्कृतस्य प्राचीनतमग्रन्थाः वेदाः सन्ति। वेद–शास्त्र–पुराण–इतिहास–काव्य–नाटक–दर्शनादिभिः अनन्तवाङ्मयरूपेण विलसन्ती। अस्ति एषा देववाक्। न केवलं धर्म–अर्थ–काम–मोक्षात्मकाः चतुर्विधपुरुषार्थहेतुभूताः विषयाः अस्याः साहित्यस्य शोभां वर्धयन्ति अपितु धार्मिक–नैतिक–आध्यात्मिक–लौकिक–पारलौकिकविषयैः अपि सुसम्पन्ना इयं देववाणी।

टिप्पणी

2. कालिदास

कविशिरोमणिः कविकुलगुरुः महाकवि कालिदासः कविश्रेष्ठः इति उच्यते। कालिदासः प्राचीनकालिकः राष्ट्रकविः उच्यते। कालिदासस्य जन्मस्थानं कश्मीराः वा राजस्थानं वा उज्जयिनी वेत्ति निश्चितं वक्तुं न शक्यते। न चास्य महानुभावस्य जीवनकालविषये कश्चिद् निर्णयः। महाराजविक्रमादित्यस्य राजसभाया अयं प्रतिष्ठितो विद्वान् इति सर्वैः स्वीक्रियते।

कालिदासस्य काव्ये किञ्चित् अलौकिकम्, अपूर्वम्, असाधारणम् च सौन्दर्यं दृश्यते। तस्य काव्ये आकश्मीरात् आ कन्याकुमारीम्, आ द्वारिकायाः आ प्राग्ज्योतिषम् अपूर्वं स्वाभाविकं च सौन्दर्यवर्णनम् उपलभ्यते। तस्य काव्यरसं निपीय जनानाम् हृदयम् आन्दोलितम् इव भवति। तत्तुल्यः कोऽपि कविः न आसीत्।

कालिदासेन अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्रं च इति त्रीणि रूपकाणि, रघुवंशम्, कुमारसम्भवम् च इति द्वे महाकाव्ये, ऋतुसंहारम्, मेघदूतं च इति द्वे खंडकाव्ये विरचितानि। तस्य कौशलम् यथा पद्यरचनायाम् तथैव नाटकेषु वर्तते।

कालिदासेन प्रकृतिः मानवसहचरीरूपेण वर्णिता अस्ति। यदा तस्य पात्राणि हृष्यन्ति तदा प्रकृतिः अपि प्रफुल्ला भवति। यदा तस्य पात्राणि दुःखितानि भवन्ति तदा प्रकृतिरपि रोदितीव। अभिज्ञानशाकुन्तले चतुर्थेऽङ्के शकुन्तला यदा कण्वाश्रमं त्यक्त्वा पतिगृहं प्रयाति तदा तस्या वियोगे मृगाः घासचर्वणं विस्मरन्ति, मयूरास्तस्याः शोके नृत्यं त्यजन्ति, किमन्यत् वृक्षाः लताश्चापि रुदन्ति पत्ररूपाणि अश्रूणि च पातयन्ति–

उद्गलितदर्भकवला मृगाः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः।।

कालिदासस्य काव्ये मानवमनसोऽपि गम्भीरचित्रणं वयं पश्यामः।

वैदेशिकाः कालिदासं द्वितीयं शेक्सपीयरम् एव मन्यन्ते। गेटेनामा जर्मनकविः स्वर्गलोकभूलोकयोः सौन्दर्यम् एकीभूतमिव अभिज्ञानशाकुन्तले अवलोकयति।

3. दीपावलीः

दीपावलीः हिन्दुजनानाम् पवित्रं पर्वम् अस्ति। इदं कथ्यते यत् अस्मिन् एव दिनं श्रीराम रावणादि राक्षसान् निहत्य सीतया लक्ष्मणेन च सह चतुर्दशवर्षाणां वनवासं समाप्य अयोध्यां प्रत्यागच्छन्। तदा अयोध्यावासिनः प्रसन्नी भूत्वा स्वहिप राजमार्गेषु च दीपकान् प्रज्वालयन्। श्रुत्यानुसारेण अस्मिन् एव दिने समुद्रमंथने लक्ष्मी प्रकटिता अभवत्।

अयम् उत्सवः कार्तिकमासस्य अमावस्यायां भवति। कार्तिकमासस्य कृष्णपक्षस्य त्रयोदशीतः आरभ्य कार्तिकशुद्धद्वितीयापर्यन्तं पञ्च दिनानि यावत् आचर्यते एतत् पर्व।

टिप्पणी

सायंकाले सर्वे जनाः दीपानां मालाः प्रज्वालयन्ति। दीपानां प्रकाशः अन्धकारम् अपनयति। एतत्पर्वावसरे गृहे, देवालये, आश्रमे, मठे, नदीतीरे, समुद्रतीरे एवं सर्वत्रापि दीपान् ज्वालयन्ति। प्रतिगृहं पुरतः आकाशदीपः प्रज्वाल्यते। दीपानां प्रकाशेन सह स्फोटकानाम् अपि प्रकाशः भवति। पुरुषाः स्त्रियः बालकाः बालिकाः च नूतनानि वस्त्राणि धारयन्ति आपणानां च शोभां द्रष्टुं गच्छन्ति। रात्रौ जनाः लक्ष्मीं पूजयन्ति मिष्टान्नानि च भक्षयन्ति। सर्वे जनाः स्वगृहाणि स्वच्छानि कुर्वन्ति, सुधया लिम्पन्ति सुन्दरैः च चित्रैः भूषयन्ति। ते स्वमित्रेभ्यः बन्धुभ्यः च मिष्टान्नानि प्रेषयन्ति। बालकाः बालिकाः च क्रीडनकानां मिष्टान्नानां स्फोटकपदार्थानां च क्रयणं कुर्वन्ति। अस्य पर्वणः दीपालिका, दीपोत्सवः, सुखरात्रिः, सुखसुप्तिका, यक्षरात्रिः, कौमुदीमहोत्सवः इत्यादीनि नामानि अपि सन्ति। अस्मिन्अवसरे न केवलं देवेभ्यः अपि तु मनुष्येभ्यः प्राणिभ्यः अपि दीपारतिं कुर्वन्ति।

सर्वे जनाः उत्सवप्रियाः सन्ति। भारतीयमहोत्सवेषु दीपावली उत्सवस्य स्थानं महत्वपूर्णमस्ति। यदा दीपानाम् प्रज्वाल्यन्ते तत् दीपावली उच्यते। अयम् उत्सवः प्रतिवर्षं कार्तिक मासस्य कृष्णपक्षस्यामावस्यां महता उत्साहेन जनैः समायोज्यते। अमावस्यातः पूर्वमेव सर्वे जनाः स्वेषां गृहाणां स्वच्छतां कुर्वन्ति, भवनानि सुघया लिम्पन्ति, द्वाराणि रञ्जयन्ति, नवीनमूर्ति–चित्रैश्च गृहाणि अलंकुर्वन्ति। दीपावली–दिवसे कान्दविकानामापणेषु विविधरागरञ्जितानि, बहुविधमिष्टान्नानि आकाशं स्पृशन्ति इव दृश्यन्ते। सर्वत्र चित्राणां पंक्तयः आपणानां शोभां वर्धयन्ति। रात्रौ अमावस्याः अंधकारे गृहाणामुपरि प्रज्वलिताः लघुदीपकपंक्तयः प्रकाशन्ते।

4. भारतस्य संस्कृतिः

वस्तुतः अस्माकं संस्कृतिः अस्मान् शिक्षयति यत्

''जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी''

जननी अस्माकं जन्मदात्री माता भवति, जन्मभूमिः च भारतमाता अस्ति। रामकृष्णादीनां परमात्मनः अवताराणां, वेदादिशास्त्राणां, वाल्मीकि–वेदव्यासादीनां महर्षीणां, कालिदास–तुलसीदासादीनां महाकवीनां, शङ्कराचार्यादीनां अध्यात्मज्ञानसम्पन्नानां, चन्द्रशेखर–सुभाषचन्द्रबोसादीनां देशभक्तानां च या जन्मभूमिः अस्ति, सा एव मम अपि जन्मभूमिः अस्ति इति विचारेण एव अस्माकं मस्तकं गर्वेण उन्नतं भवति।

अपरेषां संस्कृतेः अपमानाय एषा तुलना नैव अस्ति, किन्तु परिणामं दृष्ट्वा तुलना अनिवार्या भवति। वैदेशिकसंस्कृतौ आतङ्कवादिनः जायन्ते, निर्दोषाणां च हत्यां प्रमोदाय कुर्वन्ति। तत्र कोऽपि मूर्खः अकारणम् एव सार्वजनिकस्थाने भुशुण्ड्या गोलिकाप्रहारान् करोति अनेके च मृताः भवन्ति। अपरत्र अस्माकं संस्कृतिः शिक्षयति–

''विद्याविवादाय धनं मदाय,
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोः र्विपरीतमेतद्
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।

न केवलं सम्पूर्णं देशः अस्माकं भारतमाता अस्ति अपितु हिमालयात् निस्सरन्ती गङ्गा नदी अपि सर्वेषां माता एव स्वीकृता अस्ति। भारतस्य सर्वेभ्यः राज्येभ्यः भारतवासिनः गङ्गायाः क्रीडे स्नानस्य आनन्दं पुण्यं च लब्धुं वाराणसी–हरिद्वारादीनि तीर्थक्षेत्राणि

गच्छन्ति। तत्र गत्वा सर्वे एव स्व–स्वभाषासु वदन्ति – ''गङ्गामातुः जयः भवेत्'' । एकतायाः कारणभूता देशं प्रति एषा मातृभावना मिथ्या भवितुं नैव शक्नोति। अतः सत्यम् एव भारते जन्मं लब्ध्वा वयं धन्याः। तथापि संस्कृते गौरवं पश्यद्भिः अस्माभिः नोपेक्षणीयाः भारतस्य समस्याः। अतः सर्वप्रथमं द्रष्टव्यं तावद् भारतस्य कृषकाणां समस्याः।

5. वसंत ऋतु

भारतवर्षे षड्ऋतवः भवन्ति। तेषां वसन्तः प्रथमः अस्ति। वसंतकालः मनोरमः वर्तते। एतस्मिन् समये न अति ऊष्मा न वा अति शीतलता भवति। वसंतकाले सुखदायकः अनिलः प्रवहति। वृक्षेषु लताषु सुन्दराणि विविधवर्णानि कुसुमानि शोभन्ते। पलाशपुष्पैः वनस्थली आरक्ता जायते। अस्मिन् काले क्षेत्राणि सस्यपूर्णानि दृश्यन्ते। जनाः नवान्नदर्शनेन प्रमुदिताः भवन्ति। ते फाल्गुनमासे होलिकोत्सवं मन्यन्ते। ते सोल्लासपूर्वं परस्परं मिलन्ति रागैः क्रीडन्ति च। एतस्मिन् ऋतौ प्रातः भ्रमणेन स्वास्थ्यं पुष्टं जायते, वसंतकालः आनंदोल्लासस्य कालः। भारते षड् ऋतवः भवन्ति– ग्रीष्मः, वर्षाः, शरद्, हेमन्तः, शिशिरः, वसन्तश्च। वसन्तः शिशिरस्य पश्चात् आगच्छति। वसन्तः ऋतुराजः इति उच्यते।

शिशिरे सर्वेषाम् वृक्षाणाम् पत्राणि पतन्ति। वृक्षाः नग्नाः इव दृश्यन्ते। प्रकृतिरपि शोकार्ता इव दृश्यते।

वसन्ते सर्वेषु वृक्षेषु नवपल्लवाः विकसन्ति। वृक्षाणां शाखा पुष्पाणां भारेण नमन्ति। उपवनेषु मयूराः स्वपक्षान् प्रसार्य नृत्यन्ति। खगाः मधुरगीतानि गायन्ति। कोकिलानां तु अयमृतुः उत्सवः एव। यत्र तत्र आम्रवृक्षेषु कोकिलानां कुहुहूहू इति कलरवः श्रुतिगोचरो भवति। वनेषु, उपवनेषु च पादपेषु नानाविधानि नानावर्णानि च पुष्पाणि विकसन्ति। क्वचित् पलाशवृक्षेषु किंशुककुसुमानि रक्तेन दिशः रञ्जयन्तीव, अन्यत्र च तड़ागेषु पङ्कजानां शोभा पथिकानां मनो हरति, कुन्दपुष्पाणां सुरभिः दूरतः एवं जनान् आकर्षति। सर्वत्र मन्दसमीरः सुगन्धयुक्तः वहति। उपवनेषु आम्रवृक्षेषु मञ्जर्यः विकसन्ति। भ्रमराः मधुरं गुञ्जन्ति। ते पुष्पेषु उपविश्य तेषां रसं पिबन्ति।

क्षेत्रेषु धान्यपंक्तयः नृत्यन्ति इव। नेदानीं दिवसाः अति उष्णाः भवन्ति न च रात्र्योऽतिशीताः। जलमपि सुखस्पर्शं भवति। जनाः अपि प्रसन्नाः भवन्ति। ते नववस्त्राणि धारयित्वा नृत्यन्ति, गायन्ति च। जनाः उत्सवान् मानयन्ति। सर्वत्र अपूर्वः उत्साहः प्रमोदश्च दृश्यते। प्रकृतिरपि विविधवर्णपरिधानमयी प्रसन्ना इव दृश्यते।

6. श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता समस्तसंसारे विख्याता। संसारस्य अधिकांशभाषासु अस्या अनुवादाः सम्पन्नाः। सप्तशतश्लोकात्मके अस्मिन् लघुग्रन्थे सकलमानवतायै शान्तिसन्देशाः प्रदत्ताः। वस्तुतः गीतायां कृष्णार्जुनसंवादमाध्यमेन वेदानाम् उपनिषदां च ज्ञानस्य सारः संगृहीतः।

महाभारते यदा युद्धभूमौ अर्जुनः सम्मुखमेव रणाय समुद्यतानां धृतराष्ट्रपुत्राणां दुर्योधनादीनां सेनां पश्यति तदा तैः भ्रातृभिः अन्यैः सम्बन्धिभिश्च सह असौ युद्धं नेच्छति। तस्य मनसि मोहः जायते। तदा तस्य रथस्य सारथिरूपेण स्थितः महान् नीतिज्ञः योगीश्वरः श्रीकृष्णः तम् उद्बोधयति युद्धाय च प्रेरयति। सः कथयति यत् मनुष्येण फलस्य चिन्तां न कृत्वा कार्यं कर्तव्यम्। सर्वे जनाः एकस्मिन् दिवसे निश्चितम् आयुः यापयित्वा अवश्यमेव मृत्युं प्राप्नुवन्ति परन्तु तदा केवलं तेषां शरीर एवं नश्यति, आत्मा

तु अजरः, अमरः अस्ति, स न नश्यति। अतः एतेषां बन्धूनां नाशविषये भयं न कर्तव्यम्। यैः शरीरैरेते भान उत्पीडयन्ति कपटाचरणं च कुर्वन्ति तेषां नाशः आवश्यकः अस्ति। अतः अस्मिन् युद्धे युद्ध कर्तव्यमेव। अनेन भगवतः कृष्णस्योपदेशेन अर्जुनः ज्ञानं प्राप्य मोहं त्यक्त्वा युद्धाय कृतनिश्चयः अभवत्।

श्रीमद्भगवद्गीता निष्कामकर्मणः उपदेशं ददाति, निर्भीकतां च शिक्षयति। आत्मनः अजरत्वम् अमरत्वम्, व्याप्तिं, सर्वभूतान्तर्यामित्वं च उपदिश्य मनुष्यं त्यागमार्गं दर्शयति। गीतायां संन्यासस्य, कर्मणः, ज्ञानस्य भक्तेश्चापूर्वः समन्वयः लक्ष्यते। अयं समन्वयः एव भारतीयसंस्कृतेः दर्शनस्य विचारधारायाश्च प्रतीकं वक्तुं शक्यते। गीतायाः सन्देशः विश्वबन्धुत्वस्य, विश्वशान्तेः सन्देशः, आदर्शमानवस्य च सन्देशः। गीतायाः ज्ञानेन किंकर्तव्यविमूढो जनो मार्गं लभते मानसिक शान्तिं चाधिगच्छति। अतएव सर्वशास्त्राणां सारभूता गीता अमूल्यम् अप्रतिम् ग्रन्थरत्नं कथ्यते।

गीतायाः सारः अस्मिन् श्लोके वर्तते–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।

7. विद्या विहीनः पशुः

अस्माकं साहित्ये विद्याया महान् महिमा श्रूयते। विद्या एव मनुष्यस्य पार्श्वे ईदृशं तत्त्वं येन तस्मिन् वैशिष्ट्यं सम्पद्यते, स च पशुभिर्भिन्नः पृथगेव दृश्यते। यदा शिशुः जायते, तदा सः पशुतुल्य एव भवति, किन्तु पश्चात् विद्यया तस्य द्वितीयं जन्म इव भवति। येषां विद्या न भवति ते वस्त्राभूषणालङ्कृता अपि सभामध्ये मूर्खताकारणात् न शोभन्ते, ये पुनः विद्यावन्तो भवन्ति, ते सर्वत्र शोभन्ते, पूज्यन्ते, सम्मान्यन्ते च। अतएव उच्यते स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।

अस्मिन् संसारे मनुष्यः विद्ययैव सभ्यं वाग्व्यवहारं जानाति। वाक्चातुर्येण सः सर्वेषां मनांसि जेतुं समर्थोऽस्ति। विद्यैव तादृशं धनं यत् केनापि चोरयितुं न शक्यते। अस्य धनस्य तु प्रवृत्तिः विपरीता एव। अन्य धनस्य तु दानेन क्षयो भवति परन्तु विद्या रूपस्य धनस्य दानेन वृद्धिः भवति। यदि वयमन्यमध्यापयाम्, तदाऽस्माकं ज्ञानं वर्धते एव। संकटकालेऽपि विद्या नरं रक्षति विद्यया मनुष्यः संसारस्य वास्तविकतत्त्वं जानाति महान्ति कष्टानि च हसन्नेव सहते। विद्यैवास्माकं मित्रम्। वयं कुत्रापि स्याम्, अन्यः कश्चिदस्मान् न जानीयात्, परन्तु स्वविद्यया अस्माकं कालः गच्छति, अस्माकं विद्यया प्रभाविता–श्चान्येऽप्यस्माकं मित्राणि भवन्ति। मनुष्यः विद्ययैव चिन्ताक्षणेष्वपि शान्तिं लभते। विद्या मनुष्ये धैर्यं सञ्चारयति, सा तस्य हृदये अहिंसास्तेयत्यागादिभावान् जनयति येन सः स्वार्थं त्यक्त्वा जनहितमपि करोति। विद्यावन्त एवं जना नेतारो भवन्ति, अन्येभ्यः साधुमार्गं प्रदर्शयन्ति। भर्तृहरिणा एकस्मिन् पद्ये विद्याया व्यापकं महत्त्वमेवं वर्च्यते–

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशस्सुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता।
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः।।

8. राष्ट्रियैकता

राष्ट्रीयभावस्य एकता एका मनोवैज्ञानिकी प्रक्रिया अस्ति, यया कस्यचिद् राष्ट्रस्य अथवा देशस्य प्रजासु बन्धुत्वं राष्ट्रं च प्रति प्रेमभावः प्रकटी भवति। इयं राष्ट्रीयैकता राष्ट्रं सशक्तं सङ्घटितं च करोति। वस्तुतः राष्ट्रीयैकता हि सा भावना अस्ति या विभिन्नधर्माणां सम्प्रदायनां, जातीनां, वेश–भूषाणां, सभ्यतानां संस्कृतेः च लोकान् एकेन सूत्रेण बध्नाति।

यद्यपि अस्माकं देशे अनेकाः विभिन्नताः विद्यमानाः सन्ति, विभिन्नानां जातीनां सम्प्रदायानां ये लोकाः अत्र वसन्ति, तेषाम् आहार–व्यवहाराः, परिधानप्रकाराः चापि भिन्नाः एव सन्ति तथापि ते युगेभ्यः एकीभूय अत्र वसन्ति भारते च स्निह्यन्ति। समानानि तेषां तीर्थस्थानानि देशे यत्र–तत्र विकीर्णानि सन्ति परं देशस्य विभिन्नभागेभ्यः श्रद्धापूर्वकं यदा लोकाः तत्र गच्छन्ति तदा ते आत्मनः भारतवासिनः एव गणयन्ति न तु कस्यचित् विशेषप्रदेशस्य वासिनः।

वैदेशिकाः आक्रमणकारिणः अत्र अनेकानि वर्षाणि न केवलं शासनम् अकुर्वन् अपितु राष्ट्रस्य एकतां छिन्नां भिन्नां च कर्तुं बलेन प्रलोभनैः वा अस्य देशस्य वासिनां धर्मपरिवर्तनम् अपि अकारयन्। येषां धर्मपरिवर्तनम् अभवत् तेष्वपि केचन् जनाः अधुना अपि भारतं प्रति स्वस्यां जन्मभूमौ देशभक्तिं सन्धारयन्ति। परं ये एवं न कुर्वन्ति ते भारते उषित्वा अपि 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' इति घोषवाक्यानि उच्चरन्ति, परन्तु 'वन्दे मातरम्' इति वक्तुं तेषां कण्ठः न स्वीकरोति। प्रकटरूपेण प्रच्छन्नरूपेण वा ते एव आतङ्कवादस्य सहायतां कुर्वन्ति, देशस्य विकासं च विनाशे परिवर्तितुं ते इच्छन्ति। यावद् अस्माकं प्रशासनं तान् विरुध्य कठोरं स्थास्यति तावत् भारतस्य एकतायां स्वतन्त्रतायां च किमपि सङ्कटं नैव अस्ति।

यदि भारतसदृशे गणतन्त्रे राष्ट्रविरोधिनां समस्या नैव समाप्ता भविष्यति तर्हि देशस्य आधारस्तम्भेषु नष्टेषु देशस्य अपि विनाशः निश्चितः एव। दृष्टव्यं तावद् भारतस्य गणतन्त्रं तद्दिवसस्य च विवरणम्।

9. भारतस्य गणतन्त्रं

गण इति पदस्य अर्थः अस्ति समूहः, अतः गणानां तन्त्रम् एव गणतन्त्रम् उच्यते। यद्यपि गणतन्त्रदिवसस्य अवसरे मुख्यः समारोहः राजधान्यां दिल्ल्याम् आयोज्यते तथापि विभिन्नराज्येषु अपि अयं समारोहः महता उत्साहेन आयोज्यते। अस्मिन् समारोहे प्रतिवर्षं जनवरीमासे षड्विंशे दिनाङ्के इण्डियागेटस्थले विजयचौकक्षेत्रे विशालायाः दर्शकदीर्घायाः समक्षम् एकस्मिन् मञ्चं प्रति महामहिमराष्ट्रपतिः तस्य अङ्गरक्षकैः सह समागच्छति राष्ट्रध्वजस्य उत्तोलनं च करोति।

गणतन्त्रदिवसस्य प्रयाणस्य दृश्यम् अतीव आकर्षकं भवति। सेनायाः अर्द्धसैनिकबलानां समानरूपेण वाम–दक्षिणचरणानाम् उत्थापनं स्थापनं च कुर्वन्तः अग्रे चलन्ति। तेषां नायकः प्रतिनिधिरूपेण राष्ट्रपतये सैल्यूट इति मस्तकन्यस्त–हस्तेन राष्ट्रपतेः अभिवादनं करोति। सैन्यप्रयाणस्य पश्चात् विभिन्नराज्यानां अभिवादनमञ्चाः राष्ट्रपतेः अभिवादनं कर्तुं क्रमशः आगच्छन्ति। एतेषां मञ्चानां कलामयी सज्जा बहुशोभते। कस्मिंश्चित् मञ्चे कश्मीरस्य आवसीयनौकायाः दृश्यं भवति, अपरत्र कस्मिंश्चित् मञ्चे महात्मनः बुद्धस्य श्रीविग्रहः दृश्यते। कस्मिंश्चित् मञ्चे महाराणाप्रतापः चेतकाख्यं तस्य अश्वम् आरूढः दृश्यते अपरत्र कस्मिंश्चित् मञ्चे युद्धे स्वपराक्रमस्य प्रदर्शनं कुर्वन्ती वीराङ्गना लक्ष्मीबाई। विभिन्नराज्यानि स्व–स्वमञ्चेषु तेषां संस्कृतेः प्रदर्शनं प्रस्तुवन्ति।

टिप्पणी

गणतन्त्रदिवसः राष्ट्रस्य उपलब्धीनां मूल्याङ्कनस्य दिनं भवति। वार्तापत्रेषु पत्रिकासु च अस्य विस्तृतानां विवरणानां प्रकाशनं भवति। आकाशवाणीमाध्यमेन दूरदर्शन–माध्यमेन च अपि अनेकेषां प्रेरणाप्रदानां कार्यक्रमाणां प्रसारणं भवति। राष्ट्रभक्तिगीतानि श्रुत्वा लोकाः उत्साहं प्राप्नुवन्ति। गणतन्त्रदिवसः अस्माकं कृते महान् गौरवपूर्णः दिवसः भवति, अतः सर्वैः अस्मिन् रुचिः सन्धारणीया। एवम् अस्माकं देशस्य एकतामयी संस्कृतेः दर्शनं तत्र जायते।

10. सत्यमेव जयते

अस्माकं वेदाः कथयन्ति 'सत्यं वद धर्मंचर'। सते हितं सत्यं भवति। जनानां सामान्या सात्विकी प्रकृतिः सत्यमस्ति। पञ्चइन्द्रियेषु 'जिह्वां' इन्द्रियं महत्त्वपूर्णमस्ति। जिह्वायाः उपयोगः सत्यवचनेन एव कर्त्तव्यः।

सत्यं खलु ईश्वरः। धर्मः अपि सत्ये सदाश्रितः वर्तते। एवमुक्तम्–

'सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः'। सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यात्रास्ति परं पदम्। सत्यात् किमपि श्रेष्ठं पदं नास्ति। अतः सदैव सत्यस्य आश्रयः कर्तव्यः।

सत्यं परं तपः मन्यते। ऋषिमुनयः सदैव सत्यमेव वदन्ति स्म। पुरा भारतीयाः अपि सत्यवादिनः आसन्। राज्ञः हरिश्चन्द्रस्य नाम को न जानाति अत्र सत्यस्य कृते स महात्मा स्वराज्यं गुरवे विश्वामित्राय ददौ। सः न कदापि सत्यपराङ्गमुखम् अभवत्। अस्माकं धर्मशास्त्रे अपि असत्यभाषणं निन्दितम्। केनापि कदापि असत्यभाषणं कर्तव्यम् इति धर्मशास्त्रस्य उपदेशः।

यः सत्यभाषणं करोति सः निर्भिको भवति। सत्यवादी सर्वदा सम्मानं, गौरवं च लभते। तस्य सर्वपापेभ्यः मुक्तिरपि भवति अतः मनुष्येण मनसि इयं प्रतिज्ञा, कर्तव्या यत् 'अहं कदापि असत्यं न वदिष्यामि' सत्यपालनेन सुखं लभते। सत्यमेव परिवारस्य समाजस्य कल्याणाय भवति।

महाराज दशरथः सत्यपरायणः आसीत्। सः सत्यपालानार्थमेव श्रीरामं वनं प्रेषयत्। महत्मा गांधी महोदयेन सर्वदा अहिंसायाः तस्य च पालनं कृतम्। सः कथयति स्म यत् सत्येन मनः शुद्धं भवति। सत्यपालनमार्गे अनेकानि संकटानि आपतन्ति, किन्तु सत्यवक्ता तेभ्यः न विभेति। अन्ते सत्यवादिनस्य विजयं भवति। अतः सर्वेः सदैव सत्यमार्गः एव अनुसरणीयः। सर्वे जानन्ति, यत् भारतवर्षस्य राजचिह्ने अपि 'सत्यमेव जयते' इत्युक्तिम्।

11. शठे शाठ्यं समाचरेत्

अस्मिन् संसारे भिन्न–भिन्न प्रकृतिमन्तः मनुष्याः सन्ति। सज्जनाः दुर्जनाः च। ये सन्मार्गम् अनुसरन्ति, सदाचारं पालयन्ति, सदैव परेषां हितं चिन्तयन्ति, ते सज्जनाः स्वजीवनं परोपकारार्थं यापयन्ति। किन्तु अस्मिन् संसारे दुर्जनानां संख्या अधिकाः। दुर्जनाः सदैव परेषाम् अहितं चिन्तयन्ति, दुर्व्यवहारन्ति, कुकर्माणि कुर्वन्ति, एतादृशाः पुरुषाः समाजस्य हानिं कुर्वन्ति।

अस्माकं प्राचीनपरम्परा शिक्षयति, यत् 'ऋजुनैव वर्त्मना वर्तते'। महापुरुषाणाम् अपि एतदेव कथनम्। महात्मा गांधी महोदयेन अपि कथितं यत् त्वां कोऽपि मारयति, तर्हि तं न मारय, अपितु तं प्रति अपरं कपोलं कर्त्तव्यम्। हिंसायाः उत्तरं अहिंसाया दातव्यम् इति तस्य कथनमासीत्।

किन्तु आधुनिक युगे एषां नीतिः न स्वीकरणीया। यतः संप्रति बहवः जनाः स्वार्थपराः दृश्यन्ते। ये जनाः दुष्टमाचरन्ति, तान् प्रति सद्व्यवहारं नीतिविरुद्धं खलु। सज्जनान् प्रति सौजन्यं कर्तव्यं, किन्तु दुर्जनेषु, खलेषु सौजन्यनीतिः न कर्तव्या।

मधुरव्यवहारेण अपि दुर्जनाः सदाचारं न व्यवहरन्ति। यथा भुजङ्गानां पयः पानेन विषं वर्धते तथा दुर्जनान् सद्व्यवहारं विषवर्धनमेव। यथा कण्टकेन एव कण्टकं नश्यति, तथा दुर्जनाः अपि दण्डेन एव वशीभवन्ति। महाभारते व्यासेनापि उक्तं 'यस्मिन् यथा वर्तते तस्मिन् तथा वर्तित्वं स धर्मः'। इमां नीतिमनुसृत्य पाण्डवैः कौरवाः हृताः। महाकविजना हर्षेणानि उक्तं, आर्जवं हि कुटिलेषु न नीति।' दुष्टान् प्रति दुष्टव्यवहारः इयमेव नीतिः प्रभुरामचन्द्रेणपि इमां नीतिमनुसृत्य रावणस्य वधं अकरोत्। यदि रामायण–महाभारतकाले अपि एषा नीतिः स्वीकृताः तर्हि सम्प्रति कलियुगे कि कथनम्?

सज्जनानां प्रति शाठ्यं न वर्तितव्यम् किन्तु एतत् निश्चितं यत् शठः कदापि, सदुपायैः सन्मार्गागच्छन्ति। उक्तमस्ति–

कृते प्रतिकृतं कुर्यात् हिंसिते प्रतिहिंसनम्।
न तत्र दोषं पश्यामि, शठे शाठ्यं समाचरेत्।

12. मानव–जीवनस्य लक्ष्यम्

मानवजीवनं भगवता दत्तं वरदानम्। मनुष्यः जीवनं दुर्लभमस्ति। अतः दुर्लभेण प्राप्तस्य अस्य जीवनस्य सदुपयोगः कर्तव्यः। प्रयोजनं विना जीवनं व्यर्थमस्ति। साधारणः जनः प्रयोजनमुद्दिश्य जीवनं व्यापयति। पशवः तु लक्ष्यविहीनाः सन्ति। पशुमानवयोः मध्ये अयं प्रमुख भेदोऽस्ति। यत् मानवः प्रयोजनम् उद्दिश्य कार्यं कुर्वन्ति। तेषां पशवानां किमपि लक्ष्यं नास्ति।

मनुष्यः स्वभावतः सामाजिको प्राणी अस्ति। सः विवेकशीलः अपि अस्ति। तस्य कानिचित् निर्धारितानि लक्ष्याणि सन्ति। तस्यः एकः परिवारः अस्ति। परिवारस्य सुखं प्रमुखं लक्ष्यमस्ति। निजपुत्राणाम् अध्ययनाय परिवारस्य कल्याणाय च सः अहर्निशं प्रयत्नं करोति। वृद्ध जनानां सेवा अपि तस्य परमं कर्तव्यं भवति।

मनुष्यजीवनस्य अन्यद् उद्देश्यम् अस्ति समाजसेवा। यस्मिन् समाजे स वसति, तत्समाजस्य समुन्नतिः तस्य प्रमुखं लक्ष्यम्। यदि देशस्य प्रत्येकः नागरिकः समाजसेवायां दृढ़निश्चयो भवेत् तर्हि समाजे सर्वेऽपि सुखिनो भवन्ति।

देशसेवा अपि मानवजीवनस्य उद्देश्यं खलु। अनेके देशभक्ताः देशरक्षणार्थाय स्वप्राणान् अपि अत्यजन्। ते वीरपुरुषाः सर्वेषाम् आदर्शा सन्ति। अतः मातृभूमि रक्षणं मानवजीवनस्य परमं लक्ष्यम्।

स्वयं ज्ञानं गृहीत्वा, विद्यायाः प्रसार अपि मानवजीवनस्य लक्ष्यमस्ति। अस्माकं देशे ग्रामीणविभागे बहवः जनाः निरक्षराः सन्ति। अतः ग्रामेषु विकासः न जातः। ग्रामे–ग्रामे साक्षरता प्रसारः अति–आवश्यकः खलु।

लक्ष्यविहीनानां जीवनं पशुवत् भवति। विद्यार्थिभिः तु कदापि लक्ष्यत्यागः न कर्तव्यः। यदि तेषां जीवने लक्ष्यं भवति, तर्हि ते सफलतां प्राप्नुवन्ति। प्रयासेन तेषामुद्देश्यम् अवश्यं पूर्णं भवति। यः स्वजीवनं परजीवनं च सुखसमृद्धियितुं प्रयतते, तस्य लक्ष्याणि सफलानि भवन्ति। ये समाहितार्थं, देशहितार्थं कार्याणि कुर्वन्ति, ते अवश्यं यशस्विनः भवन्ति।

13. आचारः परमो धर्मः

अस्माकं भारतीय संस्कृतिः आचार–प्रधाना अस्ति। आचारः द्विविधः भवति–दुराचारः सदाचारः च। सताम् आचारः सदाचारः इत्युच्यते। सज्जनाः विद्वांसो च यथा आचरन्ति तथैव आचरणं सदाचारो भवति। सज्जनाः स्वकीयानि इन्द्रियाणि वशे कृत्वा सर्वैः सह शिष्टतापूर्वकं व्यवहारं कुर्वन्ति। ते सत्यं वदन्ति, मातुः पितुः गुरुजनां वृद्धानां ज्येष्ठानां च आदरं कुर्वन्ति, तेषाम् आज्ञां पालयन्ति, सत्कर्मणि प्रवृत्ता भवन्ति।

जनस्य समाजस्य राष्ट्रस्य च उन्नत्यै सदाचारस्य महती आवश्यकता वर्तते। सदाचारस्याभ्यासो बाल्यकालादेव भवति। सदाचारेण बुद्धिः वर्तते नरः धार्मिकः, शिष्टो, विनीतो, बुद्धिमान् च भवति। संसारे सदाचारस्यैव महत्त्वं दृश्यते। ये सदाचारिणः भवन्ति, ते एव सर्वत्र आदरं लभन्ते। यस्मिन् देशे जनाः सदाचारिणो भवन्ति तस्यैव सर्वतः उन्नतिः भवति। अतएव महर्षिभिः "आचारः परमो धर्मः" इत्युच्यते। सदाचारी जनः परदारेषु मातृवत् परधनेषु लोष्ठवत्, सर्वभूतेषु च आत्मवत् पश्यति। सदाचारीजनस्य शीलम् एव परमं भूषणम् अस्ति।

आचारविहीनस्य जनस्य समाजे क्वचिदपि स्थानं न वर्तते। सः यद्यपि प्रभुत्वकारणाद् वा धनकारणाद् वा कालविशेषे वा सम्मानितः स्यात्, परन्तु आचाराभावात् जनाः सर्वदा सर्वकालेषु च तं न सम्मानयन्ति, न च तस्मिन् विश्वसन्ति। परमात्मोपलब्धये, भक्तये, स्वसुखशान्तिभ्यां च अपि मनुष्येण अवश्यमेव सदाचारिणा भाव्यम्। नारायणोऽपि नरान् प्रति निष्कपटस्निग्धसत्यव्यवहारेणैव प्रसीददति। इयं च लोकविश्रुता कथा यत् यदा वाल्मीकिना दस्युप्रवृत्तिः परित्यक्ता, केवलं तदैवासौ भगवद्भक्तौ आसक्तो अभवत्, तदैव च तेन रामायणसदृशम् अमरकाव्यं विरचितम्। अतः आत्मोत्कर्षाय समाजोत्कर्षाय परमशान्त्युपलब्धये च सदाचारः परमावश्यकः। यो जनः सदाचारपथे वर्तते, तस्य मनसि न मनागपि भयं अस्ति, भौतिकसुखमप्राप्यापि तस्य मानसिकं सुखम् अपरिमितं विद्यते।

14. परोपकाराय सतां विभूतयः

परोपकारभावनयैव महाराजो दधीचिः देवानां हिताय स्वीयानि अस्थीनि स्वमांसं श्येनाय ददौ। महर्षिः दयानन्दः, महात्मा गांधीश्च भारतभूमिहितायैव प्राणान् दत्तवन्तौ। अतः सर्वैरपि सर्वदा सर्वथा परोपकारः करणीयः।

परेषाम् उपकारः परोपकारः कथ्यते। यः पुरुषः स्वार्थं त्यक्त्वा परकार्यं करोति, सः धन्यः। सर्वाप्रकृतिः उपदिशति परोपकारम्। नद्यः जलानि प्रयच्छन्ति, वृक्षाणि फलानि पुष्पाणि पत्राणि च यच्छन्ति। अस्मिन् संसारे सर्वे पदार्थाः परोपकारे निरताः सन्ति। अस्मिन् संसारे मनुष्य एव कर्तव्याकर्तव्यविचारयितुं समर्थोऽस्ति। परस्परसाहाय्यं विना मानवजीवनं पुष्पहीनं पादप इव महत्वहीनं भविष्यति। शास्त्रेषु परोपकारस्य बहुमहत्वं वर्णितमस्ति। परोपकारेण मानवसमाजं मानवानां शान्तिः सुखं च वर्धते। परोपकारसदृशः अन्यत् तपो न विद्यते। परोपकारः मानवस्य श्रेष्ठतमो धर्मः अस्ति। परोपकारे मानवः स्वसुखम् त्यक्त्वा अन्यत् मानवस्य दुःखं हरति। आत्मपीडया यदि अन्यमानवस्य पीडा हरति तेन सुखतरं किम्। एतत् परोपकारगुणस्य महात्म्यं यत् मानवेषु समाजसेवा भावना, देशभक्ति भावना, दीनोद्धरण भावना, सहानुभूतिर्गुणोदयश्च वर्धते। यो परोपकारं करोति सः उपकृतं व्यक्तिरपि सुखी भवति। परोपकारी पुरुषस्य मनसो पवित्रः सदयः, सरसः च जायते। सत्पुरुषाः स्वकीयं दुःखं विस्मृत्य परोपकारकरणे प्रसन्नाः भवन्ति यथा हि–

श्रोत्रम् श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कंकणेन। विभाति कायः खलु सज्जनानां परोपकारेण न चन्दनेन। परोपकारस्य भावना प्रकृत्याः अनुकरणीया। वृक्षाः आदान भावना रहिता फलानि ददति, नद्यश्च सलिलम् प्रवहन्ति। गावश्च महिषश्च अमृतोपमं दुग्धं ददति। परोपकारभावनायैव महाराज शिविः कपोतस्य रक्षणार्थं स्वहस्ताभ्यां निजमांसमुत्कृत्य श्येनाय प्रायच्छत्। सज्जनानाम् परोपकारैव आभूषणमस्ति यथा— पिबन्ति नद्यः स्वमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः। ना खादन्ति सस्यं खलु वारिवाहा, परोपकाराय सतां विभूतयः।

टिप्पणी

15. भारतस्य कृषकाणां समस्याः

भारतं खलु कृषकाणां देशः अस्ति। अस्माकम् अर्थव्यवस्थायाः आधारभूताः कृषकाः एव सन्ति। एवमपि कथितुं शक्यते यत्, कृषकाणामेव स्कन्धेषु देशस्य अर्थव्यवस्थायाः प्रमुखो भारः तिष्ठति।

परन्तु एतद् दुर्भाग्यमेव यद् अस्माकम् अधिकांशाः कृषकाः निर्धनतायां जीवनयापनं कुर्वन्ति। समयः परिवर्तते, किन्तु न तेषां जीवनम्। तेषाम् अशिक्षा अपि तेषां विकासं बाधते। यस्याः परिणामस्वरूपं ते समयानुसारं स्वजीवनस्तरे परिवर्तनम् आनेतुम् अशक्याः सन्ति।

भारतीयकृषकाः सामान्यतया आडम्बरेण रहिता वेषभूषां धारयन्ति, परन्तु कष्टदायिका इयं परिस्थितिः यत् ते एतादृशे वातावरणे निवसन्ति, यद् हि तेषां स्वास्थ्यदृष्ट्या अनुकूलं नैव वर्तते। मलिनानि लघूनि च गृहाणि, गृहेषु शौचालयस्य अभावः इत्यादिभिः समस्याभिः तेषां स्वास्थ्यं प्रायः सङ्कटापन्नं भवति। पुनः चिकित्सालयाः अपि गृहेभ्यः बहुदूरे भवन्ति। तेषां जीवनशैल्यां परिष्कारम् आनेतुं प्रशासनानि अपि चिन्तारहितानि दृश्यन्ते।

यत्र कृषकाः वसन्ति तत्र ग्रामाणां समीपे विद्यालयानां, चिकित्सालयानां उचिता पर्याप्ता च व्यवस्था भवेत्। यदि अस्माकं कृषकाः शिक्षिताः स्वस्थाः च भविष्यन्ति तदा न केवलं ते शस्योत्पादने अधिकं कुशलाः भविष्यन्ति अपितु देशः अपि अधिकः समुन्नतः भविष्यति, देशस्य अर्थव्यवस्था च समधिका उन्नता भविष्यति।

परन्तु महती विडम्बना अस्ति यत् अभावग्रस्ताः अनेके कृषकाः आत्महत्यां कुर्वन्ति। यदा वर्षायाः अभावेन अथवा जलौघादिभिः तेषां क्षेत्रेषु शस्योत्पादनं नष्टं भवति, तदा प्रशासनेन तेभ्यः द्रुतम् एव सहायता करणीया। कृषकैरेव भारतस्य विशालजनसङ्ख्यायाः उदरपूर्तिः करणीया, अतः कल्याणनिवेशिभिः अस्माभिः द्रष्टव्या अस्माकं जनसङ्ख्या समस्या।

16. भारतस्य जनसंख्यासमस्या

अस्माकं देशे विकासे विघ्नकारिण्यः अनेकाः जटिलाः समस्याः सन्ति। तासु जनसङ्ख्या–वृद्धिः अपि अन्यतमा अस्ति।

देशे जनसङ्ख्यावृद्धेः अनेकानि कारणानि सन्ति। सर्वप्रथमम् अस्माकं देशस्य जलवायुः प्रजननाय अधिका अनुकूला अस्ति। एतद् अतिरिक्तं निर्धनता, अशिक्षा, रूढिवादिता, संकीर्णविचाराः चापि जनसङ्ख्यावृद्धेः अन्यानि महत्त्वपूर्णानि कारणानि सन्ति। देशस्य अनेकभागेषु बाल–विवाहस्य परम्परा अपि प्राचीनकालात् प्रवर्तते, एतस्याः कारणाद् अपि समधिकानां शिशूनां जन्म भवति।

टिप्पणी

शिक्षायाः अभावः अपि जनसंख्यावृद्धेः एकं प्रमुखं कारणम् अस्ति। परिवारनियोजनस्य महत्त्वं अज्ञानवशात् लोकाः न अवगच्छन्ति। एतद् अतिरिक्तं समाजे पुरुषप्रधाने सति लोकाः बालकस्य जन्मनः इच्छाधीनाः भवन्ति, अतः दीर्घसन्ततिपरम्परां प्रवर्तन्ते। यावत् कन्याः जायन्ते तावत् ते सन्तुष्टाः न भवन्ति। तत्पश्चात् शिशूनां उचितस्य भरण–पोषणस्य सामर्थ्यस्य अभावे निर्धनतापूर्णं कष्टमयं च जीवनं यापयन्ति।

देशे चिकित्साक्षेत्रे अपि गुणवत्तायां परिष्कारः समायातः। एतस्य फलस्वरूपं जन्ममात्रायां वृद्धया सहैव मृत्युमात्रायाम् अपि न्यूनता समायाता। कुष्ठस्य, राज्यलक्ष्मायाः कर्कटरोगस्य च आदीनां असाध्यरोगाणाम् उपचारः सम्भवः जातः। अनेन कारणेन अपि जनसंख्या अनियंत्रितगत्या वर्धमाना अस्ति। तथापि अशिक्षा निर्धनता च जनसङ्ख्यायाः वृद्धेः मूलकारणत्वेन वर्तते।

अधुना देशे जनसंख्यावृद्धेः समस्या अतीव भयावहा वर्तते, फलस्वरूपं देशस्य सम्मुखे अनेकाः समस्याः सन्ति विकासस्य गतिः च मन्दतरा भवति। अतः अस्या समस्यायाः समाधानाय प्रशासनेन बृहत्स्तरे शिक्षायाः विकासः करणीयः। शिक्षिते हि समाजे न केवलं जनसङ्ख्यावृद्धेः समस्यायाः अपितु अनेकानां समस्यानां समाधानं भविष्यति।

अपनी प्रगति जांचिए

5. भारतवर्ष में ऋतुएं कितने प्रकार की होती हैं?

   (क) छह (ख) तीन

   (ग) सात (घ) आठ

6. विद्या विहीन मनुष्य को किसके समान बताया गया है?

   (क) देवता (ख) ईश्वर

   (ग) राक्षस (घ) पशु

4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ख)
4. (ग)
5. (क)
6. (घ)

4.6 सारांश

इस इकाई में वाच्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि वाक्य में क्रिया से कर्ता, कर्म अथवा भाव की अभिव्यक्ति के आधार पर तीन प्रकार के वाच्य होते हैं। जब क्रिया सकर्मक या अकर्मक होने पर कर्ता के पुरुष व वचन को अभिव्यक्त करने

में समर्थ होती है तब कर्तृवाच्य होता है। सकर्मक क्रिया से जब कर्म के पुरुष तथा वचन की अभिव्यक्ति हो तब कर्मवाच्य होता है। क्रिया अकर्मक हो और उससे न तो कर्ता की अभिव्यक्ति हो रही हो और न ही कर्म की तब भाववाच्य होता है अर्थात तब क्रिया स्वयं (भाव/होने) को ही अभिव्यक्त कर रही होती है। कर्तृवाच्य में कर्तृपद सदैव प्रथमा विभक्ति में होता है तथा कर्म (यदि हो तो) द्वितीया विभक्ति में रहता है।

कर्मवाच्य के वाक्यों में कर्ता (यदि हो तो) तृतीया विभक्ति में रहता है तथा कर्म प्रथमा विभक्ति में रहता है। भाववाच्य में भी कर्ता (यदि हो तो) तृतीया विभक्ति में रहता है तथा क्रिया प्रथम पुरुष एकवचन की ही होती है। भाववाच्य में क्रिया यदि कृदन्त प्रत्यय युक्त हो तो उसका रूप नपुंसकलिंग प्रथमा विभक्ति एकवचन में रहता है।

वाच्य परिवर्तन का जहां तक प्रश्न है, कर्मवाच्य अथवा भाववाच्य, इन दोनों प्रकार के वाक्यों को कर्तृवाच्य में बदला जा सकता है। जबकि अकर्मक क्रिया वाले कर्तृवाच्य वाक्य को भाववाच्य में ही बदला जा सकता है और सकर्मक क्रिया वाले कर्तृवाच्य वाक्य को केवल कर्मवाच्य में बदला जा सकता है।

क्रिया सकर्मक हो तो कर्तृवाच्य वाक्य के कर्तृपद में प्रथमा के स्थान पर तृतीया विभक्ति लगाने से, और कर्म में द्वितीया के स्थान पर प्रथमा विभक्ति लगाने पर वाच्य परिवर्तन होता है तथा वाक्य कर्मवाच्य का बन जाता है। साथ ही धातुरूप में तदनुकूल परिवर्तन करने पड़ते हैं। क्रिया के अकर्मक होने पर कर्तृपद में तृतीया व धातु के लकार रूपों में 'य्' को जोड़कर प्रथम पुरुष एकवचन का रूप प्रयोग में आता है। कर्मवाच्य और भाववाच्य दोनों में ही लकार रूप आत्मनेपद में होना अनिवार्य होता है। कृदन्त रूप होने पर कर्मवाच्य में कर्मपद के अनुसार क्रिया के लिंग, विभक्ति वचन होते हैं। भाववाच्य में कृदन्त रूप नपुंसकलिंग, प्रथमा विभक्ति एकवचन का होता है। इन सारभूत तथ्यों का ध्यान रखने पर वाच्य परिवर्तन सरल हो जाता है। विभिन्न निबन्धों के अनेक वाक्यों के वाच्य–परिवर्तन के प्रयासों से वाच्य–परिवर्तन का अभ्यास एक प्रशस्त मार्ग है।

4.7 मुख्य शब्दावली

- **वाच्य** – क्रिया का विवक्षित कर्ता, कर्म अथवा भाव।
- **सकर्मक क्रिया** – ऐसी क्रिया जिसका कर्म संभव हो।
- **अकर्मक क्रिया** – ऐसी क्रिया जिसका कर्म असंभव हो।
- **दीप्त्यर्थधातुः** – ऐसी धातु जिसका अर्थ चमकना, जलना, प्रकाशित होना आदि हो।
- **दृश्येते** – दो पदार्थ देखे जा रहे हैं।

4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. कर्तृवाच्य में कर्ता और कर्म किस विभक्ति में होते हैं?
2. कर्तृवाच्य को भाववाच्य में कैसे परिवर्तित किया जा सकता है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. तीनों प्रकार के वाच्यों का परिचय देते हुए इनके पारस्परिक परिवर्तन के नियमों को सोदाहरण लिखिए।

टिप्पणी

2. संस्कृत में एक निबंध लिखिए।

4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. रचनानुवादकौमुदी–लेखक–कपिल देव द्विवेदी।
2. प्रौढरचनानुवादकौमुदी–लेखक–कपिल देव द्विवेदी।

इकाई 5 समास (लघुसिद्धांतकौमुदी से)

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 समास : परिभाषा एवं भेद
5.3 समास प्रकरणम् (स–विग्रह : लघुसिद्धांतकौमुदी से)
  5.3.1 केवल समासः
  5.3.2 अथ अव्ययीभाव समासः
  5.3.3 अथ तत्पुरुष समासः
  5.3.4 अथ बहुव्रीहि समासः
  5.3.5 अथ द्वन्द्व समासः
  5.3.6 अथ समासान्ताः
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

आचार्य पाणिनि रचित अष्टाध्यायी जहां एक ओर व्याकरण के विद्वानों के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं अपरिहार्य ग्रन्थ है वहीं, अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रकरण के आधार पर सरल प्रकार से संपादित करके लघुसिद्धान्तकौमुदीकार आचार्य वरदराज ने ऐसे व्यवस्थित कर दिया है कि अल्पमति अध्येताओं का संस्कृत व्याकरण में प्रवेश संभव हो जाता है। इसमें पाणिनि के 1272 सूत्रों को सोदाहरण व्याख्या सहित प्रस्तुत किया गया है।

सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वरदराज ने एक अन्य ग्रन्थ 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' भी लिखा है।

पाठ्यक्रम निर्धारित समास प्रकरण आचार्य वरदराज रचित 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' से समवतरित है। इसमें समास, समास की परिभाषा और समस्त पदों के नियमों को सूत्रात्मक पद्धति से आप पढ़ पाएंगे साथ ही समासों के लौकिक व अलौकिक विग्रह भी सीखेंगे।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- समास की परिभाषा और भेदों से अवगत हो पाएंगे;
- लघुसिद्धान्तकौमुदी के समास प्रकरण के सूत्रों से अवगत हो पाएंगे;
- समास प्रकरण के सूत्रों को वृत्ति सहित समझ पाएंगे;

- सूत्रों की सहायता से समास एवं विग्रहण करने में सक्षम हो पाएंगे;
- उदाहरणों की सहायता से समास–विग्रह सरल भाषा में कर पाएंगे।

टिप्पणी

5.2 समास : परिभाषा एवं भेद

समास को परिभाषित करते हुए कहा गया है– **'अनेकेषां पदानां एकपदी भवनं समासः।'**

जब दो या दो से अधिक पदों को संक्षिप्त करके एक पद बन जाता है, वह समास कहलाता है। 'समास' शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है 'संक्षिप्त रूप'। जैसे– दिनं दिनं प्रति–प्रतिदिनं।

समास–विग्रह

किसी समस्त पद को उसके विभिन्न पदों एवं विभक्ति सहित पृथक् करने की क्रिया समास–विग्रह कहलाती है।

समास के भेद

समास के पांच भेद बताए गए हैं–

1. केवल समास– तत्पुरुषादिसंज्ञाविनिर्मुक्तः समाससंज्ञामात्रयुक्तः केवल समासः। अर्थात् जो समास तत्पुरुष आदि किसी विशेष नाम से अभिहित न किया गया हो, वह समास केवल समास कहलाता है, जैसे– भूतपूर्वः।

2. अव्ययीभाव समास– पूर्वपदार्थप्रधानो अव्ययीभावः अर्थात् जिस समास में पूर्व पद प्रधान होता है, वह अव्ययीभाव समास कहलाता है, जैसे–

समीपार्थकः – कृष्णस्य समीपम् – उपकृष्णम्

अभावार्थकः – मक्षिकाणाम् अभावः – निर्मक्षिकम्

योग्यतार्थकः – रूपस्य योग्यम् – अनुरूपम्

वीप्सार्थकः – दिनं दिनं प्रति – प्रतिदिनम्

मर्यादार्थकः – आ मुक्तेः – आमुक्तिः

मात्रार्थकः – शाकस्य लेशः – शाकप्रति

अवधारणार्थकः – यावन्तः श्लोकाः – यावच्छ्लोकम्

मध्येशब्दयुक्तः – मध्ये गंगायाः – मध्येगंगाम्

3. तत्पुरुष समास– उत्तरपदार्थप्रधानो तत्पुरुषः अर्थात् जिस समास में उत्तर पद की प्रधानता होती है, वह तत्पुरुष समास कहलाता है, जैसे–

प्रथमा तत्पुरुषः – अर्धं ग्रामस्य – अर्धग्रामः

द्वितीया तत्पुरुषः – गृहं गतः – गृहगतः

तृतीया तत्पुरुषः – नखैः भिन्नः – नखभिन्नः

चतुर्थी तत्पुरुषः – गवे हितम् – गोहितम्

टिप्पणी

पंचमी तत्पुरुषः – चोरात् भयम् – चोरभयम्

षष्ठी तत्पुरुषः – वृक्षस्य मूलम् – वृक्षमूलम्

सप्तमी तत्पुरुषः – कार्ये कुशलः – कार्यकुशलः

(क) **द्विगु समास– संख्यपूर्वो द्विगु** अर्थात् द्विगु समास में प्रायः पूर्वपद संख्यावाचक होता है। यह तत्पुरुष समास का ही एक भेद है, जैसे–

त्रयाणां लोकानां समाहारः – त्रिलोकी

षण्णां मातृणाम् अपत्यम् – षाण्मातुरः

पंच गावः धनं यस्य सः – पंचगवधनः आदि।

(ख) **कर्मधारय समास– तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः** अर्थात् कर्मधारय समास में एक पद विशेषण होता है और दूसरा पद विशेष्य होता है। यह समास तत्पुरुष समास का ही एक अन्य भेद है, जैसे–

विशेषणपूर्वपदः – नीलो मेघः – नीलमेघः

विशेषणोत्तरपदः – वैयाकरणः खसूचिः – वैयाकरणखसूचिः

विशेषणोभयपदः – शीतम् उष्णम् – शीतोष्णम्

उपमानपूर्वपदः – घन् इव श्यामः – घनश्यामः

अवधारणापूर्वपदः – विद्या इव धनम् – विद्याधनम्

मध्यमपदलोपः – शाकप्रियः पार्थिवः – शाकपार्थिवः

4. बहुव्रीहि समास– अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः अर्थात् जिस समास में किसी अन्य पद के अर्थ की प्रधानता होती है, वह बहुव्रीहि समास कहलाता है। समस्त पद का प्रयोग अन्य पदार्थ के विशेषण के रूप में होता है, जैसे–

पद्मं नाभौ यस्य सः – पद्मनाभः (विष्णु)

पीतम् अम्बरं यस्य सः – पीताम्बरः (विष्णु)

पीला है वस्त्र जिसका वह – पीताम्बर अर्थात् विष्णु

यहां 'पीतम्' तथा 'अम्बरम्' इन दोनों पदों के अर्थ की प्रधानता नहीं है, अपितु दोनों पदार्थ मिलकर किसी अन्य पद के अर्थ 'पीताम्बरः' इस समस्त पद का बोध कराते हैं इसलिए यहां बहुव्रीहि समास है।

इसके अन्य उदाहरण हैं, जैसे–

(i) **समानाधिकरण बहुव्रीहि**– जब समास के पूर्व और उत्तर पद में समान विभक्ति होती है तब वह समानाधिकरण बहुव्रीहि समास कहलाता है, जैसे–

प्राप्तम् उदकं येन सः – प्राप्तोदकः (ग्रामः)

हताः शत्रवः येन सः – हतशत्रुः (राजा)

पतितं पर्णं यस्मात् सः – पतितपर्णः (वृक्षः)

दश आननानि यस्य सः – दशाननः (रावणः)

टिप्पणी

(ii) **व्यधिकरण बहुव्रीहि** – जब समास के पूर्व और उत्तर पद में भिन्न–भिन्न विभक्ति होती है तब व्यधिकरण बहुव्रीहि समास होता है, जैसे–

चक्रं पाणौ यस्य सः – चक्रपाणिः (विष्णुः)

शूलं पाणौ यस्य सः – शूलपाणिः (शिवः)

चन्द्रः शेखरे यस्य सः – चन्द्रशेखरः (शिवः)

रघुकुले जन्मः यस्य सः – रघुकुलजन्मा (रामचन्द्रः)

(iii) **तुल्ययोगे बहुव्रीहि** – यहां 'सह' शब्द का तृतीयान्त पद के साथ समास होता है, जैसे–

पुत्रेण सहितः – सपुत्रः

बान्धवैः सहितः – सबान्धवः

विनयेन सह विद्यमानम् – सविनयम्

(iv) **उपमानवाचक बहुव्रीहि** – यहां उपमान वाचक पद के साथ समास होता है, जैसे–

चन्द्रः इव मुखं यस्याः सा – चन्द्रमुखी

पाषाणवत् हृदयं यस्य सः – पाषाणहृदयः

5. द्वन्द्व समास – 'उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः' अर्थात् जिस समास में दोनों पद प्रधान होते हैं, वह द्वन्द्व समास कहलाता है, जैसे–

धर्मः च अर्थः च – धर्मार्थौ

द्वन्द्व समास के भेद– द्वन्द्व समास के तीन भेद होते हैं– इतरेतर द्वन्द्व समास, एकशेष द्वन्द्व समास और समाहार द्वन्द्व समास।

(i) **इतरेतर द्वन्द्व समास**– द्वन्द्व समास में भिन्न–भिन्न पद अपने वचन आदि से मुक्त होकर क्रिया के साथ संबद्ध होते हैं, जैसे–

कृष्णश्च अर्जुनश्च – कृष्णार्जुनौ

हरिश्च हरश्च – हरिहरि

रामश्च कृष्णश्च – रामकृष्णौ

रामः च लक्ष्मणः च – रामलक्ष्मणौ

सुखं च दुःखं च – सुखदुःखे

पिता च पुत्रश्च – पितापुत्री

पुत्रः च कन्या च – पुत्रकन्ये

(ii) **एकशेष द्वन्द्व समास** – इसमें एक ही पद शेष रहता है अन्य सभी पद लुप्त हो जाते हैं, जैसे–

रामः च रामः च – रामौ (राम और राम)

हंसः च हंसी च – हंसी

टिप्पणी

पुत्रः च पुत्री च – पुत्री

भ्राता च स्वसा च – भ्रातरौ

पुत्रः च दुहिता च – पुत्री

माता च पिता च – पितरौ

(iii) **समाहार द्वन्द्व समास** – इस समास में एक ही प्रकार के अनेक पद मिलकर समाहार अर्थात् समूह का रूप धारण कर लेते हैं– 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङगानाम्।' समाहार द्वन्द्व समास नपुंसकलिंग एकवचन में होता है। प्राणि, वाद्य, सेनादि के अंगों का समाहार द्वन्द्व समास एकवचन में होता है। जैसे–

पाणी च पादौ च तेषां समाहारः – पाणिपादम्

अहिश्च नकुलश्च तयोः समाहारः – अहिनकुलम्

मार्जाराश्च मूषिकाश्च तेषां समाहारः – मार्जारमूषिकम्

गङ्गा च शोणश्च तयोः समाहारः – गंगाशोणम्

यूकाश्च लिक्षाश्च तासां समाहारः – यूकालिक्षम्

तक्षाः च अयस्काराश्च तयोः समाहारः – तक्षायस्कारम्

छत्रं च उपानही च तेषां समाहारः – छत्रोपानहम्

अहश्च रात्रिश्च – अहोरात्रः

कुशश्च लवश्च – कुशीलव

अग्निश्च सोमश्च – अग्नीसोमी

अहश्च निशा च – अहर्निशम्

द्वौ वा त्रयौ वा – द्वित्रा

मित्रश्च वरुणश्च – मित्रावरुणौ

सूर्यश्च चन्द्रमा च – सूर्याचन्द्रमसी

अग्निश्च वायुश्च – अग्निवायु

वाक् च मनश्च – वाङ्गमनसः

अपनी प्रगति जांचिए

1. जिस समास में पूर्व पद के अर्थ की प्रधानता होती है, वह कौन–सा समास होता है?

   (क) अव्ययीभाव (ख) केवल समास

   (ग) द्वंद्व समास (घ) तत्पुरुष समास

2. 'माता च पिता च' यह किस समास का उदाहरण है?

   (क) बहुव्रीहि समास (ख) तत्पुरुष समास

   (ग) अव्ययीभाव समास (घ) द्वंद्व समास

5.3 समास प्रकरणम् (स–विग्रह : लघुसिद्धांतकौमुदी से)

टिप्पणी

समास प्रकरण में विभिन्न समास समाहित होते हैं, जिनका सूत्रों के माध्यम से सरलीकरण किया जाता है। यहां केवल समास, अव्ययीभाव समास, तत्पुरुष समास, बहुव्रीहि समास और द्वन्द्व समास को सूत्रों एवं उदाहरणों सहित सरल भाषा में समझाया जा रहा है।

5.3.1 केवल समासः

समासः पञ्चधा। तत्र समसनं समासः। स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः। प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः। प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः। तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः। कर्मधारयभेदो द्विगुः। प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः। प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः।।

सूत्रार्थ– समास पांच प्रकार का होता है। समसन अर्थात् 'संक्षेप' को समास कहते हैं। अनेक पदों का संक्षिप्त रूप में एक पद बन जाना ही समास कहलाता है। वह समास विशेष ज्ञान से रहित होने के कारण 'केवल समास' कहलाता है, यह समास का पहला प्रकार है। उदाहरण, जैसे– 'भूतपूर्वः' (जो पहले हो चुका है)– में 'सह सुपा' 2.1.4 सूत्र से समास होता है। यह किसी विशेष समास के अधिकार में न होने के कारण केवल समास कहलाता है।

जिसमें प्रायः पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता होती है, वह अव्ययीभाव समास कहलाता है। यह समास का दूसरा भेद है। जिसमें प्रायः उत्तर पद के अर्थ की प्रधानता होती है, वह तत्पुरुष समास कहलाता है। यह समास का तीसरा भेद है। तत्पुरुष का ही एक भेद कर्मधारय समास है। जहां विशेष्य तथा विशेषण का समास होता है, उसे 'कर्मधारय' समास कहते हैं। कर्मधारय का ही एक प्रकार द्विगु है। द्विगु समास में पूर्व पद संख्यावाची होता है। जिस समास में प्रायः किसी अन्य पद के अर्थ की प्रधानता होती है, वह बहुव्रीहि समास कहलाता है। यह चौथे प्रकार का समास है। जिस समास में प्रायः दोनों ही पदों के अर्थ की प्रधानता होती है, वह द्वंद्व समास कहलाता है। यह पांचवें प्रकार का समास है।

904. समर्थः पदविधिः ।2 ।1 ।1 ।।

पद सम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः।

सूत्रार्थ– इस सूत्र के अनुसार, पद सम्बन्धी विधि समर्थ पदों पर आश्रित होती है। समास पद विधि है क्योंकि सुबन्त का सुबन्त से या सुबन्त का तिङन्त से समास होता है तथा तिङन्त का तिङन्त से भी समास होता है। ये सभी पद कहलाते हैं। जिन पदों में परस्पर सामर्थ्य होता है, उन्हीं पदों का समास होता है। जैसे– 'चतुरस्य राज्ञः पुरुषः' अर्थात् चतुर राजा का पुरुष। यहां राज्ञः और पुरुषः का समास नहीं होता क्योंकि राज्ञः का संबंध 'चतुरस्य' के साथ भी है। 'राज्ञः' 'पुरुषः' इन दोनों में परस्पर सामर्थ्य न होने से उनका समास भी नहीं होगा। अतः परस्पर सामर्थ्य वाले पदों का ही विधान होना आवश्यक है।

905. प्राक्कडारात्समासः ।2 ।1 ।3 ।।

कडाराः कर्मधारये इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते।

सूत्रार्थ– इस सूत्र के अनुसार 'कडाराः कर्मधारये' सूत्र से पहले–पहले समास का अधिकार किया जाता है। यह अधिकार सूत्र है।

टिप्पणी

906. सह सुपा ।2 ।1 ।4 ।।

सुप् सुपा सह वा समस्यते। समासत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुक्। परार्थाभिधानं वृत्तिः। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः। वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः। स च लौकिकोऽलौकिकश्चेति द्विधा। तत्र 'पूर्वं भूतः' इति लौकिकः 'पूर्व अम् भूत सु' इत्यलौकिकः। भूतपूर्वः। भूतपूर्वे चरडिति निर्देशात्पूर्वनिपातः।

सूत्रार्थ– इस सूत्र के अनुसार, एक सुबन्त का दूसरे समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। इसके बाद कृत्तद्धितसमासाश्च सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होती है और फिर प्रातिपदिक के अवयव सुप् का सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् होता है।

परार्थाभिधानं वृत्तिः – समास आदि में जब पद अपने स्वार्थ को पूर्ण रूप से या अंशतः छोड़कर एक विशिष्ट अर्थ का बोध कराते हैं तो वह वृत्ति कहलाती है। वृत्ति के पांच भेद होते हैं– कृदन्तवृत्ति, तद्धितवृत्ति, समासवृत्ति, एकशेषवृत्ति और सनाद्यन्तधातुवृत्ति।

वृत्त्यर्थावबोधकम् – वृत्ति के अर्थ का बोध कराने वाले वाक्य को विग्रह कहते हैं, वह लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का होता है। जो विग्रह लोक में प्रयुक्त होता है, वह लौकिक विग्रह कहलाता है और जो केवल व्याकरण में सूत्रादि की प्रवृत्ति के लिए प्रयोग किया जाता है, वह अलौकिक विग्रह कहलाता है।

भूतपूर्वः। पूर्वं भूतः यह लौकिक विग्रह है और पूर्व अम् भूत सु यह अलौकिक विग्रह है। लौकिक विग्रह में विभक्ति के साथ विग्रह किया जाता है तथा अलौकिक विग्रह में विभक्ति को अलग करके विग्रह किया जाता है।

पूर्व अम् भूत सु इस अलौकिक विग्रह में समास होता है। इसमें सुबन्त है– पूर्व अम् इसके साथ समर्थ सुबन्त है– भूत सु। यह पूरा समुदाय समाससंज्ञा को प्राप्त हो जाता है। इसके बाद 'पूर्व अम् भूत सु' की कृत्तद्धितसमासाश्च सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा हुई। भूतपूर्व चरट् इस सूत्र के निर्देश के कारण भूत शब्द का पूर्व निपातन किया है। अम् और सु इन दो प्रत्ययों का सुपो धातुप्रातिपदिकयोः सूत्र से लुक् हो जाता है, तब भूतपूर्व शब्द बना। पहले 'पूर्व अम् भूत सु' की प्रातिपदिकसंज्ञा की गई थी किंतु वह अब बदलकर भूतपूर्व बना, फिर भी वह प्रातिपदिक बना हुआ है क्योंकि एक परिभाषा है– एकदेशविकृतमनन्यवत्। यदि एक भाग में कोई विकार आ जाए तो वह कोई दूसरा नहीं बन जाता, वही रहता है। अतः भूतपूर्व को प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति हुई उसको 'ससजुषो रुः' सूत्र से रूत्व और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' सूत्र से रेफ को विसर्ग आदेश हुआ, भूतपूर्व बना। भूतपूर्वः – जो पहले हुआ हो।

(वार्तिक) इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च।

वार्तिकार्थ– वागर्थौ इव वागर्थाविव। सुबन्त का इव शब्द के साथ समास होता है तथा इस समास की विभक्ति का लोप भी नहीं होता।

यह सूत्र समास करने के साथ–साथ सुपो धातुप्रातिपदिकयोः सूत्र से प्राप्त विभक्ति के लुक् का निषेध भी करता है।

जैसे– वागर्थाविव। वागर्थौ इव यह लौकिक विग्रह है और वागर्थ औ इव अलौकिक विग्रह है। इस अलौकिक विग्रह में इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च वार्तिक से समास होने के बाद वागर्थ और इव की प्रातिपदिकसंज्ञा होती है। इसके बाद सुपो धातुप्रातिपदिकयोः सूत्र से प्राप्त विभक्ति के लुक् को इस वार्तिक के द्वारा अलुक् (लोप का निषेध) का विधान किया गया है, तब वागर्थौ इव शब्द बना। औकार के स्थान पर एचोऽयवायावः सूत्र से आव् आदेश करने पर वागर्थाविव बना। वागर्थाविव – वाणी और अर्थ की तरह।

इति केवल समासः।

5.3.2 अथ अव्ययीभाव समासः

907. अव्ययीभावः |2 |1 |5 | |

अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात्।

तत्पुरुषः सूत्र से पहले तक 'अव्ययीभाव' का अधिकार है। यह भी अधिकार सूत्र है।

908. अव्ययं विभक्ति–समीप–समृद्धि–व्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रति– शब्दप्रादुर्भाव–पश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्य–सादृश्य–सम्पत्ति साकल्यान्तवचनेषु |2 |1 |6 | |

सूत्रार्थ– विभक्ति, समीप, समृद्धि, व्यृद्धि (समृद्धि का अभाव), अर्थाभाव, अत्यय (नाश), असम्प्रति (अनुचित), शब्द की अभिव्यक्ति, पश्चात्, यथा, क्रमशः, एक साथ, समानता, सम्पत्ति, सम्पूर्णता, अन्त– इन अर्थों में वर्तमान अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है। इस समास की संज्ञा 'अव्ययीभाव' होती है।

जिस समास का अपने पदों से विग्रह नहीं होता है, अर्थात् जिस समास का विग्रह नहीं होता हो, उसे नित्य समास कहते हैं। सर्वप्रथम विभक्ति अर्थ से समास का विधान कर रहे हैं–

जैसे– अधिहरि।

यहां हरौ इति लौकिक विग्रह है, हरि ङि अधि अलौकिक विग्रह और 'अधि' अव्यय है। यहां प्रश्न उठता है कि किस शब्द को पहले रखा जाए और किस शब्द को बाद में? इसका समाधान आगे के सूत्रों द्वारा होता है।

909. प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् |1 |2 |43

समासशास्त्र प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात्।

सूत्रार्थ– समासशास्त्र में पद के प्रथमान्त द्वारा निर्दिष्ट शब्द उपसर्जन संज्ञक होता है।

समास करने वाले सूत्रों में जिस पद का प्रथमा विभक्ति के द्वारा निर्देश किया जाता है, उस पद की या उसके द्वारा बोध्य पद की उपसर्जन संज्ञा होती है। जैसे अव्ययं विभक्ति–समीप–समृद्धि–ब्यृद्ध्यर्थाभावात्यया सूत्र में अव्यय की उपसर्जन संज्ञा हुई।

910. उपसर्जनं पूर्वम् |2 |2 |30 | |

समासे उपसर्जनं प्राक्प्रयोज्यम्। इत्यधेः प्राक् प्रयोगः। सुपो लुक्। एकदेशविकृत–स्यानन्यत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः। अव्ययीभावश्चेत्य व्ययत्वात्सुपो लुक्। अधिहरि।

टिप्पणी

सूत्रार्थ– समास में उपसर्जन का प्रयोग पहले होता है।

अधिहरि। यहां अधि शब्द सप्तमी विभक्ति के अर्थ में प्रयोग किया गया है। यह विभक्ति के अर्थ में समास का उदाहरण है। हरौ इति इसका लौकिक विग्रह तथा हरि ङि अधि अलौकिक विग्रह होगा किंतु यह सूत्र अलौकिक विग्रह में ही लगता है। हरि ङि अधि अलौकिक विग्रह में अव्ययं विभक्ति–समीप–स्मृद्धि–व्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रति–शब्दप्रादुर्भाव–पश्चाद्यथानुपूर्व्य–यौगपद्य–सादृश्य–सम्पत्ति–साकल्यान्तवचनेषु से अधि अव्यय का विभक्ति आदि अर्थों में समर्थ सुबन्त हरि ङि के साथ समास होता है। इस सूत्र से हरि ङि अधि का समास हुआ।

हरि ङि अधि का समास करने के बाद हरि ङि अधि इस समुदाय की कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा हुई। हरि ङि अधि यह पूरा समुदाय प्रातिपदिक कहलाया। सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से प्रातिपदिक का अवयव स्वरूप ङि प्रत्यय का लुक् हुआ। हरि अधि बना। अव्ययं विभक्ति समीप–समृद्ध–व्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रति–शब्दप्रादुर्भाव–पश्चाद्यथातुपूर्व्य–यौगपद्य–सादृश्य–सम्पत्ति–साकाल्यान्तवचनेषु, इस समासविधायक सूत्र में प्रथमान्तपद है– अव्ययम्। इस पद से निर्दिष्ट – अधि, अतः अधि की प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से उपसर्जन संज्ञा हो गई।

अधि की उपसर्जन संज्ञा होने से उपसर्जनं पूर्वम् से उपसर्जनसंज्ञक अधि का हरि के पूर्व में प्रयोग हुआ और अधिहरि बना। चूंकि प्रातिपदिकसंज्ञा हरि ङि अधि की की गई थी परंतु एकदेशविकृतमन्यवत् के बल से विकृति होने (अधि के पहले प्रयोग होने पर) भी प्रातिपदिक बना रहता है। अतएव अधिहरि की कृत्तद्धितसमासश्च से प्रातिपदिक संज्ञा हुई। अधिहारी प्रातिपदिक से सु विभक्ति की उत्पत्ति हुई। अव्ययीभावश्च से अव्ययसंज्ञक होने के कारण अधिहरि की अव्ययसंज्ञा सु विभक्ति का अव्ययादाप्सुपः से लुक् हुआ और अधिहरि रूप सिद्ध हुआ।

यहां विस्तारपूर्वक प्रक्रिया बता दी गई है। समास में सभी स्थानों पर इसी प्रकार विग्रह एवं स्वादि कार्य करने चाहिए।

911. अव्ययीभावश्च ।2 ।4 ।18 ।।

अयं नपुंसकं स्यात्। गाः पातीति गोपस्तस्मिन्निति अधिगोपम्।

अर्थात् अव्ययीभाव समास से निर्मित शब्द नपुंसकलिंग का होता है।

इस सूत्र में चकार ग्रहण किया गया है, जिसका तात्पर्य और होता है। इस चकार से ज्ञात होता है कि यह सूत्र नपुंसकलिंग का विधान करता है। अव्ययप्रकरण में पठित अव्ययीभावश्च सूत्र अव्ययसंज्ञा और नपुंसकलिंग का विधान करता है।

912. नाऽव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः ।2 ।4 ।83 ।।

अदन्तादव्ययीभावात्सुपां न लुक्, तस्य पञ्मी विना अमादेशः स्यात्।

अर्थात् सुप् का अदन्त अव्ययीभाव से लुक् नहीं हो। पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर अन्य विभक्तियों की जगह पर अम् आदेश हो।

सूत्रार्थ– यह सूत्र अव्ययादाप्सुपः से मिले सुप् के लुक् का निषेध तथा पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर शेष सुप् विभक्ति की जगह पर अम् आदेश भी करता है। ध्यान देने की बात यह है कि सुप् के लुक् का निषेध पञ्चमी में भी होता है।

टिप्पणी

सु आदि प्रत्यय की जगह पर होने वाला अम् आदेश में स्थानिवद्भावेन प्रत्ययत्व आएगा। प्रत्यय ङी उपदेश संज्ञक है अतएव हलन्त्यम् से इसके अंतिम हल् मकार की इत्संज्ञा मिलती है। न विभक्तौ तुस्माः से उसका निषेध हो जाता है।

अधिगोपम – गोपि इति लौकिक विग्रह है और गोपा ङि अधि इति अलौकिक विग्रह है। इस प्रयोग में अधि शब्द सप्तमी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गोपा ङि अधि विग्रह में अव्ययं विभक्ति–समीप–समृद्धि–व्यृद्ध्यर्था–भावात्ययासंप्रति–शब्दप्रादुर्भाव–पश्चाद्यथानुपूर्व्य–यौगपद्य–सादृश्य–सम्पत्ति–साकल्यान्तवचनेपु सूत्र से अधि अव्यय शब्द का समर्थ सुबन्त गोपा ङि के साथ समास होता है। इसके बाद कृत्तद्धितसमासाश्च सूत्र से समासंज्ञक गोपा ङि अधि समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा हुई है। ङि का सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् प्राप्त हुआ और गोपा अधि शब्द बना। अधि की उपसर्जनसंज्ञा तथा उपसर्जनं पूर्वम् से उपसर्जन संज्ञक अधि का पूर्वप्रयोग हुआ अर्थात् अधि शब्द गोपा के बाद में था, जो पहले आ गया तब अधिगोपा बना। अव्ययीभावश्च से नपुंसक, ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य से अधिगोपा में स्थित पा के आकार का ह्रस्व होकर अधिगोप शब्द बना। अधिगोप की अव्ययीभावश्च सूत्र से अव्ययसंज्ञा, प्रातिपदिकसंज्ञा हुई। सु का अव्ययादाप्सुपः से लुक् हुआ और इसके बाद नाव्ययीभावादतो, सूत्र से विभक्ति के लुक् का निषेध हुआ। सु के स्थान पर अम् आदेश होकर अधिगोप + अम् बना। अमि पूर्वः से पूर्वरूप होकर अधिगोपम् बना।

913. तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् |2 |4 |84 | |

अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात्। अधिगोपम्, अधिगोपेन, अधिगोपे वा। कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम्। मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम्। यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम्। मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्। हिमस्यात्ययोऽतिहिमम्। निद्रा संप्रति न युज्यत इत्यतिनिद्रम्। हरिशब्दस्य प्रकाश इतिहरि। विष्णोः पश्चादनुविष्णु। योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः। रूपस्य योग्यमनुरूपम्। अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति।

सूत्रार्थ– अदन्त अव्ययीभाव से परे तृतीया तथा सप्तमी की जगह बहुलता से अम् आदेश हो।

उपकृष्णम्। कृष्णस्य समीपम् लौकिक विग्रह तथा कृष्ण ङस् उप अलौकिक विग्रह है। समीप अर्थ उपस्थित उप के साथ कृष्ण ङस् उप का अव्ययं विभक्ति–समीप–समृद्धि–व्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रति–शब्दप्रादुर्भाव–पश्चाद्यथानुपूर्व्य–यौगपद्य–सादृश्य–सम्पत्ति–साकल्यान्तवचनेषु से समास हुआ। समास होने के बाद कृष्ण ङस् उप समुदाय की कृत्तद्धितसमासश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः सूत्र से ङ्स विभक्ति का लुक् हुआ। कृष्ण उप बना। प्रथमानिर्दिष्ट उप की प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से उपसर्जनसंज्ञा हो गई तो उपसर्जनं पूर्वम् से उपसर्जनसंज्ञक उप का पूर्वप्रयोग हुआ। प्रातिपदिक संज्ञा, सु विभक्ति तथा अव्ययप्रकरण के अव्ययीभावश्च से अव्यसंज्ञक होने के कारण सु विभक्ति का अव्ययादाप्सुपः में लुक् प्राप्त हुआ। नाव्ययीभावदतो... से विभक्ति के लुक् का निषेध और सु की जगह पर अम् आदेश होकर उपकृष्ण + अम् बना। अमि पूर्वः से पूर्वरूप हुआ–उपकृष्णम्।

प्रातिपदिक, अव्यसंज्ञक उपकृष्ण से टा विभक्ति आने पर सभी विभक्तियों में एक समान रूप था किंतु तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् से तृतीया में विकल्प से टा को अम् आदेश

टिप्पणी

होगा। अम् पक्ष में उपकृष्णम् रूप बनेगा। विकल्प में (अम् के अभाव में) उपकृष्णेन बना। भ्याम् में उपकृष्णाभ्याम् तथा भिस् में उपकृष्णैः बनेगा। सप्तमी विभक्ति में अम् होकर उपकृष्णम् बनेगा। अभाव पक्ष में तीनों वचनों में उपकृष्णे, उपकृष्णयोः, उपकृष्णेषु बनेंगे।

मद्राणां समृद्धिः में मद्र आम् का सु के साथ समास होकर सुमद्रम् बना और इसी प्रकार यवनानां व्यृद्धिः में यवन आम् का व्यृद्धिः अर्थ में 'दुर्' अव्यय के साथ समास होकर दुर्यवनम् बना। जिसकी समृद्धि चली गई हो उसे व्यृद्धिः कहा जाता है : विगता ऋद्धिव्यृद्धिः। उपकृष्ण के ही समान गृहस्य समीपम्–उपगृहम् इत्यादि बनाने का अभ्यास करें।

इसी प्रकार मद्राणां में समृद्धि अर्थ में सु से समास होकर समुद्रम् बनता है।

यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम् व्यृद्धि अर्थ में दुर् अव्यय से समास होकर दुर्यवनम् बना है।

मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् में अभाव अर्थ में निर् अव्यय से समास होकर निर्मक्षिका को नपुंसकलिंग होने से ह्रस्व होकर निर्मक्षिकम् बना है।

हिमस्यात्ययोऽतिहिमम् में नाश (अत्यय) अर्थ में अति अव्यय से समास होकर अतिहिमम् बना है।

निद्रा संप्रति न युज्यत इति अतिनिद्रम् में असम्प्रति (अनुचित) अर्थ में अति अव्यय से समास होकर अतिनिद्रम् बना है।

हरिशब्दस्य प्रकाश इतिहरि में शब्द प्रादुर्भाव (प्रकाश) अर्थ में इति अव्यय से समास होकर अतिनिद्रिम बना है। यहां भी प्रथमा विभक्ति में निद्रा का ह्रस्व हुआ है।

विष्णोः पश्चादनुविष्णु में पश्चात् अर्थ में अनु अव्यय के साथ समास हुआ है।

योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः। यथा अव्यय के चार अर्थ होते हैं– योग्यता, वीप्सा (बार–बार होना), पदार्थानतिवृत्ति (अतिक्रमण न होना) और सादृश्य। इन चारों अर्थों में यथा के साथ समास होता है। रूपस्य योग्यमं अनुरूपम्। अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति।

सादृश्य का उदाहरण अगले सूत्र अव्ययीभावे चाकाले में दिया जा रहा है।

914. अव्ययीभावे चाकाले |6 |3 |81

सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले। हरेः सादृश्यं सहरि। ज्येष्ठस्याऽऽनुपूर्व्येण इति अनुज्येष्ठम्। चक्रेण युगपत् सचक्रम्। सदृशः सख्या ससखि। क्षत्राणां संपत्तिः सक्षत्रम्। तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति। अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साग्नि।

सूत्रार्थ– यदि काल का वाचक शब्द उत्तरपद में न हो तो अव्ययीभाव समास में सह की जगह पर स आदेश होता है।

सहरि। यह सादृश्य का यथा के अर्थ में आने वाला उदाहरण है। हरेः सादृश्यम् लौकिक विग्रह और हरि + ङस् + सह अलौकिक विग्रह है। यथा के सादृश अर्थ में विद्यमान सह् के साथ हरि + ङस् का अव्ययं विभक्ति–समीप–समृद्धि–व्यृद्ध्यर्था–भावात्ययासंप्रति–शब्दप्रादुर्भाव–पश्चाद्यथानुपूर्व्य–यौगपद्य–सादृश्य–सम्पत्ति–साकल्यान्तवचनेषु से समास हुआ है। समास करने के बाद हरि + ङस् + सह समुदाय की कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा हुई है। ङस् का सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् हुआ और हरि +

टिप्पणी

सह बना। प्रथमानिर्दिष्ट सह की प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से उपसर्जनसंज्ञा और उपसर्जनं पूर्वम् से उपसर्जनसंज्ञक सह का पूर्वप्रयोग हुआ है। सह + हरि बनता है। अव्ययीभावे चाकाले से काल का वाचक शब्द उत्तरपद में नहीं होने के कारण सह की जगह पर स आदेश हुआ और सहरि बना। सहरि की अव्ययीभावश्च से अव्ययसंज्ञा, एकदेशविकृतमनन्यवत् न्याय के बल पर सहरि को प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति, सु का अव्ययादाप्सुपः से लुक् होकर सहरि रूप बनता है।

अनुज्येष्ठम्। यहां आनुपूर्व्य अर्थ में अनु के साथ समास हुआ। ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण लौकिक विग्रह तथा ज्येष्ठ + ङस् + अनु अलौकिक विग्रह में आनुपूर्व्य अर्थ में विद्यमान अनु के साथ ज्येष्ठ + ङस् का अव्ययं विभक्ति–समीप–समृद्धि– व्यृद्ध्यर्था–भावात्ययासंप्रति–शब्दप्रादुर्भाव–पश्चाद्यथानुपूर्व्य–यौगपद्य–सादृश्य–सम्पत्ति–साकल्यान्त–वचनेषु से समास हुआ है।

समास करने के बाद ज्येष्ठ + ङस् + अनु समुदाय की कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, ङस् का सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् होकर ज्येष्ठ + अनु बना है। प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से उपसर्जनसंज्ञा, अनु का पूर्वप्रयोग होकर अनुज्येष्ठ बना है। अव्ययीभावश्च से अव्ययसंज्ञा, एकदेशविकृतमनन्यवत् न्याय के बल पर अनुज्येष्ठ को प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति का स्वरूप निर्मित हुआ है। अव्ययादाप्सुपः से प्राप्त सु के लुक् का नाव्ययीभावादतो से निषेध और सु के स्थान पर अम् आदेश हुआ और अनु + ज्येष्ठ + अम् बना। इसी प्रकार ज्येष्ठ + अम् में अमि पूर्वः से पूर्वरूप हुआ और अनुज्येष्ठम् बना।

सचक्रम्। चक्रेण युगपत् लौकिक विग्रह तथा चक्र + टा + सह अलौकिक विग्रह में यौगपद्य (एक साथ एक ही काल में) अर्थ में अव्ययं विभक्ति से चक्र + टा + सह में समास हुआ। समास करने के बाद चक्र + टा + सह् समुदाय की कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा हुई, टा का सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् हुआ है। चक्र + सह बना और उपसर्जनसंज्ञा, सह का पूर्वप्रयोग होकर सह् + चक्र निर्मित हुआ। अव्ययीभावे चाकाले से सह के स्थान पर स आदेश होकर सचक्र और सु विभक्ति सु को अम् आदेश होकर सचक्रम् बना है।

ससखि। सचक्रम् की ही भांति सदृशः संख्या लौकिक विग्रह तथा सखि + टा + सह अलौकिक विग्रह सादृश्य अर्थ में सखि + टा + सह का अव्यय विभक्ति से समास हुआ है। समास करने के बाद सखि + टा + सह समुदाय की कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से टा का लुक हुआ और सखि + सह बना। सह की उपसर्जनसंज्ञा एवं पूर्वप्रयोग हुआ तथा सह + सखि बना। अव्ययीभावे चाकाले से सह की जगह स आदेश होकर ससखि बना है। अव्ययीभावश्च से अव्ययसंज्ञा, एकदेशविकृतमनन्यवत् न्याय के अनुसार ससखि को प्रातिपदिक मानकर सु हुआ है, अव्ययादाप्सुपः से सु का लुक् होकर ससखि रूप सिद्ध हुआ है।

915. नदीभिश्च |2 |1 |20 | |

नदीभिः सह संख्या समस्यते।

सूत्रार्थ– यह सूत्र कहता है कि, नदीवाचक सुबन्त शब्दों के साथ संख्या वाचक सुबन्त शब्द का समास होता है तथा वह अव्ययीभाव समास हो।

टिप्पणी

(वा) समाहारे चायमिष्यते। पञ्चगङ्गम्। द्वियमुनम्।

समाहारे चायमिष्यते वार्तिक है। यह समास समाहार अर्थ में होता है। इस वार्तिक का चकार अवधारणा हेतु है।

पञ्चगङ्गम्। पञ्चानां गङ्गानां समाहारः लौकिक विग्रह और पञ्चन् आम् गङ्गा आम् अलौकिक विग्रह में नदीभिश्च सूत्र से समास हुआ है। नदीभिश्च में प्राक्कडारात् समासः का अधिकार है। सूत्र में पठित चकार से संख्या की अनुवृत्ति आती है, जो कि प्रथमान्त है। इसके द्वारा निर्दिष्ट शब्द पञ्चन् आम् की प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से उपसर्जनसंज्ञा हुई। उपसर्जन पञ्चन् का पूर्वनिपात भी होता है। पञ्चन आम् + गङ्गा आम् की कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा करके सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से विभक्तियों का लुक् होकर पञ्चन् + गङ्गा बना है।

स्वादि का उत्पत्ति, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से पञ्चन् के नकार का लोप हुआ है। नपुंसकलिंग होने से गङ्गा के आकार को ह्रस्व हुआ है और पञ्चगङ्ग + सु हुआ है। सु को अम् आदेश, पूर्वरूप होकर पञ्चगङ्गम् बना है।

इसी प्रकार द्वयोः यमुनयोः समाहारः द्वियमुनम् रूप बनेगा।

916. तद्धिताः ।4 ।1 ।76 ।।

आपञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम्।

पांचवें अध्याय के समाप्त होने तक तद्धित का अधिकार है। यह अधिकार सूत्र के साथ संज्ञासूत्र भी है। पञ्चम् अध्याय की समाप्ति तक होने वाले प्रत्ययों की तद्धितसंज्ञा होगी।

इस सूत्र का प्रमुख प्रयोजन तद्धित प्रकरण में है। समास में होने वाले समासान्त प्रत्यय भी तद्धिताः सूत्र के अधिकार क्षेत्र में आते हैं, जिसके कारण उनकी तद्धितसंज्ञा होती है।

917. अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ।5 ।4 ।107 ।।

शरदादिभ्यष्टच् स्यात्समासान्तोऽव्ययीभावे। शरदः समीपम् उपशरदम्। प्रतिविपाशम्।

सूत्रार्थ– यह सूत्र कहता है– अव्ययीभाव में शरत् इत्यादि शब्दों में समासान्त तद्धितसंज्ञक टच् प्रत्यय हो। टच् में टकार तथा चकार इत्संज्ञक है, अकार बचा रहता है। इससे हलन्त शब्द भी अजन्त बन जाता है। शरदादि गण है। इसके अंतर्गत शरद्, विपाशु, अनस्, मनस्, उपानह्, दिव्, हिमवत्, अनडुह्, दिश्, दृश, विश्, चेतस्, चतुर्, त्यद्, तद्, कियत् शब्द आते हैं।

उपशरदम्। शरदः समीपम् लौकिक विग्रह और शरद् + ङस् + उप अलौकिक विग्रह में समीप अर्थ में उपस्थित उप का शरद् ङस के साथ अव्ययं विभक्ति–समीप से समास हुआ है। समास करने के पश्चात् शरद् + ङस् + उप समुदाय की कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, ङस् का सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् हुआ है और शरद् + उप बना है। प्रथमानिर्दिष्ट सह की प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से उपसर्जनसंज्ञा एवं उपसर्जनं पूर्वम् से उपसर्जनसंज्ञक उप का पूर्व प्रयोग हुआ, उप + शरद् बना है। अव्ययीभावे शरत्प्रभुतिभ्यः से समासान्त टच् प्रत्यय अनुबन्धलोप होकर उपशरद् + अ और वर्णसम्मिलन होकर उपशरद बना है। अव्ययीभावश्च से अव्ययसंज्ञा,

टिप्पणी

एकदेशविकृतमन्यवत् न्याय के बल पर उपशरद को प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति आई तथा उसका अव्ययादाप्सुपः से लुक् प्राप्त हुआ परन्तु नाव्ययीभावादतो, से विभक्ति का अलुक् हुआ है। सु की जगह नपुंसकत्वात् अम् आदेश, पूर्वरूप करने के उपरांत उपशरदम् बना है।

प्रतिविपाशम्। विपाशं विपाशं (विपाशाया अभिमुखम्) प्रति लौकिक विग्रह तथा विपाश् + अस् + प्रति अलौकिक विग्रह में लक्षणेनाभिप्रती अभिमुख्ये के द्वारा आभिमुख्य (सम्मुख) अर्थ में विद्यमान प्रति इस निपात का अव्ययं विभक्ति–समीप–समृद्धि से समास हुआ है। समास करने के उपरांत विपाश् + अम् + प्रति समुदाय की कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा हो गई है। अम् का सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् हुआ है और विपाश् + प्रति बना है। प्रथमानिर्दिष्ट प्रति की प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से उपसर्जनसंज्ञा हुई है। उपसर्जनं पूर्वम् से उपसर्जनसंज्ञक प्रति का पूर्वप्रयोग हुआ, प्रति + विपाश् बना है। अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः से समासान्त टच् प्रत्यय, अनुबन्धलोप होकर प्रतिविपाश् + अ बना है। वर्णसम्मिलन होकर प्रतिविपाश बना है। अव्ययीभावश्च से अव्ययसंज्ञा, एकदेशविकृतमनन्यवत् न्याय के बल पर प्रतिविपाश को प्रतिपादिक मानकर सु विभक्ति, अव्ययादाप्सुपः से सु विभक्ति का लुक् प्राप्त हुआ है, परन्तु नाव्ययीभावादतो से विभक्ति के लुक् का निषेध हो गया है। सु की जगह अम् आदेश, पूर्वरूप होकर प्रतिविपाशम् रूप सिद्ध हुआ है।

(गणसूत्र) जराया जरस्। उपजरसमित्यादि।

अव्ययीभाव समास में जराशब्द से समासान्त टच् के साथ जरस् आदेश भी हो। यह गणसूत्र शरत्प्रभृति में पठित है।

उपजरसम्। यहां जरायाः समीपम् लौकिक विग्रह तथा जरा ङ्स उप अलौकिक विग्रह है। अव्ययं विभक्ति से समीप अर्थ में उप अव्यय का जरा ङ्स् के साथ समास हुआ है। समास होने पर जरा + ङ्स + समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा, ङस् का सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् हुआ है और जरा + उप बना है। प्रथमानिर्दिष्ट उप की प्रथ्मानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से उपसर्जनसंज्ञा और उपसर्जनं पूर्वम् से उपसर्जनसंज्ञक उप का पूर्वप्रयोग हुआ है। उप + जरा बना है। अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः से समासान्त टच् प्रत्यय और टच् का अनुबन्ध लोप होकर उप + जरा + अ हुआ है। जराया जरश्च गणसूत्र से जरा के स्थान पर जरस् आदेश होकर उपजरस् + अ बना है। वर्णसम्मिलन होकर उपजरस बना है। अव्ययीभावश्च से उपजरस की अव्ययसंज्ञा, एकदेश, न्याय से उपजरस को प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति, अव्ययादाप्सुपः से लुक् प्राप्त हुआ है, परंतु नाव्ययीभावा से विभक्ति के लोप का निषेध हो गया है। सु के स्थान पर अम् आदेश एवं पूर्वरूप करने पर उपजरसम् बना है।

918. अनश्च |5 |4 |108 | |

अन्नन्तादव्ययीभावात् 'टच्' स्यात्।

सूत्रार्थ– यह दो पदों वाला सूत्र है। पञ्चम्यन्त अनः एवं च। इस सूत्र में राजाहः सखिभ्यष्टच् से टच् और अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः से विभक्ति विपरिणाम करके अव्ययीभावात् की अनुवृत्ति आती है। अनः पद अव्ययीभावात् का विशेषण है। तद्धिताः, समासान्ताः, प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात् का अधिकार है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होगा–

अन् अन्त वाले अव्ययीभाव से समास के अन्त में तद्धितसंज्ञक टच् प्रत्यय हो।

तद्धिताः के अधिकार का प्रयोजन तद्धित परे होने पर नकारान्त शब्द के भसंज्ञक टि का लोप करना है।

टिप्पणी

उपराजम्। राज्ञः समीपम् लौकिक विग्रह एवं राजन् + ङ्स + उप अलौकिक विग्रह में समीप अर्थ में उपस्थित उप का राजन् ङ्स के साथ अव्ययं विभक्ति–समीप–समृद्धि–व्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रति–शब्दप्रादुर्भाव–पश्चाद्यथानुपूर्व्य–यौगपद्य–सादृश्य–सम्पत्ति–साकल्यान्तवचनेषु से समास हुआ है। समास करने के उपरांत राजन् + ङस् + उप समुदाय की कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, ङस् का सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् हुआ है और राजन् + उप बना है। प्रथमानिर्दिष्ट उप की उपसर्जन संज्ञा, उपसर्जनसंज्ञक उप का पूर्वप्रयोग होने पर उप + राजन् बना है। अनश्च से समासान्त टच् प्रत्यय, अनुबन्धलोप होकर उपराजन् + अ बना है। अ के परे होने पर उपराजन् की यचि भम् से भसंज्ञा हुई है और उपराजन् के टि अन् का नस्तद्धिते से लोप हुआ है। उपराज् + अ वर्णसम्मिलन होकर उपराज बना है। अव्ययसंज्ञा, सु विभक्ति आदि कार्य पूर्ववत् कर उपराजम् सिद्ध हुआ।

919. नस्तद्धिते ।6 ।4 ।144

नान्तस्य भस्य टेर्लोपस्तद्धिते। उपराजम्। अध्यात्मम्।

सूत्रार्थ– नान्त भसंज्ञक टि का लोप हो तद्धित प्रत्यय के परे रहते।

'उपराजन् + अ' में 'उपराजन्' भसंज्ञक है, अंत में नकार भी है। तद्धित प्रत्यय 'टच्' (अ) परे होने से उपरोक्त सूत्र से उसकी 'टि' अन् का लुक् होकर 'उपराज + अ' से 'उपराज' शब्द बना। अन्य कार्य से 'उपराजन्' रूप बनता है, जैसे– अध्यात्मम्– 'आत्मन् ङि अधि' में 'अव्यय' विभक्ति' सूत्र से समास होकर 'अधि आत्मन्' 'अध्यात्मन्' होने पर 'टच', 'टि' का लोप आदि होने पर अध्यात्मम् रूप बनता है।

920. नपुंसकादन्यतरस्याम् ।5 ।4 ।109 ।।

अन्नन्तं यत् क्लीबं तदन्तादव्ययीभावात् टज्वा स्यात्। उपचर्मम्, उपचर्म।

सूत्रार्थ– अन् अन्त वाला जो नपुंसकलिंग, तदन्त अव्ययीभाव से टच् प्रत्यय हो, विकल्प से।

यहां पर उपचर्मम् उपचर्म वा। चर्मणः समीपम् लौकिक विग्रह और चर्मन् ङ्स + उप अलौकिक विग्रह में समीप अर्थ में विद्यमान उप का चर्मन् के साथ अव्ययं विभक्ति से समास हुआ है। प्रातिपदिकसंज्ञा, ङ्स का सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् होकर चर्मन् + उप बना है। उपसर्जनसंज्ञक उप का पूर्वप्रयोग होने पर उप + चर्मन् बना है। चर्मन् नपुंसक है, अतः नपुंसकादन्यतरस्याम् से विकल्प से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ और टच् का अनुबन्धलोप होकर उपचर्मन् + अ बना है।

अ के परे होने पर यचि भम् से उपचर्मन् की भसंज्ञा एवं नस्तद्धिते से उपचर्मन् में विद्यमान टि संज्ञक अन् का लोप होने पर उपचर्म् + अ बना है। वर्णसम्मिलन होकर उपचर्म बना है। अव्ययीभावश्च से अव्ययसंज्ञा, सु विभक्ति, उसका अव्ययादाप्सुपः से मिले लुक् का नाव्ययीभावादतः से लुक् का निषेध, सु के स्थान पर अम् आदेश, पूर्वरूप करने पर उपचर्मम् बना।

जिस पक्ष में टच् नहीं होगा उस पक्ष में उपचर्मन् से सु के आने के पश्चात् अव्ययादाप्सुपः से सु का लोप और न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य से नकार का लोप करके उपचर्म बनता है।

टिप्पणी

921. झयः ।5 ।4 ।111 ।।

झयन्तादव्ययीभावात् टच् वा स्यात्। उपसमिधम्, उपसमित्।

सूत्रार्थ– झय् प्रत्याहार वाला वर्ण अन्त में हो तो ऐसे अव्ययीभाव से विकल्प से तद्धितसंज्ञक टच् प्रत्यय होता है।

उपसमिधम्, उपसमित्। समिधः समीपम् लौकिक विग्रह एवं समिध् + ङस् + उप अलौकिक विग्रह में समीप अर्थ में विद्यमान उप का समिध् ङ्स का अव्ययं विभक्ति–समीप समृद्धि से समास हुआ है। झयः से विकल्प से समासान्त टच् प्रत्यय, अनुबन्धलोप वर्णसम्मिलन पूर्वक उपसमिध बना है। सु विभक्ति, सु की जगह पर अम् आदेश, पूर्वरूप करने पर उपसमिधम् बना है। टच् विकल्प पक्ष में उपसमिध् से सु आया है। सु का अव्ययादाप्सुपः से लोप, उपसमिध् के धकार को जश्त्व, वाऽवसाने से विकल्प से चर्त्व करने पर उपसमित्, उपसमिद् सिद्ध हुआ है।

इति अव्ययीभाव समासः।

5.3.3 अथ तत्पुरुष समासः

922. तत्पुरुषः ।2 ।1 ।22

अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहेः।

शेषो बहुव्रीहिः तक इस सूत्र का अधिकार क्षेत्र है।

923. द्विगुश्च ।2 ।1 ।23

द्विगुरपि तत्पुरुषसंज्ञकः स्यात्।

द्विगु समास भी तत्पुरुषसंज्ञक हो।

924. द्वितीयाऽऽश्रिताऽतीत–पतित–गताऽत्यस्त–प्राप्ताऽऽपन्नैः ।2 ।1 ।24 ।।

द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते स च तत्पुरुषः। कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः इत्यादि।

सूत्रार्थ– द्वितीयान्त पद का श्रितादि से सिद्ध सुबन्तों से विकल्प से समास होता है, वह तत्पुरुष संज्ञक होता है।

925. तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन ।2 ।1 ।30 ।।

तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थेन च सह वा प्राग्वत्। शङ्कुलया खण्डः। धान्येनार्थो धान्यार्थः। तत्कृतेति किम्? अक्ष्णा काणः।

सूत्रार्थ– तृतीयान्त समर्थ सुबन्त शब्द का उसके द्वारा किए गए गुण के वाचक शब्दों के सुबन्त तथा अर्थ शब्द के साथ सामासिक क्रिया होना तत्पुरुष समास कहलाता है।

इस स्थिति में अव्ययीभाव समास की तरह तत्पुरुष समास में भी प्रातिपदिकसंज्ञा होगी, सुप् का लुक्, उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्व में प्रयोग, सु आदि विभक्ति के

टिप्पणी

कार्य आदि होंगे। इस सूत्र में तृतीया यह पद प्रथमान्त है। तृतीया के द्वारा निर्दिष्ट पद की उपसर्जनसंज्ञा होगी। इस सूत्र के द्वारा दो स्थितियों में समास होता है–

1. गुण वाचक सुबन्त तथा 2. अर्थ शब्द के साथ।

शङकुलाखण्डः। शङ्कुलया खण्डः लौकिक विग्रह तथा शङ्कुला टा + खण्ड सु अलौकिक विग्रह है। इस अलौकिक विग्रह में तृतीया 'तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' सूत्र से समास हुआ। यहां पर तृतीयान्तपद है शङ्कुला + टा। तृतीयार्थ शङ्कुला (सरोता) के द्वारा किया गया गुण वाचक शब्द है खण्ड सु। यह खण्ड सु समर्थ सुबन्त है। समास के बाद शङ्कुला टा + खण्ड सु की प्रातिपदिकसंज्ञा हुई, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः सूत्र से टा तथा सु इन दोनों सुप् प्रत्ययों का लोप होकर शङ्कुला + खण्ड निर्मित हुआ और प्रथमानिर्दिष्ट शङ्कुला की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्व प्रयोग कर शङ्कुलाखण्ड हुआ। सु विभक्ति, रूत्व तथा विसर्ग करके शङ्कुलाखण्डः सिद्ध हुआ।

धान्यार्थः। धान्येन अर्थः लौकिक विग्रह तथा धान्य टा + अर्थ सु अलौकिक विग्रह है। इस अलौकिक विग्रह में 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' सूत्र से समास हुआ। यहां पर तृतीयान्त पद धान्य + टा का समर्थ सुबन्त शब्द अर्थ + सु। समास के बाद धान्य टा + अर्थ सु की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा सुपो धातुप्रातिपदिकयोः सूत्र से टा तथा सु इन दो सुप्–प्रत्ययों का लुक् हुआ और धान्य + अर्थ बना। प्रथमानिर्दिष्ट धान्य की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग कर सवर्णदीर्घ करके धान्यार्थ निर्मित हुआ है। सु विभक्ति तथा उसको रूत्व तथा विसर्ग करके धान्यार्थः सिद्ध हुआ।

926. कर्तृकरणे कृता बहुलम् |2 |1 |32 | |

कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत्। हरिणा त्रातः हरित्रातः। नखैर्भिन्नः नखभिन्नः।

सूत्रार्थ– कर्ता तथा करण अर्थ में हुए तृतीयान्त समर्थ सुबन्त का कृदन्त प्रकृति वाले सुबन्त के साथ बहुलता से समास होता है, वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

नखैर्भिन्नो नखभिन्नः। नखैः भिन्नः लौकिक विग्रह और नख भिस् + भिन्न सु अलौकिक विग्रह में 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' सूत्र से यहां समास हुआ। नख + भिस् करण अर्थ में हुई तृतीया विभक्तियुक्त पद है। भिन्न + सु समर्थ सुबन्त शब्द है। समास के बाद निख भिस् + भिन्न सु की प्रातिपदिकसंज्ञा हुई तथा सुपो धातुप्रातिपदिकयोः सूत्र से भिस् तथा सु इन दोनों प्रत्ययों का लोप होकर नख + भिन्न बना। नखभिन्न की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग करके नखभिन्न बना। नखभिन्न से सु आदि कार्य करके नखभिन्नः सिद्ध हुआ।

(प) कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्। नखैर्निर्भिन्नः–नखनिर्भिन्नः।।

अर्थात् कृदन्त ग्रहण के विषय में गतिपूर्वक तथा कारकपूर्वक कृदन्त का भी ग्रहण होता है।

उक्त परिभाषा से गति तथा कारक पूर्वक सुबन्तों के साथ भी समास होता है और नखैः निर्भिन्नः में भी कर्तृकरणे कृता बहुलम् सूत्र से। यहां भिन्न इस कृदन्त के पूर्व गतिसंज्ञक निर् के लगने के बाद भी समास होने में आपत्ति नहीं है। नखैः निर्भिन्नः इस लौकिक विग्रह के नख भिस् + निर्भिन्न सु इस अलौकिक विग्रह में इस परिभाषा के बल पर समास होकर नखनिर्भिन्नः आदि भी सिद्ध होते हैं।

टिप्पणी

927. चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ।2 ।1 ।36 ।।

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् तद्वाचिना अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत्। यूपाय दारु—यूपदारु। तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः। तेनेह न — रन्धनाय स्थाली।

चतुर्थ्यन्त सुबन्त का तद्वाचक शब्द के साथ तथा अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित शब्दों के साथ विकल्प से समास होता है। उसे तत्पुरुष समास कहते हैं।

सूत्रार्थ— उक्त सूत्र में पठित तदर्थ शब्द का अर्थ है— प्रकृति विकृतिभाव अर्थात् पूर्वपद (पूर्वपद में निर्दिष्ट) चतुर्थी के प्रत्यय होने से तदन्त होकर चतुर्थ्यन्त होता है तथा उस चतुर्थ्यन्त के लिए जो प्रकृति है, तद्वाचक शब्द के साथ समास होता है। उदाहरणार्थ— यूपाय दारु (खम्भे के लिए लकड़ी) में यूपाय पूर्व पद है। यूपाय चतुर्थ्यन्त भी है। इस चतुर्थ्यन्त की प्रकृति है— यूप, उसका अर्थ है खम्भा, उसका वाचक शब्द हुआ— दारु।

अतः यूपाय के साथ दारु का समास होगा। साथ ही अर्थ, बलि आदि शब्दों के साथ भी समास होगा। इस सूत्र में प्रथमान्त पद है— चतुर्थी, उसके द्वारा निर्दिष्ट पद की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग आदि होंगे।

यूपाय दारू। यूपाय दारू लौकिक विग्रह तथा यूप ङे + दारू सु अलौकिक विग्रह में चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः सूत्र से समास हुआ। यहां पर चतुर्थ्यन्त पद है— यूप + ङे तथा समर्थ चतुर्थ्यन्तार्थ शब्द है— दारू सु। समास के बाद यूप ङे + दारू सु की प्रातिपदिकसंज्ञा हुई तथा सुपो धातुप्रातिपदिकयोः सूत्र से ङे तथा सु इन दो सुप्—प्रत्ययों का लुक् हुआ तब यूप + दारू बना। प्रथमानिर्दिष्ट यूप की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग करने पर यूपदारू निर्मित हुआ। यूपदारु से सु विभक्ति, दारू शब्द के नपुंसक होने के कारण उसका स्वमोर्नपुंसकात् से लुक् होकर यूपदारु सिद्ध हुआ। स्मरणीय है कि, इसके रूप मधु शब्द की तरह बनते हैं।

तदर्थेन प्रकृति विकृतिभाव एवेष्टः। चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः सूत्र में तदर्थ शब्द से प्रत्येक तदर्थ का ग्रहण नहीं होता तथापि प्रकृति से विकृति को प्राप्त होने वाले तदर्थ का ही ग्रहण किया जाना इच्छित है, जैसे यूप रूपी प्रकृति से दारु रूपी विकृति। अतः रन्धनाय स्थाली अर्थात् पकाने के लिए बरतन आदि जो स्थाली रूप प्रकृति तथा पकाना रूप विकृति की स्थिति नहीं है। यहां तदर्थ मान कर समास नहीं किया जाएगा इसलिए रन्धनाय स्थाली में समास नहीं हुआ।

(वा.) अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्। द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः। द्विजार्थं पयः। भूतबलिः। गोहितम्। गोमुखम्। गोरक्षितम्।

अर्थेन नित्यसमासो। चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः सूत्र में कथित अर्थ शब्द को प्रस्तुत वार्तिक में स्पष्ट किया जा रहा है। अर्थ शब्द के साथ नित्य समास होता है तथा समस्त पद का विशेष्य के अनुसार लिंग भी होता है। चतुर्थी तदर्थार्थ, सूत्र में अर्थ शब्द के साथ विकल्प से समास होता है।

नित्य समास करने के लिए यह वार्तिक कथित है। तत्पुरुष समास होने के उपरान्त परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः के अनुसार पर में विद्यमान शब्द का जो लिंग होता है, वही लिंग समस्त पद का भी होता है। यह नियम अर्थ शब्द के साथ समास होने पर नहीं होता किंतु लिंग विशेष्य की तरह ही होगा।

टिप्पणी

द्विजार्थः सूपः। द्विजाय अयम् लौकिक विग्रह तथा द्विज ङे + अर्थ सु अलौकिक विग्रह में चतुर्थी तदर्थार्थ सूत्र से अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् के अनुसार नित्यसमास तथा अर्थ शब्द पर में होने से विशेष्यलिंगता का विधान हुआ है। यहां पर चतुर्थ्यन्त पद है– द्विज + ङे तथा समर्थ सुबन्त है– अर्थ सु। समास के बाद द्विज ङे + अर्थ सु की प्रातिपदिकसंज्ञा हुई तथा सुपो धातुप्रातिपदिकयोः सूत्र से ङे और सु इन दो सुप्–प्रत्ययों का लोप हुआ– द्विज अर्थ ध्वनित है। प्रथमानिर्दिष्ट द्विज की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग करके सवर्णदीर्घ करने पर द्विजार्थ निर्मित हुआ है। सु विभक्ति आई तथा रूत्व विसर्ग हुआ– द्विजार्थ। यहां पर विशेष्य–शब्द सूपः के पुंल्लिंग होने के कारण द्विजार्थः भी पुंल्लिंग ही हुआ।

विशेष्य के अन्य लिंग में होने के कारण विशेषण भी अन्य लिंग अर्थात् स्त्रीलिंग या नपुंसकलिंग का होगा। उदाहरणार्थ– द्विजार्था यवागूः (स्त्रीलिंग), द्विजार्थं पयः (नपुंसकलिंग) आदि।

भूतबलिः। यह बलि का उदाहरण है। भूतेभ्यो बलिः लौकिक विग्रह तथा भूत भ्यस् + बलि सु अलौकिक विग्रह में चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः से समास हुआ और सु, रूत्वविसर्ग करके भूतबलिः सिद्ध हुआ।

गोहितम्। यह हित का उदाहरण है। गोभ्यो हितम् लौकिक विग्रह तथा गो भ्यस् + हित सु अलौकिक विग्रह में चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः से समास हुआ। सु विभक्ति, हित शब्द नपुंसकलिंग होने के कारण सु के स्थान पर अम् आदेश तथा पूर्वरूप होकर गोहितम् सिद्ध हुआ। गोभ्यः सुखम्– गोसुखम् तथा गोभ्यो रक्षितम्– गोरक्षितम् आदि स्थलों पर भी इसी तरह समास होता है।

928. पञ्चमी भयेन ।2 ।1 ।37 ।।

चोराद्भयं चोरभयम्।

पञ्चम्यन्त शब्द का भयवाचक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। सूत्र में पञ्चमी यह प्रथमान्तपद है। अतः उसके द्वारा निर्दिष्टपद की उपसर्जनसंज्ञा होगी।

सूत्रार्थ– इस सूत्र में प्रमुख शब्द है–

चोरभयम्। चोराद् भयम् लौकिक विग्रह तथा चोर ङसि + भय सु अलौकिक विग्रह में पञ्चम्यन्त पद है। चोर + ङसि तथा समर्थ भयवाचक शब्द है– भय + सु। इसमें पञ्चमी भयेन सूत्र से समास हुआ है।

समास होने पर सुप् प्रत्ययों का लोप होकर चोर + भय निर्मित हुआ है। प्रथमानिर्दिष्ट चोर की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग करके चोरभय बना है। सु विभक्ति, भय शब्द नपुंसकलिंग का है, अतः सु के स्थान पर अम् आदेश तथा पूर्वरूप होकर चोरभयम् सिद्ध हुआ।

929. स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन ।2 ।1 ।39 ।।

स्तोक, अन्तिक, दूरार्थक तथा कृच्छ्रशब्द के वाचक पञ्चम्यन्त सुबन्त का क्त प्रत्यान्त समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं।

सूत्रार्थ– स्तोक (अलप), अन्तिक (समीप) तथा दूर वाचक तथा कृच्छ शब्द के साथ क्त प्रत्ययान्त सुबन्त का यहां समास होता है।

टिप्पणी

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि में द्वन्द्व समास की सृष्टि हुई। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते अर्थात् द्वन्द्व के अन्त में स्थित पद द्वन्द्व के सभी शब्दों से सम्बद्ध होता है। दूर के बाद आए हुए अर्थ शब्द का स्तोक, अन्तिक तथा दूर इन तीनों के साथ जुड़ता है।

स्तोक आदि शब्दों से परे पञ्चमी विभक्ति का लुक् नहीं होता। उत्तरपद के परे होने पर यह अलुक्समास का सूत्र है। समस्त (समास किए गए) पदों में जो अन्तिम पद होता है, उत्तरपद भी वही कहलाता है।

930. पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ।6 ।3 ।2 ।।

अलुगुत्तरपदे। स्तोकान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। कृच्छ्रादागतः।

सूत्रार्थ– स्तोकान्मुक्तः। स्तोकात् मुक्तः लौकिक विग्रह तथा स्तोक ङसि मुक्त सु अलौकिक विग्रह में स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन से स्तोक के साथ क्त प्रत्यय अंत वाले मुक्त शब्द के साथ समास हुआ।

पञ्चमी भयेन सूत्र में प्रथमान्त पद है– पञ्चमी। इस पञ्चमी से निर्दिष्ट शब्द स्तोक ङसि की उपसर्जन संज्ञा तथा उसका पूर्वप्रयोग होकर स्तोक ङसि मुक्त सु होता है।

कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से सु का लुक् हुआ। ङसि इस पञ्चमी विभक्ति का भी लुक् प्राप्त था। पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः से निषेध हुआ।

ङसि के स्थान पर टाङसिङसामिनात्स्याः से आत् आदेश होकर स्तोकात् + मुक्त बना। तकार के स्थान पर यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा से अनुनासिक आदेश होकर स्तोकान्मुक्त बना। इससे सु, रूत्व, विसर्ग करने पर स्तोकान्मुक्तः सिद्ध हुआ।

अन्तिकादगतः। अन्तिकाद् आगतः लौकिक विग्रह तथा अन्तिक ङसि आगत सु अलौकिक विग्रह में स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन से समास हुआ और शेष प्रक्रिया में स्तोकान्मुक्तः की तरह सु का लुक् तथा पञ्चमी विभक्ति ङसि का प्राप्त लुक् का पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः से लुक् का निषेध हो गया।

ङसि के स्थान पर टाङसिङसामिनात्स्याः से आत् आदेश होकर अभ्याशात् + आगत बना। तकार के स्थान पर झलां जशोऽन्ते से जश्त्व होकर अभ्याशादागत निर्मित हुआ। इस प्रकार सु, रूत्व, विसर्ग होकर अभ्याशादागतः सिद्ध हुआ।

931. षष्ठी ।2 ।2 ।8 ।।

सुबन्तेन् प्राग्वत्। राजपुरुषः।

सूत्रार्थ– षष्ठयन्त का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है।

यहां विशेष अर्थों के साथ ही समास होना निश्चित नहीं रहता। षष्ठयन्त का किसी भी समर्थ सुबन्त के साथ समास हो जाता है। षष्ठी शब्द में प्रथमा है अतः इसके द्वारा निर्दिष्ट शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होगी।

राजपुरुषः। राज्ञः पुरुषः इस लौकिक विग्रह तथा राजन् ङस् + पुरुष सु इस अलौकिक विग्रह में षष्ठयन्त पद राजन् ङस् का समर्थ सुबन्त पुरुष सु के साथ समास हुआ। विभक्ति लोप के बाद राजन् + पुरुष बना। राजन् में प्रत्यय लक्षण से विभक्तित्व

लाकर पदसंज्ञा हुई तथा पद के अन्त में विद्यमान नकार का नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से लोप करके राज + पुरुष बना। प्रथमानिर्दिष्ट राज की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग करके राजपुरुष बना है। इस प्रकार सु विभक्ति, रूत्वविसर्ग करने पर राजपुरुषः सिद्ध हुआ।

932. पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे ।2 ।2 ।1 । ।

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते एकत्वसंख्याविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासापवादः। पूर्वं कायस्य पूर्वकायः। अपरकायः। एकाधिकरणे किम्? पूर्वश्छात्राणाम्।

सूत्रार्थ– अवयवि वाचक सुबन्त के साथ पूर्व, अपर, अधर, उत्तर अवयव वाचक के साथ विकल्प से समास होता है। यदि अवयवि एकवचनान्त हो तो वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

यह सूत्र षष्ठी समास का अपवाद है। षष्ठी से समास पर षष्ठी इस प्रथमान्त पद से निर्दिष्ट शब्द का पूर्वनिपात् होकर अनिष्ट रूप बन जाता। इसलिए इस सूत्र का कथन किया है।

पूर्वकायः। पूर्वं कायस्य लौकिक विग्रह तथा काय ङस् पूर्व सु अलौकिक विग्रह में पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे से समास निर्मित हुआ। इस समास विधायक सूत्र में प्रथमान्त पद है– पूर्वापराधरोत्तरम् और इसके द्वारा निर्दिष्ट पद है– पूर्व सु। इसकी प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से उपसर्जनसंज्ञा तथा उपसर्जनं पूर्वम् से पूर्व प्रयोग हुआ है। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके पूर्वकाय सृजित हुआ और स्वादिकार्य करके पूर्वकायः सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अपरं कायस्य विग्रह में अपरकायः बनेगा।

एकाधिकरणे किम्? इस समासविधायक सूत्र पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे में एकाधिरणे अर्थात् एकत्वसंख्या से युक्त क्यों कहा गया? इसलिए कि एकत्वसंख्या वाले अवयवी के साथ तो समास होगा किन्तु बहुत्व संख्या वाले अवयवी के साथ नहीं। अन्यथा पूर्वश्छात्राणाम् में बहुत्व संख्या वाले अवयवी छात्राणाम् में भी समास होने लगता, जो कि इष्ट नहीं है। एकाधिकरणे कहा, इससे बहुवचन से युक्त पूर्वश्छात्राणाम् में समास नहीं हुआ।

933. अर्धं नपुंसकम् ।2 ।2 ।2 । ।

समांशवाच्यर्धशब्दो नित्यं क्लीबे, स प्राग्वत्। अर्धं पिप्लयाः अर्धपिप्पली।

सूत्रार्थ– सम अंश (ठीक आधा भाग) का वाचक नित्य नपुंसक अर्ध शब्द का सुबन्त के साथ विकल्प से समास हो तो वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

यहां अंश भाग का वाचक अर्ध शब्द पुंल्लिंग, नपुंसकलिंग तथा स्त्रीलिंग में होता है। समांश में प्रयुक्त अर्ध शब्द नित्य नपुंसकलिंग वाला होता है। इस सूत्र से इस नित्य नपुंसक अर्ध सुबन्त का एकत्व संख्या विशिष्ट अवयवी सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है।

अर्धपिप्पली। अर्धं पिप्पल्याः लौकिक विग्रह तथा पिप्पली ङस् अर्ध सु अलौकिक विग्रह में पिप्पली ङस् इस एकत्व संख्या विशिष्ट अवयवी सुबन्त के साथ अर्ध सु का अर्धं नपुंसकम् से समास निर्मित हुआ। प्रस्तुत सूत्र में प्रथमान्त पद द्वारा निर्दिष्ट पद है– अर्ध सु। इसी को प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से उपसर्जनसंज्ञा तथा उपसर्जनं

पूर्वम् से पूर्व प्रयोग होकर अर्ध सु पिप्पली ङस् हुआ और प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके अर्धपिप्पली। सु प्रत्यय, उसका हल्ङ्यादिलोप करके अर्धपिप्पली सिद्ध हुआ।

934. सप्तमी शौण्डैः |2 |1 |40 | |

टिप्पणी

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत्। अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः इत्यादि।

द्वितीयातृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि तृतीयादिविभक्तीनां प्रयोगवशात्समासो ज्ञेयः।

सूत्रार्थ– सप्तम्यन्त का शौण्ड आदि समर्थ शब्दों के साथ समास होता है। इस सूत्र में प्रथमान्त पद सप्तमी है। उसके द्वारा निर्दिष्ट पद की उपसर्जनसंज्ञा होगी।

अक्षशौण्डः। अक्षेषु शौण्डः लौकिक विग्रह तथा अक्ष सुप् + शौण्ड सु अलौकिक विग्रह में सप्तमी शौण्डैः से समास हुआ। यहां प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् प्रत्ययों का लुक्, उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वप्रयोग करके अक्षशौण्ड बना और सु, रूत्वविसर्ग होकर अक्षशौण्डः।

विशेष– तत्तत् समास विधयक सूत्रों में योगविभाग की कल्पना की जाती है, क्योंकि ऐसे बहुत से तत्पुरुषसमास के प्रयोग मिलते हैं। यहां पर सूत्रों का विभाजन करके उन विविध प्रयोगों की सिद्धि की गई है। सूत्रों में पदों के विभाजन को योगविभाग कहते हैं। जैसे द्वितीया श्रितातीत... यह सूत्र द्वितीयान्त का श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त तथा आपन्न शब्दों के साथ ही समास करता है। शेष समर्थ शब्दों के साथ तो समास नहीं हो पाएगा। इसलिए इस सूत्र का योगविभाग करके दो सूत्र बनाते हैं।

प्रथम सूत्र द्वितीया तथा द्वितीय सूत्र श्रितातीत... हो जाता है। प्रथमसूत्र द्वितीया में समासः, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, विभाषा इत्यादि पदों की अनुवृत्ति तथा अधिकार आ जाएंगे। इस प्रकार से द्वितीया इस सूत्र का अर्थ बनता है– द्वितीयान्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास हो जाए।

यहां पर द्वितीयान्त के साथ समास करने के लिए किसी शब्द विशेष की अपेक्षा नहीं रहती है। इसलिए अनेक जगहों पर समास हो सकेगा। यही प्रक्रिया तृतीय तत्कृतार्थेन गुणवचनेन, चतुर्थी तदर्था... पञ्चमी भयेन, सप्तमी शौण्डैः इन सूत्रों में भी अपनाई जाती है।

योगविभाग वाले सूत्रों के प्रथम भाग का स्वरूप होगा– द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी तथा सप्तमी, जिससे शब्दविशेष की अपेक्षा न होने से अनेक स्थलों पर समास हो सकेगा।

935. दिक्संख्ये संज्ञायाम् |2 |1 |50 | |

संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्। पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः। तेनेह न – उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः।

सूत्रार्थ– दिशावाची तथा संख्यावाची सुबन्त का समानाधिकरण सुबन्त के साथ संज्ञा अर्थ गम्य होने पर समास होता है।

इस सूत्र का विधान संज्ञा में ही समास हो यह नियम करने के लिए है। विशेषणं विशेष्येण बहुलम् से समानाधिकरण में समास होता है। संज्ञा तथा असंज्ञा दोनों में यह होता है। इसलिए सप्तर्षयः आदि में भी विशेषणं विशेष्येण बहुलम् समास हो सकता है। इस सूत्र से पृथक् विधान करना यह सिद्ध करता है कि सिद्धे सत्यारभ्यमाणो

विधिर्नियमाय भवति। सिद्ध होने पर भी उसी कार्य के लिए पुनः किसी सूत्र से विधान करना नियम के लिए होता है।

यहां पर भी दिक्संख्ये संज्ञायाम् सूत्र नियम करता है कि दिशा तथा संख्यावाची सुबन्त का यदि समानाधिकरण के साथ समास हो तो केवल संज्ञा में ही हो अन्यत्र नहीं।

• दो प्रकार के सुबन्तों में समास

(क) सुबन्त दिशावाची शब्द के साथ संज्ञा

पूर्वेषुकामशमी। पूर्वा चासौ इषुकाशमी लौकिक विग्रह तथा पूर्वा सु इषुकामशमी सु अलौकिक विग्रह है। दोनों में समान विभक्ति है। अतः समानाधिकरण हैं। पूर्वा दिशावाचक शब्द है।

इषुकामशमी प्राचीन समय में किसी गांव का नाम था। अतः एक गांव के वाचक होने के कारण संज्ञा अर्थ भी है। दिक्संख्ये संज्ञायाम् से समास हुआ। समासविधायक सूत्र में प्रथमान्त पद है दिक्संख्ये तथा उसके द्वारा निर्दिष्ट पद है पूर्वा सु, उसकी उपसर्जनसंज्ञा के बाद पूर्वनिपात करके प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक्, पूर्वा + इषुकामशमी बना और गुण होकर पूर्वेषुकामशमी। सु, हल्ङ्यादिलोप करने पर पूर्वेषुकामशमी सिद्ध हुआ।

(ख) सुबन्त संख्यावाची शब्द के साथ संज्ञा

सप्तर्षयः। सप्त च ते ऋषयः लौकिक विग्रह तथा सप्तन् जस् ऋषि जस् अलौकिक विग्रह में समान विभक्ति हैं। अतः समानाधिकरण है। सप्त संख्यावाचक शब्द है। विश्वामित्र आदि सात ऋषियों के वाचक होने कारण यह संज्ञा अर्थ भी है। इसलिए दिक्संख्ये संज्ञायाम् से समास हुआ। शेष कार्य पूर्ववत् होकर प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् तथा नकार का लोप करके सप्त + ऋषि निर्मित और गुण, रपर होकर सप्तर्षि बना। बहुवचन में जस्, जसि च से गुण होकर सप्तर्षयः सिद्ध हुआ।

इस सूत्र द्वारा संज्ञा अर्थ में ही समास किया जाता है, अतः उत्तरा वृक्षाः (उत्तर दिशा के वृक्ष) तथा पञ्च ब्राह्मणाः आदि में यह समास नहीं हो सकता क्योंकि किसी संज्ञा अर्थ का बोध नहीं होता।

936. तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च ।2 ।1 ।51 ।।

तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये प्राग्वत्। पूर्वस्यां शालायां भवः – पूर्वा शाला इति समासे जाते।

सूत्रार्थ– तद्धित प्रत्यय के अर्थ का विषय होने पर उत्तरपद परे होने पर अथवा समाहार वाच्य होने पर दिशावाचक तथा संख्यावचक समर्थ सुबन्त का समानविभक्ति वाले सुबन्त के साथ समास होता है। ऐसी स्थिति में तत्पुरुष समास की सृष्टि होती है।

दिशावाचक तथा संख्यावचक के भेद से तद्धितार्थ विषयक, उत्तरपद विषयक तथा समाहार वाच्य के दो–दो भेद होंगे। उदाहरण निम्नांकित हैं–

दिशावाचक

तद्धितार्थ में– पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः

उत्तरपद में– पूर्वशालाप्रियः

समाहार में– उदाहरण नहीं दिया गया

टिप्पणी

संख्यावचक

तद्धितार्थ में– पाञ्नापितिः

उत्तरपद में– पञ्चगवधनः

समाहार में– पञ्चगवम्

इस प्रकार इस सूत्र के द्वारा किए गए समास को तद्धितार्थ तत्पुरुष समास, उत्तर पद समास एवं समाहार तत्पुरुष समास कहा जाता है।

पूर्वा तथा शाला स्त्रीलिंग शब्दों में समास होने पर पुंवद्भाव करने के लिए वार्तिक है–

(वा.) सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः।

सर्वनामसंज्ञक को वृत्तिमात्र (समास, तद्धित आदि सभी वृत्तियों) में पुंवद्भाव हो। अर्थात् यदि दो या दो से अधिक स्त्रीलिंग या नपुंसकलिंग शब्दों में पूर्व में स्थित सर्वनामसंज्ञक शब्द में विद्यमान लिंगबोधक प्रत्यय हट कर पुंल्लिंग की तरह शब्द हो जाता है। जैसे– पूर्वा शाला में समासवृत्ति होने के बाद इस वार्तिक से पुंवद्भाव होकर पूर्वशाला हो जाता है।

937. दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः ।4 ।2 ।107 ।।

अस्माद्भवाद्यर्थे ञः स्यादसंज्ञायाम्।

सूत्रार्थ– जिसके पूर्व में दिशा वाचक शब्द हो ऐसे प्रातिपदिक से भव आदि शैषिक अर्थों में ञ प्रत्यय हो असंज्ञा में। भव आदि शैषिक अर्थों में किया गया ञ् प्रत्यय तद्धित का प्रत्यय है। ञित् का फल आगामी तद्धितेष्वचामादेः से वृद्धि करना है।

938. तद्धितेष्वचामादेः ।7 ।2 ।117 ।।

ञिति णिति च तद्धितेष्वचामादेरचो वृद्धिः स्यात्। यस्येति च। पौर्वशालः। पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ।

सूत्रार्थ– ञ्त णित् तद्धित प्रत्यय परे रहते आदि अच् को वृद्धि हो।

पौर्वशालः। पूर्वस्यां शालायां भवः लौकिक विग्रह तथा पूर्वा ङि + शाला ङि अलौकिक विग्रह में तद्धितार्थ के विषय में तिद्धतार्थोत्तरपदसमाहारे च से सामासिक क्रिया हुई है। दोनों पदों में समानविभक्ति ङि ही है। पूर्ववत् प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से दोनों प्रत्ययों का लुक् हुआ पूर्वा शाला बना। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः से सर्वनामवाची पूर्वा को समास वृत्ति में पुंवद्भाव होकर पूर्वशाला शब्द निर्मित हुआ है। दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः से ञ प्रत्यय, अनुबन्धलोप करने पर पूर्वशाला अ बना। अकार के ञित् होने से तद्धितेष्वचामादेः से आदि में विद्यमान पू के ऊकार को वृद्धि होकर पौर्वशाला अ और यस्येति च से लकारोत्तर्वी भसंज्ञक आकार का लोप हुआ। पौर्वशाल् + अ – पौर्वशाल बना। इसी तरह एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति, रूत्वविसर्ग होकर पौर्वशालः रूप निर्मित हुआ।

संक्षिप्त रूप सिद्धि– पूर्वशाला + अ इस स्थिति में तद्धितेष्वचामादेः के द्वारा आदि वृद्धि हुई। पौर्वशाला + अ हुआ। यस्येति च से पौर्वशाला का अंतिम आकार का लोप, परस्पर वर्ण संयोग होकर पौर्वशाल और सु विभक्ति रूत्व विसर्ग होकर पौर्वशालः रूप सृजित हुआ।

टिप्पणी

(वा.) द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्।

यदि द्वन्द्व तथा तत्पुरुष समास उत्तर पद के परे होने पर हो तो नित्य समास हो, ऐसा कहना चाहिए। पञ्च गावो धनं यस्य इस तीन पदों में अनेकमन्य पदार्थे सूत्र से त्रिपद बहुव्रीहि समास हुआ। तदनन्तर बहुव्रीहि के अन्तर्वर्ती पहले के दो पदों का तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च से विकल्प से तत्पुरुष समास प्राप्त होता है। अतः नित्य से समास करने के लिए यह वार्तिक है।

939. गोरतद्धितलुकि ।5 ।4 ।92 ।।

गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात् समासान्तो न तु तद्धितलुकि। पञ्चगवधनः।

सूत्रार्थ– यदि तद्धित का लुक् न हुआ हो तो गो शब्द अन्त वाले तत्पुरुष समास से समासान्त टच् प्रत्यय होता है।

पञ्गवधनः। पञ्च गावो धनं यस्य यह तीन पदों का लौकिक विग्रह तथा पञ्चन जस् + गो जस् + धन सु यह अलौकिक विग्रह है। ऐसी अवस्था में अनेकमन्यपदार्थे से बहुव्रीहि समास की सृष्टि करती है। उसके बाद पञ्चन् तथा गो में द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम् की सहायता से उत्तरपद धन + सु के परै रहते नित्य से समास हुआ। समास के बाद प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्ति का लुक् करने पर पञ्चन् गो धन बना। लुप्त हुई विभक्ति को अन्तर्वर्तिनी विभक्ति मानकर पद तथा पद के अन्त नकार का न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य से लोप होकर पञ्चगो धन और गोरतद्धितलुकि से धन उत्तरपद के परे रहते पञ्चगो से टच् प्रत्यय होकर अनुबन्धलोप करने पर पञ्चगो + अ + ध ान। एचोऽयवायावः से ओकार के स्थान पर अव् आदेश होकर पञ्चगवधन शब्द निर्मित हुआ। यद्यपि धन–शब्द नपुंसकलिंग है तथापि बहुव्रीहि समास होने पर अन्य पदार्थ (पांच गाय रूपी धन वाला) पुरुष का विशेषण होने से वह पुंल्लिंग का वाचक बन गया है। अतः यह पुंल्लिंग में पुयक्त है। एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिक भी है और सु विभक्ति लाकर उसके स्थान पर रूत्वविसर्ग करने पर पञ्चगवधनः सिद्ध हुआ है।

940. तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ।2 ।1 ।42 ।।

समानाधिकरण तत्पुरुष को कर्मधारय समास कहा जाता है।

जिस समास में पूर्वपद तथा उत्तरपद एक ही विभक्ति के हों, उसकी कर्मधारय संज्ञा होती है। अतः स्पष्ट है कि कर्मधारय संज्ञा के साथ तत्पुरुष संज्ञा भी रहती है। अतः कर्मधारय को तत्पुरुष का एक भेद माना जाता है।

941. संख्यापूर्वो द्विगुः ।2 ।1 ।52 ।।

तद्धितार्थेत्यत्रोक्तस्त्रिविधः संख्यापूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात्।

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च। इस सूत्र के अनुसार तीन प्रकार के समास में यदि संख्यावाचक शब्द पूर्व पद में हो तो ऐसे समास की द्विगुसंज्ञा होती है।

कर्मधारयसंज्ञा का एक भेद द्विगु है। द्विगु, कर्मधारय के साथ तत्पुरुष भी बना रहता है। इसीलिए द्विगु–कर्मधारय को तत्पुरुष का एक रूप स्वीकार किया जाता है।

942. द्विगुरेकवचनम् ।2 ।4 ।1 ।।

द्विग्वर्थः समाहार एकवत्स्यात्।

सूत्रार्थ– द्विगु के अर्थ में समाहार एकवचन हो।

943. स नपुंसकम् ।2 ।4 ।17 ।।

समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात्। पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम्।

सूत्रार्थ– समाहार में द्विगु तथा द्वन्द्व नपुंसक लिङ्ग का हो।

पञ्चगवम्। पञ्चानं गवां समाहारः लौकिक विग्रह तथा पञ्चन् आम् + गो आम्। यह अलौकिक विग्रह तथा समाहार अर्थ में तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च से समास हुआ। संख्यावाचक शब्द पूर्व में होने के कारण सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः से द्विगुसंज्ञा हुई। दिक् संख्ये संज्ञायाम् से संख्यापूर्वो द्विगुः में दिक् संख्ये की अनुवृत्ति आती है, इसलिए तद्बोधक पञ्चन् आम् + की प्रथमानिर्दिष्टं से उपसर्जन संज्ञा तथा उपसर्जनं पूर्वम् से पूर्वनिपात और प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्ति का लुक् करने पर पञ्चन् गो साकार हुआ है। लुप्त हुई विभक्ति को अन्तर्वर्तिनी विभक्ति मानकर पद संज्ञा तथा पदान्त नकार का न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य से लोप हुआ पञ्चगो बना और गोरतद्धितलुकि से टच् प्रत्यय, अनुबन्धलोप करने पर पञ्चगो + अ। एचोऽयवायावः से ओकार के स्थान पर अव् आदेश हुआ और पञ्चगव बना।

तनन्नतर स नपुंसकम् से द्विगुसंज्ञक पञ्चगव शब्द नपुंसकलिंग का हुआ और पञ्चगव शब्द बहुवचन का है। इसके स्थान पर द्विगुरेकवचनम् से एकवचन का विधान। एकवचन सु विभक्ति लाकर उसके स्थान पर अम् आदेश तथा पूर्वरूप होकर पञ्चगवम् सिद्ध हुआ।

944. विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ।2 ।1 ।57 ।।

भेदकं भेद्येन समानाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत्। नीलमुत्पलं नीलोत्पलम्। बहुलग्रहणात्क्वचिन्नित्यम् – कृष्णसर्पः। क्वचिन्न – रामो जामदग्न्यः।

सूत्रार्थ– इस सूत्र के अनुसार समास निर्मिती समान विभक्ति वाले विशेषण का विशेष्य के साथ बहुलता से होती है। विशेषण को भेदक तथा विशेष्य को भेद्य कहा जाता है।

नीलोत्पलम्। यहां नीलम् उत्पलम् अथवा नीलं च तद् उत्पलम् लौकिक विग्रह तथा नील सु + उत्पल सु अलौकिक विग्रह में विशेषणं विशेष्येण बहुलम् से समास हुआ है। विशेषण पद है नील सु तथा विशेष्य पद है उत्पल सु। दोनों की विभक्ति प्रथमान्त एकवचन होने से समानाधिकरण है।

नील सु + उत्पल सु की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से दोनों सुप् प्रत्ययों का लुक्, नील + उत्पल बना। विशेषणम् इस प्रथमान्तपद से निर्दिष्ट शब्द नील की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग हुआ।

नील + उत्पल में गुण करके नीलोत्पल बना। प्रथमा का एकवचन में सु विभक्ति, नपुंसक होने के कारण सु को अम् आदेश तथा पूर्वरूप करके नीलोत्पलम् सिद्ध हुआ।

कर्मधारय समास में सामानाधिकरण्य दिखाने के लिए लौकिकविग्रह प्रायः दो प्रकार से किया जाता है–

1. समास किए जाने वाले पदों के द्वारा, जैसे– नीलम् उत्पलम्
2. दोनों पदों के मध्य चकार लगाकर, जैसे– नीलं च तद् उत्पलम्।

बहुलग्रहणात्। विशेषणं विशेष्येण बहुलम् यह सूत्र बहुलता से समास करता है।

बहुल के चार अर्थ हैं– पहला– क्वचित्प्रवृत्तिः – जहां लगना चाहिए वहां लगता है तथा जहां लगने की योग्यता नहीं है, वहां भी लग जाता है।

दूसरा– क्वचित् अप्रवृत्तिः – कहीं–कहीं लगने योग्य स्थानों पर भी नहीं लगता।

तीसरा– क्वचिद्विभाषा– कहीं–कहीं विकल्प से होता है और

चौथा– क्वचिद् अन्यद् एव– कहीं कुछ और ही भी होता है और ही होता है।

बहुल का तातपर्य है– कहीं होना, कहीं न होना, कहीं विकल्प से होना और कहीं कुछ भिन्न ही होना।

बहुलता के कारण कृष्णश्वासौ सर्पः में नित्य से समास किया गया है तथा राम सु जामदग्न्य सु में समानाधिकरण होते हुए भी बहुल का आश्रय लेकर समास नहीं किया गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि, बहुल के चार अर्थ होते हैं– कहीं नित्य से प्रवृत्त होना, कहीं नित्य से अप्रवृत्त होना, कहीं विकल्प से करना तथा कहीं कुछ भिन्न ही कार्य करना। यहां पर कृष्णश्वासौ सर्पः में विकल्प से प्राप्त समास को विशेषणं विशेष्येण बहुलम् नित्य से समास बना तथा रामश्वासौ जागदग्न्यः में समानाधिकरण होने पर भी प्रवृत्त नहीं हुआ।

945. उपमानानि सामान्यवचनैः |2 |1 |55 | |

घन इव श्यामो घनश्यामः।

सूत्रार्थ– उपमानवाचक सुबन्त का समान धर्मवाचक सुबन्तों के साथ समास हो। वह समास तत्पुरुषसंज्ञक हो।

उपमीयतेऽनेन इत्युपमानम्। जिसके द्वारा उपमा की जाती है उसे उपमान् कहा जाता है। जिनके द्वारा किसी अन्य वस्तु की तुल्यता या समानता दिखाई जाती है, उनको उपमान कहते हैं तथा जिनके लिए तुल्यता दिखाई जाती है वे उपमेय हैं।

उपमान तथा उपमेय में सादृश्य रूप में विद्यमान एक धर्म का नाम समानता है। उसी तरह, जिस तरह चन्द्र इव मुखं यस्याः (चन्द्रमा की तरह सुन्दर मुख वाली) में चन्द्र उपमान है, मुख उपमेय है तथा दोनों में विद्यमान सुन्दरता सादृश्य अर्थात् समानता है। यही उपमा है।

इस सूत्र में प्रथमान्तपद उपमानानि है, इससे निर्दिष्ट की उपसर्जनसंज्ञा होगी।

घनश्यामः। बादल की तरह श्यामवर्ण वाला, श्रीकृष्ण। घन इव श्यामः लौकिक विग्रह तथा घन सु + श्याम सु अलौकिक विग्रह में उपमानानि सामान्यवचनैः से समास हुआ। यहां पर उपमान है घन सु तथा समान श्याम गुण वाला सुबन्त है श्याम सु।

दोनों पद प्रथमान्त एकवचन के हैं, अतः समानाधिकरण है। घन सु + श्याम सु की प्रातिपदिकसंज्ञा करके सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से दोनों सु का लुक्, घन + श्याम में उपमानानि इस प्रथमान्तपद से निर्दिष्ट शब्द घन है, उसकी उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग हुआ। घनश्याम से प्रथमा का एकवचन सु आया तथा रामः की तरह घनश्यामः बन गया।

(वा.) शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्। शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः। देवपूजको ब्राह्मणो देवब्राह्मणः।

टिप्पणी

अर्थात् शाकपार्थिव आदि समस्त पदों की सिद्धि के लिए उत्तर पद का लोप हो।

शाकपार्थिवः। शाकप्रियः पार्थिवः लौकिक विग्रह तथा शाकप्रिय सु + पार्थिव सु अलौकिक विग्रह में विशेषणं विशेष्येण बहुलम् से समास हुआ। शाकप्रिय सु विशेषणपद है तथा पार्थिव सु विशेष्य पद है। दोनों में प्रथमान्त एकवचन होने से समानाधिकरण है।

शाकप्रिय सु + पार्थिव सु की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से दोनों सु का लुक् करके शाकप्रिय + पार्थिव बना। विशेषणं विशेष्येण बहुलम् सूत्र में प्रथमान्तपद से निर्दिष्ट शब्द शाकप्रिय है, उसकी उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग हुआ है। शाकप्रिय शब्द में दो शब्दों शाक + प्रिय के बीच बहुव्रीहिसमास है– शाकः प्रियः अस्ति यस्य स शाकप्रियः।

इस समास में उत्तरपद प्रिय है। उस उत्तरपद प्रिय का शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम् से लोप हो गया शाकपार्थिव बना। प्रथमा का एकवचन में सु आदि कार्य होकर शाकपार्थिवः सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार देवपूजकः ब्राह्मणः में पूजक इस उत्तरपद का लोप होकर देवब्राह्मणः सिद्ध हुआ।

946. नञ् |2 |2 |6

नञ् सुपा सह समस्यते।

नञ् इस अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है।

नञ् यह प्रथमान्त पद है, अतः इसके द्वारा निर्दिष्ट नञ् उपसर्जनसंज्ञक होता है। नञ् भी तत्पुरुष ही है।

947. न लोपो नञः |6 |3 |73 | |

नञो नस्य लोप उत्तरपदे। न ब्राह्मणः अब्राह्मणः।

सूत्रार्थ– उत्तरपद के परे होने पर नञ् के नकार का लोप होता है।

अब्राह्मणः। न ब्राह्मणः लौकिक विग्रह तथा न + ब्राह्मण सु अलौकिक विग्रह है जिसमें नञ् सूत्र से समास हुआ और प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्ति का लुक् करके न + ब्राह्मण बना। न की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग होकर न + ब्राह्मण बना।

नलोपे नञ: से ब्राह्मण इस उत्तरपद के परे होने पर न के नकार को लोप हुआ, अ शेष बचा और अ + ब्राह्मण हुआ। वर्णसंयोग करके अब्राह्मण बना। प्रथमा एकवचन में सु आदि कार्य करके अब्राह्मणः सिद्ध हुआ है।

948. तस्मान्नुडचि |6 |3 |74 | |

लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुडागमः स्यात्। अनश्वः। नैकधेत्यादौ तु नशब्देन सह सुप्सुपेति समासः।

सूत्रार्थ– जिसके नकार का लोप हो चुका है, ऐसे नञ् से परे अजादि उत्तरपद को नुट् का आगम होता है।

नुट् में उकार तथा टकार की इत्संज्ञा होती है और टित् होने के कारण अच् के आदि का अवयव। यहां तस्मात् इस पद से जिस नञ् का लोप हो चुका हो ऐसा नञ् यह अर्थ लिया जाता है।

टिप्पणी

अनष्वः। न अश्वः लौकिक विग्रह तथा न + अश्व सु अलौकिक विग्रह है जिसमें नञ् सूत्र से समास हुआ, प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्ति का लुक् करके न + अश्व बना। न की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग। नलोपो नञः से अश्व इस उत्तरपद के परे होने पर न के न् का लोप हुआ, अ + अश्व बना।

तस्मान्नुडचि से अजादि उत्तरपद में अश्व है। इसे नुट् का आगम हुआ, अनुबन्धलोप, नुट् टित् है अतः यह अश्व के आदि में आया। अ न् अश्व में वर्णसम्मिलन करके अनश्व बना और प्रथमा एकवचन में सु आदि कार्य करके अनश्वः सिद्ध हुआ।

नैकधेत्यादौ तु न शब्देन सह सुप्सुपेति समासः। यहां एक सहज प्रश्न उठता है कि जैसे न अश्वः में नञ् समास होने के कारण नुट् होकर अनश्वः बनता है वैसे ही न एकधा में अजादि उत्तरपद में एकधा है। इस स्थिति में भी नुट् होकर अनेकधा बनना चाहिए किन्तु बनता है नैकधा। ऐसा क्यों?

इसका समाधान करते हुए सूत्रकार लिखते हैं— नैकधेत्यादि। न तथा नञ् ये दोनों भिन्न–भिन्न निषेधार्थक अव्यय हैं। समासविधायक नञ् यह सूत्र नञ् अव्यय के साथ में समास करता है, न के साथ में नहीं। नलोपो नञः भी नञ् के नकार का लोप करता है, न के नकार का नहीं।

तस्मान्नुडचि भी नञ् से पर अजादि को नुट् का आगम करता है, न से परे नहीं। नैकधा में न एकधा का जो न है, वह नञ् का न नहीं है अपितु नञ् से भिन्न न है।

अतः नैकधा जैसे स्थलों पर नञ् से समास सम्भव नहीं है। फलतः नकार का लोप तथा नुट् का आगम, ये दो भी नहीं हो सकता। यहां न एकः इस विग्रह में नैकः की तरह सह सुपा से समास करके नैकधा बन गया है।

949. कुगतिप्रादयः ।2 ।2 ।18 ।।

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते। कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः।

सूत्रार्थ— कु, गतिसंज्ञक तथा प्र आदि का समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है।

कुपुरुषः। कुत्सितः पुरुषः लौकिक विग्रह तथा कु + पुरुष सु अलौकिक विग्रह है। कुत्सित अर्थ में कु है। ऐसी स्थिति में कुगतिप्रादयः से समास हुआ, प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्ति का लुक् करके कु + पुरुषः बना। कुगतिप्रादयः प्रथमान्त है, अतः उसके द्वारा निर्दिष्ट कु की उपसर्जनसंज्ञा तथा उसका पूर्वप्रयोग।

एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति करके कुपुरुषः सिद्ध हुआ। इसी तरह कुत्सिता माता कुमाता, कुत्सिता दृष्टिः आदि भी समझना चाहिए। ये कु–शब्द के साथ समास के उदाहरण हैं।

क्रिया के योग में प्र आदि की उपसर्गाः क्रियायोगे सूत्र से उपसर्गसंज्ञा होती है। गतिश्च से उपसर्गसंज्ञक की गतिसंज्ञा होती है। इस संज्ञा के लिए अग्रिम सूत्र दर्शनीय है।

950. ऊर्यादिच्विडाचश्च ।1 ।4 ।61 ।।

ऊर्यादयश्च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य। शुक्लीकृत्य। पटपटाकृत्य। सुपुरुषः।

टिप्पणी

सूत्रार्थ– ऊरी आदि गणपठित शब्द, च्वि प्रत्ययान्त शब्द तथा डाच् प्रत्ययान्त शब्द क्रिया के योग में गतिसंज्ञक होते हैं। ऊरीकृत्य। ऊरी कृत्वा ऐसा अलौकिक विग्रह है। यहां कोई सुप् विभक्ति नहीं है, क्योंकि दोनों पद अव्यय हैं। अतः अव्यय से आए हुए प्रत्ययों का अव्ययादाप्सुपः से लुक् हो गया।

ऊरी गणपाठ का शब्द है। कृ धातु से क्त्वा प्रत्यय करके कृत्वा निष्पन्न हुआ। ऊरी के साथ कृत्वा के योग में ऊर्यादिच्विडाचश्च से गतिसंज्ञा करने के बाद कुगतिप्रादयः से समास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् न होने के कारण सुप् के लुक् का प्रसंग नहीं है। ऊरीकृत्वा बन गया है।

समासे नञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् से क्त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश हुआ, अनुबंध लोप होने के बाद ऊरीकृत्य शब्द निर्मित हुआ है। प्रथमानिर्दिष्ट ऊरी का पूर्वप्रयोग, समास होने के बाद प्रथमा एकवचन में सु विभक्ति, उसका अव्ययदाप्सुपः से अव्ययत्वेन लुक् करके ऊरीकृत्य सिद्ध हुआ।

शुक्लीकृत्य। च्विप्रत्ययान्त के इस उदाहरण में अशुक्लं शुक्लं कृत्वा ऐसे शुक्ल अम् + कृत्वा लौकिक विग्रह है। कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य... च्विः से कृ धातु के योग में च्वि प्रत्यय, तद्धितान्त होने के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा होकर उसके अवयव अम् विभक्ति का सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् होकर शुक्ली + कृत्वा बना है।

कृत्वा अव्यय है। अतः अव्यय से आए हुए प्रत्ययों का अव्ययादाप्सुपः से लुक् हो गया है। कृत्वा के योग में शुक्ली की ऊर्यादिच्वि.... से गतिसंज्ञा करने के बाद कुगतिप्रादयः से समास की निर्मिती होती है। तदनन्तर प्रातिपदिकसंज्ञा होती है। शुक्लीकृत्वा बन गया है। क्त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश होकर, अनुबन्धलोप होने के बाद शुक्लीकृत्य बना। प्रथमानिर्दिष्ट शुक्ली का पूर्वप्रयोग, सु विभक्ति, सु का लुक् करके शुक्लीकृत्य सिद्ध हुआ।

पटपटाकृत्य। यह डाच्–प्रत्ययान्त का उदाहरण है, जिसमें पटत् कृतवा इस विग्रह में पटत् से अव्यक्तानुकरणे... द्वयजवरा... डाच् सूत्र से डाच् प्रत्यय की विवक्षा में डाचि बहुलं द्वे भवतः से द्वित्व, पुनः स्वीत्व विवक्षा में टाप्, टिलोप, पररूप आदि करके पटपटा + कृत्वा बना है।

कृत्वा के योग में पटपटा की ऊर्यादिच्विडाचश्च से गतिसंज्ञा करने के बाद कुगतिप्रादयः से समास हो जाता है। प्रातिपदिकसंज्ञा, क्त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश होकर, कृ धातु को तुक् का आगम, अनुबन्ध लोप होने के बाद पटपटाकृत्य बन जाता है।

प्रथमानिर्दिष्ट गतिसंज्ञक पटपटा का पूर्वप्रयोग होता है। समास होने के बाद पुनः सु विभक्ति, उसका भी अव्ययत्वेन लुक् करके पटपटाकृत्य सिद्ध हो जाता है।

सुपुरुषः। यह प्रादिसमास का उदाहरण है– शोभनः पुरुषः लौकिक विग्रह तथा सु + पुरुष सु अलौकिक विग्रह है। इस अवस्था में कुगतिप्रादयः से प्रादि सु के साथ समर्थ सुबन्त पुरुष + सु का समास हुआ।

प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्ति का लुक् करके सु + पुरुष बना। पूरा सूत्र ही प्रथमान्त है, अतः उसके द्वारा निर्दिष्ट सु की उपसर्जनसंज्ञा तथा उसका पूर्वप्रयोग है। एकदेश... प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति करके सुपुरुषः सिद्ध हुआ।

टिप्पणी

(वा.) प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया। प्रगत आचार्यः प्राचार्यः।

यह वार्तिक है। गत आदि अर्थों में वर्तमान प्र आदि निपातों का प्रथमान्त सुबन्त के साथ नित्य समास होता है तथा वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

प्राचार्यः। प्रगत आचार्यः। पगतः आचार्यः यह लौकिक विग्रह तथा प्र आचार्य सु अलौकिक विग्रह है। प्र इस निपात का आचार्य सु इस सुबन्त के साथ प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया से समास हुआ, प्र की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात, सुप् का लुक् करके प्र + आचार्य बना। सवर्ण दीर्घ होकर प्रचार्य बना और स्वादि कार्य होकर प्राचार्यः। प्राचार्यः अर्थ है– दूर गया हुआ आचार्य, श्रेष्ठ आचार्य, अपने विषय में दक्ष आचार्य या आचार्य का भी आचार्य।

(वा.) अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया। अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे–

अति आदि का द्वितीयान्त से समास हो, क्रान्त आदि अर्थ में।

अतिक्रान्तो मालाम्। अति माला लौकिक विग्रह तथा अति माला अम् अलौकिक विग्रह है। यहां द्वितीयान्त मालाम् शब्द से क्रान्त अर्थ में अति के साथ अत्यादयः क्रान्ताऽऽद्यर्थे द्वितीयया से समास हुआ है। अति की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात, सुप् का लुक् करके अति + माला निर्मित हुआ। प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति, सु का लोप करके अतिमाला रूप सिद्ध हुआ।

951. एकविभक्ति चापूर्वनिपाते ।1 ।2 ।44 ।।

विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्यान्न तु तस्य पूर्वनिपातः।

सूत्रार्थ– विग्रह में जो नियत विभक्ति हो, वह उपसर्जनक संज्ञक हो, किन्तु उसका पूर्वनिपात नहीं हो।

जिस विग्रह में विभक्ति परिवर्तन नहीं होता, वह नियत विभक्ति कहलाती है। अतिक्रान्तः मालाम्, अतिक्रान्तेन मालाम्, अतिक्रान्ताय मालाम्, अतिक्रान्तात् मालाम् आदि विग्रह करने पर मालाम् में द्वितीया विभक्ति नियत है जबकि अतिक्रान्त शब्द में विभक्ति बदल रही है। अतः माला + अम् नियत अर्थात् निश्चित विभक्ति वाला है। अतः एक विभक्ति चापूर्वनिपाते इस सूत्र से नियत विभक्ति वाले माला की उपसर्जन संज्ञा हुई तथा उसका पूर्वनिपात नहीं होगा।

प्रश्न यह उठता है कि उपसर्जन संज्ञा का प्रयोजन पूर्वप्रयोग करना है। यदि पूर्वप्रयोग नहीं करना है तो उपसर्जन संज्ञा का क्या प्रयोजन? समाधान अग्रिमसूत्र प्रस्तुत करता है।

952. गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य ।1 ।2 ।48 ।।

उपसर्जनं यो गोशब्दः स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात्। अतिमालः।

उपसर्जनसंज्ञक गोशब्द तथा स्त्रीप्रत्ययान्त को ह्रस्व हो।

सूत्रार्थ– स्त्री प्रत्यय से स्त्रियाम् सूत्र के अधिकार में किए जाने वाले टाप्, डाप्, चाप्, ङीप्, ङीष्, ङीन् आदि प्रत्यय लिए जाते हैं।

अतिमालः। मालाम् अतिक्रान्तः यह लौकिक विग्रह तथा माला अम् अति अलौकिक विग्रह है। अति इस प्रादि निपात का माला अम् इस द्वितीयान्त सुबन्त के साथ अत्यादयः

टिप्पणी

क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया से समास निर्मित हुआ है। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् माला + अति बना और प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से अति की उपसर्जनसंज्ञा होकर पूर्वप्रयोग हुआ। अति + माला। एक विभक्ति चापूर्वनिपाते से माला की उपसर्जनसंज्ञा तथा गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य से उपसर्जन माला को ह्रस्व होकर अतिमाल बना। सु, रूत्वविसर्ग करके अतिमालः सिद्ध हुआ।

(वा.) अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया। अवक्रुष्टः कोकिलया – अवकोकिलः।

अवकोकिलः। अवक्रुष्टः कोकिलया लौकिक विग्रह तथा कोकिला टा अव अलौकिक विग्रह में अव निपात क्रुष्ट अर्थ में विद्यमान है, अतः कोकिला टा इस सुबन्त के साथ में अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया से समास बना। अव + कोकिला टा की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक्, अव् की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वप्रयोग, एकविभक्ति चापूर्वनिपाते से कोकिला की उपसर्जनसंज्ञा, गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य से उपसर्जन कोकिला के आ को ह्रस्व करके अवकोकिल बना। इस प्रकार सु रूत्वविसर्ग अवकोकिलः सिद्ध हुआ।

(वा.) पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या। परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः।

ग्लान (खिन्न, दुःखी, थका हुआ) जैसे अर्थों में परि आदि निपातों का चतुर्थ्यन्त के साथ नित्य समास और तत्पुरुष समास होता है।

पर्यध्ययनः। परिग्लानः अध्ययनाय लौकिक विग्रह तथा अध्ययन ङे परि अलौकिक विग्रह है। यहां परि निपात ग्लान अर्थ में विद्यमान है। अतः अध्ययन टा इस सुबन्त के साथ में पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या से समास हुआ। प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से परि की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात परि + अध्ययन टा की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके यण् करने पर पर्यध्ययन निर्मित हुआ। सु, रूत्वविसर्ग करके पर्यध्ययनः सिद्ध हुआ।

(वा.) निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चया। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः – निष्कौशाम्बिः।

क्रान्त (निकला हुआ, पार किया हुआ) आदि अर्थों में वर्तमान निर् आदि निपातों का पञ्चम्यन्त सुबन्त के साथ नित्य से समास होता है और तत्पुरुष समास की स्थिति बनती है।

निष्कौशाम्बिः। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः लौकिक विग्रह तथा कौशाम्बी ङसि निर् अलौकिक विग्रह में निर् यह निपात क्रान्त अर्थ में विद्यमान है। यहां कौशाम्बी ङसि इस सुबन्त के साथ में निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या से समास हुआ। प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् से निर् की उपसर्जनसंज्ञा, उसका पूर्वनिपात करके निर् कौशाम्बी ङसि प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके निर् + कौशाम्बी बना। कौशाम्बी की एकविभक्ति चापूर्वनिपाते से उपसर्जनसंज्ञा हुई तथा गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य से उपसर्जन कौशाम्बी को ह्रस्व होकर निर् + कौशाम्बि निर्मित हुआ।

निर् के रेफ का खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग हुआ। निः कौशाम्बि बना। निः के विसर्ग के स्थान पर इदुदुपधस्य चाप्रत्ययः से षकार आदेश होकर निष्कौशाम्बि बना और सु, रूत्वविसर्ग करके निष्कौशाम्बिः सिद्ध हुआ।

953. तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् |3 |1 |92 | |

सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत्कुम्भादि तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात्।

सूत्रार्थ– कर्मण्यण् आदि सूत्रों में स्थित सप्तमी विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट शब्द के वाचक कुम्भ आदि पद की उपपदसंज्ञा होती है।

विशेष– कर्मण्यण् आदि सूत्रों में कर्मणि आदि सप्तम्यन्त पद आते हैं और कुम्भ आदि वाच्य रूप से रहता है। अर्थ में पद वाचक रूप में रहता है। उस अर्थ का वाचक पद कुम्भ आदि कुम्भं करोतीति कुम्भकारः इत्यादि उदाहरण में आते हैं। इससे उनकी उपपदसंज्ञा होती है।

उपपदसंख्या का प्रयोग कृदन्त, समास तथा तद्धित में होता है। उदाहरणार्थ– कुम्भं करोति में कर्मण्यण् इस सूत्र के कर्मणि इस सप्तम्यन्त के द्वारा निर्दिष्ट पद है कुम्भं (द्वितीयान्त) उसकी उपपदसंज्ञा हुई।

954. उपपदमतिङ् ।2 ।2 ।19 । ।

उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते। अतिङन्तश्चायं समासः। कुम्भम् करोति कुम्भकारः। अतिङ् किम्? मा भवान् भूत्। माङि लुङिति सप्तमीनिर्देशान् माङ् उपपदम्।

सूत्रार्थ– यह सूत्र कहता है कि उपपदसंज्ञक सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ नित्य से समास होता है; तिङन्त के साथ नहीं होता है।

सूत्र में पठित अतिङ् यह पद तिङन्त के साथ समास का निषेध करने के लिए पठित है।

कुम्भकारः। कुम्भं करोति इस विग्रह में कुम्भ की उपपदमतिङ् से उपपदसंज्ञा तथा कर्मण्यण् से अण् प्रत्यय हुआ और कुम्भ + अण् बना। अण् में णकार का अनुबन्धलोप, कृ धातु के ऋकार की वृद्धि तथा रपर होकर कार् हुआ।

कुम्भकार् + अ में कुम्भस्य कारः लौकिक विग्रह तथा कुम्भ ङस् + कार अलौकिक विग्रह में उपपदमतिङ् से समास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके कुम्भकार निर्मित हुआ और सु, रूत्वविसर्ग करके कुम्भकारः सिद्ध हुआ। इसी तरह सूत्रं करोतीति सूत्रकारः भी बनता है।

अतिङ् किम्? मा भवान् भूत्। माङि लुङ् इस सूत्र में माङि् यह सप्तमीनिर्देश है। इस सप्तम्यन्त पद के द्वारा निर्दिष्ट माङ् की तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् से उपपदसंज्ञा होने के कारण भवान् मा भूत् इस वाक्य में मा इस उपपद का भूत् इस तिङन्त पद के साथ समास प्राप्त होगा। यहां समास नहीं होगा अतः अतिङन्त समास अर्थात् तिङ् के साथ समास का निषेध करना आवश्यक है।

(प.) गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः। व्याघ्री। अश्वक्रीती। कच्छपीत्यादि।

गति, कारक और उपपद का कृदन्तों के साथ समास सुप् की उत्पत्ति के पूर्व हो जाता है।

सह सुपा से समस्यमान समर्थ सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ सामासिक प्रक्रिया का अवलोकन हमने किया। यहां गति, कारक और उपपद इन तीन का कृदन्त के साथ समास करते समय सह सुपा का नियम शिथिल होगा और असुबन्त (सुप् की उत्पत्ति के पूर्व ही) कृदन्त के साथ ही समास होगा, इसका प्रयोजन आगे स्पष्ट होगा।

टिप्पणी

गति समास का उदाहरण–

व्याघ्री। विशेषेण जिघ्रति लौकिक विग्रह है। यहां पर वि आ घ्रा में आ उपसर्ग पूर्वक घ्रा धातु है और इससे आतश्चोपसर्गे के द्वारा क प्रत्यय होकर आ + घ्र निर्मित हुआ। आ + घ्र में विभक्ति आने के पूर्व ही गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः के नियम से उपपदमतिङ् से समास बनता है। इस तरह आघ्र निर्मित हुआ और इसके बाद गतिसंज्ञक वि के साथ कुगतिप्रादयः से समास होकर वि + आघ्र बना। यण् होकर व्याघ्र बना। अब इससे स्त्रीलिंग का प्रत्यय आना है। व्याघ्र एक जाति है। अतः जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् से जातिलक्षण ङीष् करके व्याघ्री बनकर सु. हल्ङयादिलोप करके व्याघ्री बन जाता है।

इस तरह यहां पर उपपदसमास और गतिसमास दो समास किए गए और दोनों असुबन्त की स्थिति में ही हुए।

उक्त परिभाषा के अभाव में सह् सुपा से सुबन्त की उत्पत्ति के बाद कृदन्तों से समास होता और सुप् के आने के पहले घ्र इस कृदन्त से स्त्रीप्रत्यय करना पड़ता। घ्र यह जातिवाचक नहीं होने के कारण अजाद्यतष्टाप् से टाप् होकर व्याघ्रा ऐसा अनिष्ट रूप बनता।

अतः गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः के नियम से सुप् आने के पूर्व ही समास हो जाता है। समास हो जाने पर व्याघ्र यह जातिवाचक शब्द बना। तदनन्तर जातेस्त्री... से जातिलक्षण ङीष् तथा सुप् होकर व्याघ्री रूप बना।

अश्वक्रीती कारक का उदाहरण है। अश्वेन क्रीता यह लौकिक विग्रह है। क्री धातु से क्त प्रत्यय होकर क्रीत बनता है। गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः से क्रीत शब्द से सुप् की उत्पत्ति के पहले समास होता है। अतः अश्व टा + क्रीत इस अवस्था में कर्तृकरणे कृता बहुलम् से समास हो गया। प्रातिपदिकसंज्ञा, तृतीया का लुक् आदि करके अश्वक्रीत बन गया। उससे स्त्रीत्व की विवक्षा में क्रीतात् करणपूर्वात् से ङीष् होकर अश्वक्रीती बना।

सुप् की उत्पत्ति के पूर्व समास नहीं किए जाने पर यहां समास–पूर्व क्रीत कृदन्त शब्द से सुप् लाने के लिए उससे पूर्व स्त्रीप्रत्यय का टाप् लाना होता, क्योंकि लिंबोधक प्रत्यय के आने के बाद ही संख्या, कारक आदि के बोधक सु आदि प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार स्त्रीत्व की विवक्षा में क्रीत शब्द से आजद्यतष्टाप् से टाप् हो जाता। फलतः अश्वक्रीता ऐसा अनिष्ट प्रयोग सिद्ध होता।

कच्छपी उपपद समास का उदाहरण है। कच्छेन पिबति लौकिक विग्रह तथा कच्छ टा + पा (पा पाने धातु) इस अलौकिक विग्रह में कच्छ टा + पा इस स्थिति में पा धातु से सुपि स्थः से क प्रत्यय होकर प बना है। प यह कृदन्त है। गतिकारकोपपदानां कृद्भिः समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः से प इस कृदन्त के साथ सुप् के आने के पूर्व ही उपपदमतिङ् से समास होकर अश्वक्रीति की तरह कच्छपी रूप बना है।

955. तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ।5 ।4 ।86 ।।

संख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य समासान्तोऽच् स्यात्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्वयङ्गुलम्। निर्गतमङ्गुल्यो निरङ्गुलम्।

सूत्रार्थ– यह सूत्र विधान करता है कि– संख्यावाचक अथवा अव्यय शब्द जिसके आदि में हैं तथा अंगुलि शब्द जिसके अन्त में हो, ऐसे तत्पुरुष से समासान्त अच् प्रत्यय हो।

टिप्पणी

द्वयङ्गुलम्। द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अस्य यहां तद्धितार्थ प्रमाण में प्रमाणे द्वयसज्दघ्रञ्मात्रचः से मात्रच् प्रत्यय करने से पहले ही ही द्वि और अङ्गुलि औ इस अलौकिक विग्रह में तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च से समास हो जाता है। प्रथमानिर्दिष्ट संख्यावाचक शब्द द्वि औ की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके द्वि + अङ्गुलि बना। यण् होकर द्वयङ्गुलि बना।

तत्पुरुषस्याऽङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः से समासान्त अच् प्रत्यय हुआ। द्वयङ्गुलि + अ हुआ। अङ्गुलि के इकार का यस्येति च से लोप तथा वर्णसम्मिलन करने पर द्वयङ्गुल बना। सु विभक्ति, सु को अम् आदेश होकर द्वयङ्गुलम् सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार से तिस्रः अङ्गुलयः प्रमाणमस्य आदि विग्रह करने पर त्र्यङ्गुलम् आदि शब्द बनेंगे।

निरङ्गुलम्। निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः यहां निरादयः क्रान्ताद्यर्थे सूत्र के द्वारा निर्गत अर्थ में निर् अव्यय का प्रादि समास हुआ है, और शेष प्रक्रिया द्वयङ्गुलम् की तरह होकर निरङ्गुलम् बना।

956. अहः–सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः।5।4।87।।

एभ्यो रात्रेश्च् स्याच्चात्संख्याव्ययादेः। अहर्ग्रहणं द्वान्द्वार्थम्।

यह सूत्र कहता है– अहन्, सर्व, एकदेशवाचक, संख्यात और पुण्य शब्दों से तथा संख्यावाचक एवं अव्यय शब्दों से परे रात्रि शब्द से तत्पुरुष में समासान्त अच् प्रत्यय हो।

अहन् शब्द का ग्रहण द्वन्द्व समास के लिए है।

957. रात्राह्नाहाः पुंसि।2।4।29।।

एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव। अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः। सर्वरात्रः। संख्यातरात्रः।

सूत्रार्थ– रात्र, अह्न और अहन् अन्त वाले शब्द द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में पुंल्लिंग हो जाते हैं।

पूर्वोवाक्– परवल्लिङ्गं द्वन्द्व–तत्पुरुषयोः सूत्र में द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में पर शब्द (पद) के अनुसार समस्त पद का लिंग होने का विधान किया जा रहा है। तत्पुरुष में उत्तरपद के अनुसार ही लिंगविधान होने पर और स नपुंसकम् से नपुंसकलिंग की प्राप्ति होने पर अपवाद स्वरूप यह सूत्र पठित है।

अहोरात्रः। अहश्च च रात्रिश्च, तयोः समाहारः लौकिक विग्रह है और अहन् सु + रात्रि सु अलौकिक विग्रह। यहां चार्थे द्वन्द्वः से द्वन्द्वसमास तथा जातिप्राणिनाम् के द्वारा एकवद्भाव हुआ। तत्पुरुष के प्रसंग में अहोरात्रः यह द्वन्द्वसमास का प्रयोग पुंल्लिंग के विधान हेतु प्रस्तुत किया गया है।

प्रक्रिया इस प्रकार है– समास होने के बाद प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके अहन् + रात्रि बना। रूपरात्रिरथन्तरेषु रूत्वं वाच्यम् से अहन् के नकार को रूत्व हुआ तथा रूत्व वाले रेफ के स्थान पर हशि च से उत्व होकर अह + उ + रात्रि बना। अह

टिप्पणी

+ उ में गुण होकर अहोरात्रि बना। अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः से समासान्त अच् प्रत्यय तथा यस्येति च से रात्रि के इकार के लोप हुआ और अहोरात्र् + अ हुआ। वर्णसम्मिलन करने पर अहोरात्र बना। यहां पर परवल्लिङ्गं द्वन्द्व–तत्पुरुषयोः से उत्तरपद का ही लिंग विधान तथा स नपुंसकम् से नपुंसकलिंग की प्राप्ति हो रही थी। उसे बाधकर रात्राह्नाहाः पुंसि से पुंल्लिंग हुआ। पुंल्लिंग अहोरात्र से सु, रूत्व, विसर्ग करने पर अहोरात्रः सिद्ध हुआ।

सर्व–रात्रः। सर्वाः रात्रयः में चार्थे द्वन्द्वः से द्वन्द्वसमास होकर पूर्वकालैक–सर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन सर्वा पद का पुंवद्भाव हुआ है। शेष प्रक्रिया अहोरात्रः के समान ही संपन्न होगी।

संख्यातरात्रः। संख्याताः रात्रयः संख्यातरात्रः। पूर्वः रात्रेः पूर्वरात्रः।

(वा.) संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्। द्विरात्रम्। त्रिरात्रम्।

संख्यावाचक शब्द से परे रात्र शब्द नपुंसकलिंग होता है।

रात्राऽह्नाऽः पुंसि सूत्र पुंल्लिंग करता है, परन्तु रात्र शब्द के पूर्व में यदि संख्यावाची शब्द हो तो पुंल्लिंग न होकर नपुंसकलिंग होता है।

द्विरात्रम्। द्वयोः रात्रयोः समाहारः लौकिक विग्रह एवं द्वि ओस् + रात्रि ओस् अलौकिक विग्रह में तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च से समाहार वाच्य में समास होकर विभक्ति का लुक्, समासान्त अच् प्रत्यय, भसंज्ञक इकार का लोप, वर्णसम्मिलन करके द्विरात्र बना है। रात्राऽह्नाऽहाः पुंसि से पुंल्लिंग प्राप्त था किन्तु इस वार्तिक के द्वारा नपुंसक हुआ।

अतः सु के बाद अम् आदेश, पूर्वरूप होकर द्विरात्रम् बना। इसी तरह तिसृणां रात्रीणां समाहारः लौकिक विग्रह और त्रि आम् + रात्रि आम् अलौकिक विग्रह में उक्त प्रक्रिया करके त्रिरात्रम् निर्मित होता है।

958. राजाहः सखिभ्यष्टच् ।5 ।4 ।91 ।।

एतदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात्। परमराजः।

सूत्रार्थ– राजन्, अहन् और सखि शब्द जिसके अन्त में हो, ऐसे शब्दों से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। टच् में टकार और चकार इत्संज्ञक हैं, अकार शेष रहता है।

परमराजः। यह परमश्चासौ राजा च लौकिक विग्रह और परम सु राजन् सु अलौकिक विग्रह में विशेषणं विशेष्येण बहुलम् से समास निर्मित हुआ। अनन्तर प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक्, प्रथमानिर्दिष्ट परम की उपसर्जनसंज्ञा और उसका पूर्वप्रयोग होकर परमराजन् बना। यह राजन् अन्त वाला समास है, इसलिए राजाहः सखिभ्यष्टच् से टच् होकर परमराजन् + टच् हुआ। टच् में टकार और चकार का अनुबन्धलोप होकर परमराजन् + अ बना। परमराजन् में अन् की अचोऽन्त्यादि टि से टिसंज्ञा तथा नस्तद्धिते से टिसंज्ञक अन् का लोप हुआ है, अतएव परमराज् + अ बना तथा वर्णसम्मिलन करने पर परमराज बना। परमराज से सु विभक्ति, रूत्वविसर्ग करके परमराजः सिद्ध हुआ।

959. आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ।6 ।3 ।46 ।।

महत आकारोऽन्तादेशः स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे। महराजः। प्रकारवचने जातीयर्। महाप्रकारो महाजातीयः।

टिप्पणी

सूत्रार्थ– समानाधिकार (समानविभक्ति वाला) पद उत्तर में हो या जातीयर् प्रत्यय परे हो तो महत् शब्द को आकार अन्तादेश होता है।

महाराजः। महान् चासौ राजा च लौकिक विग्रह और महत् सु राजन् सु अलौकिक विग्रह में समानाधिकरण समास सृजित हुआ है। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक्, प्रथमानिर्दिष्ट महत् की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वप्रयोग होकर महत् राजन् बना और आन्महतः समानाधिकरण– जातीययोः से महत् के अन्त्य अवयव तू को आकार अन्तादेश हुआ। मह + आ + राजन् हुआ। मह + आ में सवर्ण दीर्घ होकर महा + राजन् हुआ। महाराजन् में राजाहः सखिभ्यष्टच् से टच्, टकार एवं चकार का अनुबन्धलोप, महाराजन् + अ बना। अचोऽन्त्यादि टि से टिसंज्ञा, नस्तद्धिते से टि लोप होकर महाराज् + अ बना और वर्णसम्मिलन हुआ– महाराज बना। सु विभक्ति, रूत्वविसर्ग करके महाराजः सिद्ध हुआ।

960. द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ।6 ।3 ।47 ।।

आत्स्यात्। द्वौ च दश च द्वादश। अष्टाविंशतिः।

सूत्रार्थ– संख्यावाचक द्वि और अष्टन् शब्दों को आकार अन्तादेश हो, किन्तु बहुव्रीहि समास और अशीति शब्द परे होने पर यह कार्य नहीं होता।

द्वन्द्व समास के उदाहरणों को तद्धित प्रकरण में विवेचित जा रहा है, जिससे आत्व विधि को समझा जा सके।

द्वादश। द्वौ च दश च लौकिक विग्रह तथा द्वि और दशन् जस् अलौकिक विग्रह है। यहां चार्थे द्वन्द्वः से द्वन्द्वसमास हुआ। समास होने के बाद प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् होकर अल्प अच् वाले द्वि का पूर्वप्रयोग हुआ। द्वि + दशन् हुआ।

यहां द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः से द्वि के इकार के स्थान पर आकार आदेश हुआ, द्वा + दशन् बना। द्वादशन् बहुवचनान्त ही होता है। अतः जस् विभक्ति आई। ष्णान्ता षट् से द्वादशन् की षट्संज्ञा, षट्भ्यो लुक् से जस् का लुक् हुआ। द्वाद्वदशन् बना।

न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य से नकार का लोप होने पर द्वादश सिद्ध हुआ। इसी प्रकार गणना में जहां भी द्वि तथा अष्टन् शब्द आएगा उसे आकार अन्तादेश हो जाता है। यथा– द्वाविंशतिः, द्वाविंशत् आदि।

अष्टाविंशतिः। अष्ट च विंशतिश्च लौकिक विग्रह और अष्ट औ विंशति सु अलौकिक विग्रह है। चार्थे द्वन्द्वः से द्वन्द्वसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का आदि करके अष्टन् के नकार के स्थान पर आकार निर्दिष्ट हुआ है। अष्ट + आ में सवर्णदीर्घ करने पर अष्टाविंशति बना। यह एकवचनान्त होता है, अतः सु विभक्ति आई। सु के स्थान पर रूत्वविसर्ग होने पर अष्टाविंशतिः सिद्ध हुआ।

961. त्रेस्त्रयः ।6 ।3 ।47 ।।

त्रयोदश। त्रयोविंशतिः। त्रयस्त्रिंशत्।

सूत्रार्थ– इस सूत्र के अनुसार संख्यावाचक त्रि शब्द के स्थान पर त्रयस् आदेश होता है। बहुव्रीहि समास में एवं अशीति के परे रहते ऐसा नहीं होता। यह कार्य संख्यावाचक

टिप्पणी

शब्द के उत्तरपद में रहने पर ही होता है। त्रेस्त्रयः सूत्र अजन्त पुंल्लिंग में भी पठित है, जो त्रि को त्रयादेश करता है।

त्रयोदश। यहां पर त्रयश्च दश च लौकिक विग्रह और त्रि जस् दशन् जस् अलौकिक विग्रह है और चार्थे द्वन्द्वः से द्वन्द्वसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् होकर अल्प अच् वाले त्रि का पूर्वप्रयोग हुआ है। दशन् इस संख्यावाचक शब्द के उत्तरपद में रहते हुए अच् वाले त्रि का पूर्वप्रयोग हुआ। दशन् इस संख्यावाचक शब्द के उत्तरपद में रहते हुए त्रेस्त्रयः से त्रि के स्थान पर त्रयस् आदेश हुआ। त्रयस् + दश बना। त्रयस् के सकार को रूत्व, उत्व, गुण होकर त्रयोदशन् बना और जस् विभक्ति, लुक् आदि कार्य द्वादश की तरह होकर त्रयोदश सिद्ध हुआ।

त्रयोविंशति। त्रयश्च विंशतिश्च लौकिक विग्रह और त्रि जस् विंशति सु अलौकिक विग्रह है। पूर्वोक्त प्रक्रिया से समास करके त्रेस्त्रयः से त्रयस् आदेश करने पर त्रयोविंशति की निष्पत्ति होती है। विंशत्याद्याः सदैकत्वे अर्थात् विंशति आदि शब्द एकवचन में ही प्रयुक्त होते हैं। इस नियम के अनुसार सु विभक्ति में त्रयोविंशतिः शब्द बन जाता है।

त्रयस्त्रिंशत्। त्रयश्च त्रिंशत् च लौकिक विग्रह और त्रि जस् त्रिंशत् सु अलौकिक विग्रह है।

पूर्वोक्त प्रक्रिया से समास करके त्रेस्त्रयः से त्रयस् आदेश करने पर त्रयस् + त्रिशंत् बना। सकार को रूत्व, विसर्ग, पुनः विसर्जनीयस्य सः से विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होकर त्रयस्त्रिंशत् निर्मित हुआ। इस प्रकार सु विभक्ति, हल्ङ्यादिलोप, त्रयस्त्रिंशत् सिद्ध हुआ।

962. परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः ।2 ।4 ।26 ।।

एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात्। कुक्कुटमयूर्याविमे। मयूरीकुक्कुटाविमौ।

सूत्रार्थ– द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में पर शब्द (पद) के समान ही लिंग हो।

द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में सबसे अन्तिम पद (उत्तरपद) का जो लिंग हो, समास हो जाने के बाद उस समस्त शब्दसमुदाय का वही लिङ्ग हो।

अर्धपिप्पली। अर्धं पिप्पल्याः में अर्धं नपुंसकम् से तत्पुरुष समास की सृष्टि हुई है। यहां प्रातिपदिकसंज्ञा, सु का लुक् हआ है। इसमें पूर्व पद अर्ध नपुंसकलिंग का है तथा उत्तर पद पिप्पली स्त्रीलिंग का है।

इस स्थिति में समस्त पद किस लिंग का हो? नपुंसकलिंग हो या स्त्रीलिंग? ऐसी स्थिति में परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः से समस्त पद पर (उत्तरपद) पद पिप्पली के समान स्त्रीलिंग हुआ अर्धपिप्पली।

कुक्कुटमयूर्यौ इमे। कुक्कुटश्च मयूरी च लौकिक विग्रह और कुक्कुट् सु + मयूरी सु अलौकिक विग्रह में चार्थे द्वन्द्वः से द्वन्द्व समास हुआ। प्रातिपदिकसंज्ञा, सु का लुक् हुआ। यहां कुक्कुट यह पूर्व पद पुंल्लिंग में है तथा उत्तर पद मयूरी स्त्रीलिंग में।

ऐसी स्थिति में समस्त पद का लिंग कौन हो? ऐसी स्थिति में परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः से पर में स्थित पद के लिंग के समान लिंग होगा। यहां मयूरी स्त्रीलिंग में है, अतः यह पद स्त्रीलिंग का हुआ।

टिप्पणी

यदि इन्हीं शब्दों को विपरीत करके मयूरी च कुक्टुटश्च करके विग्रह करने पर पुंल्लिंग कुक्कुट शब्द पर में होने से कुक्कुट शब्द की तरह समास में भी पुंल्लिंग होगा– मयूरीकुक्कुटौ इमौ।

(वा.) द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडाशः।

सूत्रार्थ– द्विगुसमास एवं प्राप्त, आपन्न और अलम् पूर्वक तत्पुरुष समास एवं गतिसमास में परवर्ती पद के समान लिंग का निषेध करना चाहिए।

पंञ्चकपालः पुरोडाशः। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः लौकिक विग्रह और पञ्चन सुप् कपाल सुप् अलौकिक विग्रह है। इस विग्रह में संस्कृतं भक्षः से तद्धितप्रत्यय की विवक्षा में तद्धितार्थोत्तर... च तद्धितार्थ में द्विगु समास निर्मित हुआ है। उपजर्सनसंज्ञा, पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक्, अन्तर्वर्तिनी विभक्ति मानकर नकार का न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य से लोप करने के बाद पञ्च + कपाल बना। इस स्थिति में संस्कृतं भक्षाः सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ। पञ्चकपाल + अण् हुआ। अण् का द्विगोर्लुगनपत्ये से लुक हुआ। पञ्चकपाल बना।

यहां कपाल शब्द नपुंसकलिङ्ग में है। इसलिए परवल्लिंगं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः से पर पद कपाल के अनुसार समस्त पद नपुंसकलिङ्ग का प्राप्त था, जिसका द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः से निषेध हुआ है। यहां विशेष्य पद पुरोडाशः के अनुसार पञ्चकपाल शब्द पुंल्लिंग हुआ और सु, रूत्वविसर्ग होकर के पञ्चकपालः सिद्ध हुआ।

963. प्राप्तापन्ने च द्वितीयया ।2 ।2 ।4 ।।

सम्स्येते। अकारश्चानयोरन्तादेशः। प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः। आपन्नजीविकः। अलं कुमार्यै – अलंकुमारिः। अत एव ज्ञापकात्समासः। निष्कौशाम्बिः।

सूत्रार्थ– इस सूत्र के अनुसार प्राप्त तथा आपन्न सुबन्तों का द्वितीयान्त सुबन्त के साथ तत्पुरुष समास होता है। विकल्प से तथा समास के अन्त्य वर्ण के स्थान पर अ आदेश भी होना चाहिए।

प्राप्तजीविकः। प्राप्तः जीविकाम् लौकिक विग्रह और प्राप्त सु जीविका अम् अलौकिक विग्रह है। प्राप्तापन्ने च द्वितीयया से समास, प्राप्तापन्ने च द्वितीयया में प्रथमान्त पद प्राप्तापन्ने है। इसलिए यहां प्राप्त सु की उपसर्जनसंज्ञा तथा पूर्वप्रयोग हुआ है। नियतविभक्ति होने के कारण एकविभक्ति चापूर्वनिपाते से जीविका अम् की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात का अभाव, प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्ति का लुक् करके प्राप्तजीविका बना है।

प्राप्तापन्ने सूत्र से समासान्त आ वर्ण के स्थान पर अ आदेश होकर प्राप्तजीविक और परविल्लङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः से जीविका शब्द में स्त्रीलिंग होने के कारण प्राप्तजीविका ऐसा स्त्रीलिंग रूप होना था, जिसे द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः से निषेध हुआ। यहां विशेष्य पद के अनुसार पुंल्लिंग रूप हुआ और एकदेशविकृतन्याय से सु, रूत्वविसर्ग आदि करके प्राप्तजीविकः सिद्ध हुआ।

टिप्पणी

आपन्नजीविकः। आपन्नो जीविकाम् लौकिक विग्रह तथा आपन्न सु जीविका अम् अलौकिक विग्रह है। यहां प्राप्तापन्ने च द्वितीयया से सामासिक क्रिया हुई है। शेष प्रक्रिया प्राप्तजीविकः की तरह प्रक्रिया करके आपन्नजीविकः सिद्ध हुआ है।

अलङ्कुमारिः। अलम् कुमार्यै लौकिक विग्रह और अलम् कुमारी ङे अलौकिक विग्रह है। यहां पर प्राप्तापन्ने च द्वितीयया से तत्पुरुष समास हुआ। उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः से प्राप्त पर पद स्त्रीलिंग का द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः से निषेध हुआ है। अलम् + कुमारी बना। गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य से कुमारी ह्रस्व और अलम् के मकार को अनुस्वार और पर परसवर्ण हुआ। इस प्रकार अलङ्कुमारि बना। यहां पुरुषः इस विशेष्य पद के अनुसार इसका लिंग पुंल्लिंग हुआ है। सु, रूत्वविसर्ग होकर अलङ्कुमारिः। पञ्चकपालः, प्राप्तजीविकः आपन्नजीविकः, अलङ्कुमारिः उदाहरण द्विगुप्राप्तापन्न... प्रतिषेधो वाच्यः वार्तिक के हैं।

विशेष– द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः वार्तिक में अलं के साथ परवल्लिङ्गता का निषेध किया गया है। जो तत्पुरुष समास होने का सूचक है। यहां प्राप्त का ही निषेध होता है। यदि अलं के साथ समास प्राप्त ही नहीं था तो परवल्लिङ्गता का निषेध क्यों किया गया? वार्तिककार के निषेध से यह सिद्ध होता है कि अलम् के साथ तत्पुरुष समास होता है। अलम् कुमारी ङे में ज्ञापकात् तत्पुरुष समास निर्मित हुआ है।

यह द्वितीयाऽऽश्रिताऽतीत–पतित–गताऽत्यस्त–प्राप्ताऽऽपन्नैः का अपवाद है। यदि यहां द्वितीयाऽऽश्रिताऽतीत सूत्र से समास होता तो द्वितीया पद से निर्दिष्ट प्रथमान्त का पूर्व प्रयोग होता। अर्थात् प्राप्तः जीविकाम् आदि में जीविका इस द्वितीयान्त का पूर्व प्रयोग होता। प्राप्तापन्ने च द्वितीयया में प्राप्तापन्ने (प्राप्त और आपन्न) प्रथमानिर्दिष्ट हैं। फलतः यहां इनका पूर्वप्रयोग सम्भव हो पाया है।

निष्कौशाम्बिः। गतिसमास में परवल्लिङ्गं के निषेध का उदाहरण– परवल्लिङ्ता होती तो समास के बाद इस शब्द को स्त्रीलिंग ही होना चाहिए था किन्तु इस वार्तिक के कारण अपने विशेष्य पद के अनुसार ही इसका लिंग हुआ।

964. अर्धर्चाः पुंसि च ।2 ।4 ।31 ।।

अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः। अर्धर्चः। अर्धर्चम्। एवं ध्वजतीर्थशरीरमण्डपयू–पदेहाङ्कुशपात्रसूत्रादयः।

सूत्रार्थ– अर्धर्च आदि गण पठित शब्द पुंल्लिंग और नपुंसकलिङ्ग दोनों में हो।

अर्धर्चः, अर्धर्चम्। ॠचः अर्धम् में समास तथा समासान्त अच् प्रत्यय करने पर अर्धर्च शब्द निर्मित हुआ है। प्रकृत सूत्र से अर्धर्च आदि गण पठित शब्दों को दोनों लिंगों में विधान होने से पुंल्लिंग में अर्धर्चः और नपुंसकलिंग में अर्धर्चम् रूप बनेंगे। इसी प्रकार ध्वजः ध्वजम्, तीर्थः तीर्थम् आदि में भी समास हो या न हो, उभयलिंग (दोनों लिंग) होते हैं।

सामान्ये नपुंसकम्। मृदु पचति। प्रातः कमनीयम्।

अर्थात् जहां किसी लिंग विशेष का विधान अथवा अपेक्षा न हो; समास हुआ हो अथवा नहीं, सामान्यतया नपुंसकलिंग होता है।

मृदु पचति में जिस पदार्थ का पाचन हो रहा है, उसका स्पष्टतया लिंग निर्देशित नहीं है। इसलिए सामान्य मानकर इस वार्तिक से नपुंसकलिंग का विधान हुआ है। इस प्रकार मृदु शब्द नपुंसकलिंग बन गया– मृदु पचति।

टिप्पणी

प्रातः कमनीयम्। प्रातः अव्यय और कमनीय अनीयर् प्रत्ययान्त शब्द है। यहां भी सामान्य विवक्षा में कमनीयम् में नपुंसक लिंग हुआ।

इति तत्पुरुष समासः।

5.3.4 अथ बहुव्रीहि समासः

964. शेषो बहुव्रीहिः ।2 ।2 ।23 ।।

अधिकारोऽयं प्राग्द्वन्द्वात्।

सूत्रार्थ– बहुव्रीहि समास का अधिकार द्वन्द्व समास के पूर्व तक है। इस अधिकार सूत्र का अधिकार तेन सहेति तुल्ययोगे तक रहता है। अन्य शब्दों में कहें तो– शेषो बहुव्रीहिः से लेकर तेन सहेति तुल्ययोगे तक के सूत्रों द्वारा किया जाने वाला समास बहुव्रीहि संज्ञक होता है। उक्तादन्यः शेषः का आशय यह है कि जो शेष बचे, उसे शेष कहते हैं। जो अव्ययीभाव, तत्पुरुष से बचा हुआ है किंतु द्वन्द्व नहीं है, वह बहुव्रीहि है।

965. अनेकमन्यपदार्थे ।2 ।2 ।24 ।।

अनेकं प्रथमान्तमन्यस्य पदस्यार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः।

सूत्रार्थ– बहुव्रीहि को अन्यपद के अर्थ में परिभाषित करने वाले इस सूत्र के अनुसार विद्यमान समस्त पदों से भिन्न एक से अधिक प्रथमांत पद परस्पर में विकल्प से समास को प्राप्त हों और उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं अर्थात् समास में आए पद यदि अपने से अतिरिक्त किसी अन्य पद का बोध कराते हों तो वह बहुव्रीहि समास की स्थिति होती है। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक्, सु आदि विभक्ति की उत्पत्ति आदि पूर्ववत् होंगे।

966. सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ ।2 ।2 ।35 ।।

बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त शब्द तथा विशेषण शब्द का पूर्व में प्रयोग होता है। सूत्र है– सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। अत एव ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः।

सूत्रार्थ– समस्यमान शब्दों में जो शब्द विशेषण बना हुआ है उसका और जो शब्द सप्तमी विभक्ति से युक्त है, उसका पूर्व में प्रयोग आवश्यक है। इस सूत्र में सप्तम्यन्त का पूर्वप्रयोग होने से यह ज्ञात होता है कि कभी–कभी बहुव्रीहि समास में समानाधिकरण अर्थात् समान विभक्ति के अतिरिक्त, भिन्न–भिन्न विभक्ति वाले पदों का भी समास होता है।

दो पदों में प्रथमान्त निर्दिष्ट पद की उपसर्जन संज्ञा तथा उपसर्जनं पूर्वम् से उपसर्जन संज्ञक का पूर्व प्रयोग होने के इस विधान के अनुसार अनेकमन्यपदार्थे सूत्र में अनेकम् पद प्रथमान्त है। उपसर्जन संज्ञक होने से उपसर्जनं पूर्वम् से उसका पूर्वप्रयोग प्राप्त होता है, किंतु 'अनेकम्' पद से समास के सभी पदों का बोध होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि किस पद को पहले रखा जाए। सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ सूत्र से सप्तम्यन्त और विशेषणवाचक पद को पहले प्रयोग का विधान

टिप्पणी

इस समस्या के समाधान हेतु किया गया है। बतौर उदाहरण– 'पीतम् अम्बरम्' – इस विग्रह में 'पीतम्' और 'अम्बरम्' दोनों ही प्रथमान्त हैं। अतः उपसर्जन–संज्ञक होने से उपसर्जनं पूर्वम् से दोनों का ही पूर्वप्रयोग प्राप्त होता है। प्रकृत सूत्र से उसका बाध होकर विशेषण–वाचक पद 'प्राप्तम्' का पहले प्रयोग होता है। इसी प्रकार 'कण्ठे कालो यस्य' इस विग्रह में सप्तम्यन्त पद 'कण्ठे' का पहले प्रयोग होगा।

967. हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ।6 ।3 ।9 । ।

हलन्ताददन्ताच्च सप्तम्या अलुक्। कण्ठेकालः। प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढरथोऽनड्वान्। उपहृतपशू रुद्रः। उद्धृतौदना स्थाली। पीताम्बरो हरिः। वीरपुरुषको ग्रामः।

सूत्रार्थ– इस सूत्र के अनुसार, हलन्त और ह्रस्व अकारान्त शब्दों से परे संज्ञा अर्थ में उत्तरपद के परे रहते सप्तमी विभक्ति का लुक् नहीं होता है।

यह ज्ञापन होता है कि बहुव्रीहि समास में समस्यमान दोनों शब्द प्रायः प्रथमान्त ही होते हैं, किंतु उपरोक्त दो सूत्रों में बहुव्रीहि के साथ सप्तमी शब्द का उच्चारण करके सप्तमी के अलुक् के विधान से दोनों पदों में भिन्न–भिन्न विभक्ति होने पर भी कहीं–कहीं समाप्त हो जाता है, यह ज्ञापन होता है। अतः कण्ठेकालः में कण्ठे कालः यस्य विग्रह में पूर्व पद कण्ठ ही सप्तम्यन्त है। उत्तरपद काल सु प्रथमान्त है।

यह समानाधिकरण की नहीं व्यधिकरण की स्थिति हुई। अतः व्यधिकरण में भी उक्त ज्ञापक के द्वारा समास इस स्थिति में होता है।

कण्ठेकालः। कण्ठे कालः यस्य लौकिक विग्रह और कण्ठ ङि + काल सु अलौकिक विग्रह है। इस भिन्न विभक्ति अर्थात् व्यधिकरण में उक्त ज्ञापक के द्वारा समास हुआ। यहां सप्तम्यन्त पद कण्ठ ङि का सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ से पूर्व प्रयोग हुआ है। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् प्राप्त था किन्तु हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् से सप्तमी विभक्ति ङि के लोप का निषेद हुआ। इस स्थिति में उत्तर पद में विद्यमान सु के लुक् में कोई बाधा भी नहीं हुई और कण्ठेकाल बना। इस प्रकार स्वादिकार्य करके कण्ठेकालः सिद्ध हो गया।

प्राप्तोदकः। अन्य पदार्थ के अर्थ का उदाहरण–

प्राप्तम् उदक यं (ग्रामम्) लौकिक विग्रह और प्राप्त सु + उदक सु, इस अलौकिक विग्रह में अनेकमन्यपदार्थे से समास हुआ। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से दोनों सु का लोप होकर प्राप्त + उदक बना। प्राप्त + उदक में गुण करने पर प्राप्तोदक बना। इसका अन्य पदार्थ– ग्राम होने के कारण ग्राम के लिंग के समान पुंल्लिंग बनता है। एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति, रूत्वविसर्ग करके प्राप्तोदकः सिद्ध हो जाता है।

पीताम्बरः। अन्य पदार्थ (विष्णु) के अर्थ का उदाहरण–

पीतम् अम्बरम् (अस्ति) यस्य (विष्णोः) लौकिक विग्रह और पीत सु + अम्बर सु अलौकिक विग्रह में अनेकमन्यपदार्थे से समास हुआ। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातुप्रातिपदिकियोः से सु का लोप करने पर पीत + अम्बर बना। अन्य पदार्थ विष्णु के लिंग के समान पुंल्लिंग रूप होगा। प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति, रूत्व, विसर्ग करके

पीताम्बरः विष्णुः सिद्ध हो जाता है। इसका विग्रह बहुवचन में भी किया जाता है– पीतानि अम्बराणि यस्य। पीत जस् + अम्बर जस् – पीताम्बरः।

तृतीयार्थ, चतुर्थ्यर्थ आदि का उदाहरण क्रमशः

तृतीयार्थ – ऊढो रथो येन। ऊढरथः अनड्वान्।

चतुर्थ्यर्थ – उपहृतः पशुः यस्मै – उपहृतपशुः।

पञ्चम्यर्थ – उद्धृतः ओदनो यस्याः – उद्धृतौदना स्थाली।

षष्ठयर्थ – पीतानि अम्बराणि यस्य – पीताम्बरः।

सप्तम्यर्थ – वीराः पुरुषाः सन्ति यस्मिन् ग्रामे – वीरपुरुषकः ग्रामः।

वीरपुरुषकः में अन्य पदार्थ ग्राम के अर्थ में वीराः पुरुषाः सन्ति यस्मिन् (ग्रामे) लौकिक विग्रह और वीर जस् + पुरुष जस् अलौकिक विग्रह में अनेकमन्यपदार्थे से समास हुआ।

यहां पर पीताम्बरो, पुरुष को उदाहरण में दिया गया है। यहां पर बाद के शब्द के अनुसार सु, रूत्व, उत्व, गुण करके पीताम्बरो आदि लिखा है।

(वा.) प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः। प्रपतितपर्णः, प्रपर्णः।

प्र आदियों से परे धातुज अथवा कृदन्त का समर्थ सुबन्त के साथ अन्य पदार्थ के साथ समास होता है। विकल्प से उत्तरपद का लोप भी होता है।

प्रपर्णः। प्रपतितानि पर्णानि यस्मात् सः प्रपर्णः। प्रकर्षेण पतितः विगह में प्र का पतित के सथ कुगतिप्रादयः से समास होकर प्रपतितः बना है। प्रपतित में प्र पूर्व पद और पतित उत्तर पद है। सामासिक क्रिया के उपरांत प्रपतित एक पद हुआ। अब प्रपतितानि प्रर्णानि यस्मात् इस लौकिक विग्रह और प्रपतित जस् पर्ण जस् अलौकिक विग्रह किया गया। अनेकमन्यपदार्थे से समास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके प्रपतित पर्ण बना।

यहां पूर्वपद प्र है तथा उत्तर पद पतित है। प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः से पूर्वपद प्र के उत्तर पद का लोप विकल्प से हुआ है। प्र + पर्ण, प्रपर्ण बना। स्वादिकार्य से प्रपर्णः सिद्ध हुआ।

उक्त वार्तिक से लोप के अभाव पक्ष में प्रपतितपर्णः बनेगा। विगतो धवो यस्याः सा विधवा, निर्गता जना यस्मात् स निर्जनो प्रदेशः, निर्गता गुणा यस्मात् स निर्गुणः, निर्गतं फलं यस्मात् तत् निष्फलं कर्म, निर्गतोऽर्थों यस्मात् तत् निरर्थकम् आदि अनेक शब्द इसी तरह बनाये जा सकते हैं।

विशेष– समास में पूर्व पद और उत्तर पद रहता है। इस वार्तिक के लिए पूर्व पद भी ऐसा होना चाहिए, जिसका दूसरे पद के साथ में समास हो चुका हो अर्थात् प्र आदि के साथ कुगतिप्रादयः से प्रादि समास हो चुका हो और उसके बाद बहुव्रीहि समास में एक अन्य पद के साथ अन्वित हो रहा हो।

(वा.) नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः) अविद्यमानपुत्रः, अपुत्रः।

इस सूत्र के अनुसार नञ् से परे विद्यमान अर्थ का वाचक जो पद तदन्त का समर्थ सुबन्त के साथ अन्य पदार्थ में समास तथा उत्तर पद का लोप विकल्प से होता है।

अर्थात् यह भी समास किये हुए पूर्व पद में विद्यमान उत्तर पद का ही विकल्प से लोप करता है किंतु तब, जब वह उत्तर पद अस्ति के अर्थ विद्यमानता आदि अर्थ वाला हो तथा वह शब्द नञ् के साथ समास को प्राप्त हो चुका हो।

टिप्पणी

अविद्यमानः पुत्रः अपुत्रः। यहां न विद्यमानः में नञ् तत्पुरुष समास होकर अविद्यमान बना और अविद्यमान सु पुत्र सु में अनेकमन्यपदार्थे से समास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके अविद्यमान पुत्र निर्मित हुआ। यहां पूर्व पद है– नञ् का अ तथा उत्तर पद है– विद्यमान। विद्यमान का नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः से लोप होकर अपुत्र बना और अपुत्र से स्वादिकार्य करने पर अपुत्रः। लोप के अभाव पक्ष में अविद्यमानपुत्रः बनेगा। इसी तरह अविद्यमानो नाथे यस्य स अनाथः, अविद्यमानः क्रोधो यस्य स अक्रोधः आदि अनेक इस वार्तिक के द्वारा सिद्ध किए जा सकते हैं।

968. स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु |6 |3 |34 | |

उक्तपुंस्कादनूङ् ऊङोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहिः। निपातनात् पञ्चम्या अलुक् षष्ठ्यश्च लुक्। तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात्पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः। गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः। चित्रगुः। रूपवद्भार्यः। अनूङ् किम्? वामोरूभार्यः।

सूत्रार्थ– इस सूत्र के अनुसार प्रवृत्ति निमित्त समान होते हुए उक्त पुस्क शब्द, उससे परे ऊङ् प्रत्यय जहां न किया गया हो, वहां ऐसे स्त्रीवाचक शब्द का पुंवाचक शब्द के समान रूप होता है। समान विभक्तिक स्त्रीलिंग उत्तर पद परे रहते, लेकिन यदि पूरणार्थक प्रत्ययान्त शब्दों तथा प्रिया आदि शब्दों के परे न हो तब।

पुंवंत – पुंल्लिंग की तरह रूप बन जाना।

भाषितपुंस्क – जिस विशेषता के कारण कोई शब्द अपने अर्थ को प्रकट करता है, उस शब्द की वह विशेषता ही उसका प्रवृत्ति निमित्त को लेकर अन्य लिंग में भी प्रवृत्त हो तो उसे भाषितपुंस्क कहते हैं। उदाहरणार्थ– घट शब्द में घड़े को बोध कराने का निमित्त घटत्व है, यदि उसमें घटत्व नहीं मिलता तो उसे कोई घट नहीं कहता। प्रत्येक शब्द का अपने अर्थ का बोधन कराने के लिए कोई न कोई निमित्त अवश्य ही होता है। उस निमित्त को प्रवृत्ति निमित्त कहते हैं।

अनूङ् – ऐसे भाषितपुंस्क शब्द से परे ऊङ्–प्रत्यय न हुआ हो।

पूरणीप्रियादि – प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि क्रमवाचक विशेषणों को पूरणी कहा जाता है। मट्, डट् आदि पूरणार्थक प्रत्यय हैं। प्रिय आदि एक गण है।

पूरणी और प्रियादि शब्दों को छोड़कर अन्य समानाधिकरण स्त्रीलिंग उत्तर पद परे होने पर ऊङ् प्रत्ययान्त भिन्न स्त्रीवाचक भाषितपुंस्क पद के रूप में पुंल्लिंग के समान होते हैं। यह सूत्र पुंवद्भाव करता है।

चित्रगुः। चित्राः गावः यस्य में अनेकमन्यपदार्थे से समास है। यहां 'गो' और 'चित्रा' में समान रूप से 'जस्' विभक्ति लगी है, इसलिए समानविभक्तिक या समानाधिकरण हैं। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से जस् का लोप करके

चित्रा + गो बना। चित्रा + गो में ऊङ् प्रत्यय नहीं हुआ है। पूरणी अर्थ के वाचक प्रत्यय वाले शब्द और प्रियादि शब्द भी पर में नहीं हैं। स्त्रीलिंग है और गायों का वाचक चित्रा स्त्रीलिंग है तथा भाषितपुंस्क भी क्योंकि इसका पुंल्लिंग चित्रः, चित्रौ आदि भी बनता है। इस प्रकार स्त्रियाः पुंवद्धाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु से गो शब्द के परे होने पर चित्रा को पुवंत् (पुंवद्धाव) हुआ अर्थात् पुंल्लिंग की तरह चित्र के रूप में परिवर्तन हुआ और चित्र + गो बना। इसके बाद गोस्त्रियों, से गो के ओकार को ह्रस्व होकर चित्रगु बना।

स्मरणीय है कि ओकार को ह्रस्व उकार होता है। अतः गो से गु बना। चित्रा और गो दोनों शब्द स्त्रीलिंग के थे किंतु समास करने से समासशक्ति के बल पर समस्त शब्द पुंल्लिंग में हो गया। प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति, रूत्वविसर्ग करके चित्रगुः सिद्ध हुआ।

रूपवद्भार्यः। रूपवती भार्या यस्य लौकिक विग्रह में अनेकमन्यपदार्थे से समास हुआ। प्रातिपदिक संज्ञा हुई और सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से दोनों सु का लोप करके रूपवती + भार्या बना। रूपवती स्त्रीलिंग है और भार्या भी स्त्रीलिंग है, दोनों में समान ही विभक्ति लगी थी, इसलिए समानविभक्तिक भी हैं।

रूपवती शब्द पुंल्लिंग में रूपवान् ऐसा बनता है, इसलिए भाषिकपुंस्क भी है। अतः स्त्रियाः पुंवद्धाषितपुस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु से भार्या शब्द परे होने पर रूपवती को पुंवत् (पुंवद्भाव) हुआ। पुंल्लिंग की तरह रूपवत् हुआ। रूपवत् + भार्या बना। भार्या के भकार के परे होने पर झलां जशोऽन्ते से जश्त्व होकर दकार बन गया, रूपवद् + भार्या बना, वर्णसम्मिलन होकर रूपवद्धार्या बना। गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य से भार्या स्त्रीप्रत्यय के टाप् ते आकार को ह्रस्व होकर रूपवद्धार्य बना। इस तरह प्रकृत सूत्र के समस्त शब्द पुंल्लिंग में बदल गए। रूपवती भार्या है जिस पुरुष की, वह पुरुष सु विभक्ति रूत्वविसर्ग करके रूपवद्धार्थः सिद्ध हुआ।

अनूङ् किमिति? स्त्रियाः पुंवद्धाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु में भाषितपुंस्क से परे ऊङ् न हो ऐसा क्यों कहा?

उत्तर है— वामोरूभार्यः। यहां वाम शब्द पूर्वक ऊरु शब्द से संहितशफलक्षणवामादेश्च से ऊङ् प्रत्यय हुआ है। उसके बाद वामोरूः भार्या यस्य में समास तथा उपसर्जनसंज्ञक भार्या शब्द को ह्रस्व होकर दीर्घ उकार वाला वामोरूभार्याः बनता है।

यदि भाषितपुंस्क से परे ऊङ् न हो ऐसा नहीं कहते तो इसमें भी उक्त सूत्र से पुंवद्भाव होकर ह्रस्व उकार वाला वामोरुभार्यः जैसा अनिष्ट रूप निर्मित होने लगता।

969. अप्पूरणीप्रमाण्योः ।5 ।4 ।116 ।।

पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत्स्त्रीलिङ्गं तदन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेः अप्स्यात्। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणी पञ्चमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणी यस्य स स्त्रीप्रमाणः। अप्रियादिपु किम्? कल्याणीप्रिय इत्यादि।

सूत्रार्थ— पूरणार्थक प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिंग शब्द, तदन्त बहुव्रीहि से तथा प्रमाणीशब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त अप् प्रत्यय हो। कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणाम् में पञ्चन् संख्यावाचक शब्द से पूरणार्थक प्रत्यय होकर स्त्रीलिंग में पञ्चमी शब्द और अनेकमन्यपदार्थे से समास होकर, सुप् के लुक् होने के बाद

कल्याणी पञ्चमी बना। यहां पर समानाधिकरण स्त्रीलिंग के उत्तर पद परे होने पर भी अपूरणीप्रियादिषु से निषेध होने के कारण स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियांमपूरणीप्रियादिषु से पुंवद्भाव नहीं हुआ किंतु अप् पूरणीप्रमाण्योः से समासान्त अप प्रत्यय होकर कल्याणीपञ्चमी 'अ' शब्द निर्मित हुआ। यस्येति च से ईकार का लोप, वर्णसम्मिलन होकर कल्याणीपञ्चम् बना और आजद्यतष्टाप् से टाप्, अनुबन्ध लोप, दीर्घ होकर कल्याणीपञ्चमी बना। इस प्रकार जस् विभक्ति का रूप कल्याणीपञ्चमाः सिद्ध हुआ।

स्त्रीप्रमाणः। स्त्री प्रमाणी यस्य सः में समास, सुप् के लुक् होने के बाद स्त्रीप्रमाणी बना। यहां पर स्त्री शब्द भाषितपुंस्क नहीं है, अतः पुंवद्भाव प्राप्त नहीं है। यहां अप् पूरणीप्रमाण्योः से समासान्त अच् प्रत्यय होकर स्त्रीप्रमाणी अ और यस्येति च से ईकार का लोप, वर्णसम्मिलन होकर स्त्रीप्रमाण बना। सु रूत्व, विसर्ग करने पर स्त्रीप्रमाणः सिद्ध हुआ।

अप्रियादिषु किम्? कल्याणीप्रियः। यह पूर्वसूत्र में दिए अपूरणी–प्रियादिषु का प्रत्युदाहरण है। पूरणार्थक प्रत्ययान्त शब्द तथा प्रियादि शब्द के परे रहने पर पुंवद्भाव निषिद्ध किया गया है। स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु में यदि अप्रियादिषु नहीं कहते तो प्रिय आदि के परे होने पर भी पूर्व विद्यमान स्त्रीलिंग शब्द में पुंवद्भाव होकर कल्याणप्रियः ऐसा अनिष्ठ रूप निर्मित हो जाता।

विशेष– एकस्य पूरणः प्रथमः, द्वयोः पूरणो द्वितीयः, त्रयाणां पूरणः तृतीयः आदि में संख्यावाचक शब्दों से तद्धित पूरणार्थक प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार के शब्दों के साथ में समास होने पर पुंवद्भाव न होकर समासान्त अप् प्रत्यय इस सूत्र के द्वारा किया जाता है।

970. बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् ।5 ।4 ।113 । ।

स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्ताद्बहुव्रीहेः पच् स्यात्। दीर्घसक्थः। जलजाक्षी। स्वाङ्गात्किम्? दीर्घसिक्थ शकटम्। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। अक्ष्णोऽदर्शनादिति वक्ष्यमाणोऽच्।

सूत्रार्थ– स्वाङ्गवाची सक्थि या अक्षि शब्द जिसके अन्त में हो, ऐसे बहुव्रीहि से समासान्त षच् प्रत्यय हो।

दीर्घसक्थः। दीर्घे सक्थिनी यस्य में अनेकमन्यपदार्थे से समास हुआ और प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लोप करने पर दीर्घ + सक्थि बना। सक्थि शरीर का अंग है, अतः बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् पच् से समासान्त षच् प्रत्यय हुआ। षकार की षः प्रत्ययस्य से इंत्संज्ञा और चकार की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा तथा तस्य लोपः से लोप हो जाने पर अ शेष बचा और दीर्घ + सक्थि + अ हुआ। यस्येति च से सक्थि के इकार के लोप होने पर दीर्घसक्थ् + अ हुआ और परस्पर वर्णसम्मिलन होकर दीर्घसक्थ बना। दीर्घ और सक्थि दोनों शब्द नपुंसकलिंग के थे किंतु समास करने से समासशक्ति के बल पर समस्त शब्द पुंल्लिंग में परिवर्तित हो गए। इसी प्रकार एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिक मानकर सु विभक्ति, रूत्व विसर्ग करके दीर्घसक्थः सिद्ध हुआ।

जलजाक्षी। जलजे इव अक्षिणी यस्याः में समास आदि कार्य करने के बाद बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् से षच् हुआ तथा अनुबन्धलोप, यस्येति च से अक्षि

के इकार का लोप करने पर जलजाक्ष शब्द बना। स्त्रीत्व की विवक्षा में पिदन्त मानकर षिद्गौरादिभ्यश्च से ङीप प्रत्यय, अनुबन्ध लोप, पुनः यस्येति च से जलजाक्ष के अन्त्य अकार को लोप करके जलजाक्षी निर्मित हुआ और प्रातिपदिक मानकर सु, हल्ङ्यादि लोप करके जलजाक्षी सिद्ध हुआ।

स्वाङ्गात् किम्? दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्षा वेणुयुष्टिः। बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् में यदि स्वाङ्गात् न कहते तो दीर्घसक्थि शकटम् (लम्बे फड़ वाली गाड़ी) और स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः (मोटी ग्रंथियों वाली बांस की छड़ी) यहां पर भी षच् होता और दीर्घसक्थम् तथा स्थूलाक्षी ऐसा अनिष्ट रूप निर्मित हो जाता। अतः उक्त सूत्र में स्वाङंगात् कहा गया और स्वाङ्गात् कहने से षच् प्रत्यय तथा षित्वात् ङीष भी नहीं हुआ।

विशेष– स्थूलाक्षा में अक्ष्णोऽदर्शनात् सूत्र से अ प्रत्यय होकर अजाद्यतष्टाप् से टाप् होता है।

971. द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ।5 ।4 ।115 ।।

आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद् बहुव्रीहौ। द्विमूर्धः। त्रिमूर्धः।

सूत्रार्थ– बहुव्रीहि समास में द्वि तथा त्रि शब्द से परे मूर्धन् शब्द को समासान्त ष प्रत्यय होता है।

द्विमूर्धः। द्वौ मूर्धानौ यस्य सः में अनेकमन्यपदार्थे से समास होकर द्विमूर्धन् बना है और द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः से समासान्त षच् प्रत्यय, अनुबन्ध लोप करने पर द्विमूर्धन् + अ बना। द्विमूर्धन् के अन् भाग की टि संज्ञा, नस्तद्धिते से टिसंज्ञक अन् का लोप करने पर द्विमूर्ध् + अ हुआ। वर्णसंयोग होने पर द्विमूर्ध हुआ और इससे सु प्रत्यय करके द्विमूर्धः बना। स्त्रीत्व विवक्षा में षित्त्वात् षिद्गौरादिभ्यश्च से ङीष् होकर द्विमूर्धीन शब्द निर्मित होता है।

विशेष– त्रिमूर्धः। द्विमूर्धः की तरह ही त्रिमूर्धः बनेगा।

972. अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ।5 ।4 ।117 ।।

आभ्यां लोम्नोऽप्स्यात् बहुव्रीहौ अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः।

सूत्रार्थ– बहुव्रीहि समास में अन्तर और बहिस् इन अव्यय शब्दों से परे लोमन् शब्द से समासान्त अप् प्रत्यय हो।

अन्तर्लोमः। अन्तर्लोमानि यस्य सः लौकिक विग्रह और अन्तर् + लोमन् जस् अलौकिक विग्रह में अनेकमन्यपदार्थे से समास होकर अर्न्लोमन् शब्द निर्मित हुआ। अन्तर्बहिभ्यां च लोम्नः से समासान्त अप् प्रत्यय करके अन्तर्लोमन् + अ बना और नस्तद्धिते से टिसंज्ञक अन् का लोप करके अन्तर्लोम। सु प्रत्यय, रूत्व, विसर्ग करके अन्तर्लोमः रूप बना।

बहिर्लोमः। बहिर्लोमानि यस्य सः लौकिक विग्रह और बहिस् + लोमन् जस् अलौकिक विग्रह में समास तथा समासान्त अप् प्रत्यय, टिलोप आदि कार्य करके अन्तर्लोमः की तरह ही बहिर्लोमः शब्द बनता है।

टिप्पणी

973. पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः |5 |4 |138 | |

हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद्बहुव्रीहौ। व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्। अहस्त्यादिभ्यः किम्? हस्तिपादः। कुसूलपादः।

सूत्रार्थ– बहुव्रीहि समास में हस्ती आदि शब्दों को छोड़कर उपमानवाचक शब्द से परे पाद शब्द का समासान्त लोप होता है।

व्याघ्रपात्। व्याघ्रपादौ इव पादौ यस्य में अनेकमन्यपदार्थे के अन्तर्गत सप्तम्युपमान–पूर्वपदोत्तरलोपश्च वार्तिक से समास और पूर्व पद व्याघ्रपादौ के उत्तर पद पाद का लोप करके प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करने के बाद व्याघ्रपाद शब्द बनता है। पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः से अलोऽन्त्यस्य की सहायता से पाद के अकार का समासान्त लोप करके व्याघ्रपाद शब्द निर्मित हुआ और इससे सु आदि विभक्तियां आती हैं और वैकल्पिक चर्त्व होकर व्याघ्रपात्, व्याघ्रपाद् रूप सिद्ध हुआ।

अहस्त्यादिभ्यः किम्? हस्तिपादः कुसूलपादः। पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः सूत्र में अहस्त्यादिभ्यः कहा गया है। इस प्रकार का प्रत्युदाहरण देकर ग्रंथकार सूत्र का विश्लेषण करते हैं। यहां यह उपलब्ध नहीं रखा जाता तो हस्तिपाद, कुसूलपाद आदि शब्दों में भी पाद के अकार का लोप होकर हस्तिपात्, कुसूलपात् ऐसे अनिष्ट रूप बनने लगते। अतः अहस्त्यादिभ्यः कहा गया है।

974. संख्यासुपूर्वस्य |5 |4 |140 | |

पादस्य लोपः स्यात्समासान्तो बहुव्रीहौ। द्विपात्। सुपात्।

सूत्रार्थ– सङ्ख्यावाचक और सु अव्यय पूर्वक पाद शब्द का समासान्त लोप होता है।

द्विपात्। द्वौ पादौ यस्य में अनेकमन्यपदार्थे से समास हुआ। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करने के बाद द्विपाद बना और सङ्ख्यासुपूर्वस्य से पाद के अकार का समासान्त लोप प्राप्त हुआ।

यहां अलोऽन्त्यस्य नियम के अनुसार अन्त्य अल का लोप होगा। द्विपाद के अंतिम अकार का लोप करके द्विपाद् और इससे सु आदि विभक्ति कार्य होकर भी द्विपाद् बना। दकार को वैकल्पिक चर्त्व करने पर द्विपात् द्विपाद् दोनों रूप सिद्ध होते हैं। सुपात् सु शोभनौ पादौ यस्य सः में अनेकमन्यपदार्थे से समास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् सङ्ख्यासुपूर्वस्य से समासान्त पाद के अकार का लोप करके सुपाद् बना। यहां द्विपात् की तरह ही चर्त्व होता है।

975. उद्विभ्यां काकुदस्य |5 |4 |148 | |

लोपः स्यात्। उत्काकुत्। विकाकुत्।

सूत्रार्थ– बहुव्रीहि समास में उद् और वि उपसर्गों से परे काकुद शब्द का समासान्त लोप होता है।

उत्काकुत्। उद्गतं/उन्नतं काकुदं यस्य सः में अनेकमन्यपदार्थे से समास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करने के बाद उत्काकुद शब्द निर्मित होता है। इसी तरह अलोऽन्त्यस्य परिभाषा से उद्विभ्यां काकुदस्य के द्वारा समासान्त काकुद के अकार का लोप होने पर उत्काकुद् बना। उत्काकुद् से सु विभक्ति में द्विपात् द्विपाद् की तरह

वैकल्पिक चर्त्व होकर उत्काकुत्, उत्काकुद्, रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार वि उपसर्ग से विकाकुत्, विकाकुद् भी सिद्ध होगा।

976. पूर्णाद्विभाषा |5 |4 |149 | |

टिप्पणी

पूर्णकाकुत्। पूर्णकाकुदः।

सूत्रार्थ– बहुव्रीहि समास में पूर्ण शब्द से परे काकुद शब्द का विकल्प से समासान्त लोप होता है।

पूर्णकाकुत्, पूर्णकाकुदः। पूर्ण काकुदं यस्य में अनेकमन्यपदार्थे से समास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करने के बाद पूर्णकाकुद शब्द निर्मित हुआ और पूर्णाद्विभाषा के द्वारा अलोऽन्त्यस्य की सहायता से समासान्त काकुद के अकार का विकल्प से लोप करके पूर्णकाकुद् बना। पूर्णकाकुद् से सु विभक्ति में वैकल्पिक चर्त्व होकर पूर्णकाकुत् और लोप न होने के पक्ष में पूर्णकाकुदः बनता है।

977. सुहृद्दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः |5 |4 |150 | |

सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते। सुहृन्मित्रम्। दुर्हृदमित्रः।

सूत्रार्थ– बहुव्रीहि समास में क्रमशः मित्र और अमित्र अर्थों में सु और दुर् से परे हृदय शब्द के स्थान पर हृद् आदेश का निपातन किया जाता है।

सुहृन्मित्रम्। सु शोभनं यस्य लौकिक विग्रह तथा सु + हृदय सु अलौकिक विग्रह में अनेकमन्यपदार्थे से समास हुआ। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके सुहृदय शब्द निर्मित हुआ। सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः से हृदय के स्थान पर हृद् आदेश का निपातन होकर सुहृदय और इस सुहृदय में प्रातिपदिक से सु का लोप होकर प्रकृत सूत्र द्वारा हृदय को हृद् आदेश होकर विकल्प से दकार को चर्त्व तकार होने पर सुहृत्, सुहृद् बना।

सुहृत् के आगे मित्रम् का मकार है। अतः यहां तकार का यरोऽनुनासिकेनुनासिको वा से अनुनासिक होकर सुहृन्मित्रम् बना है।

978. उरः प्रभृतिभ्यः कप् |5 |4 |151 | |

सूत्रार्थ– बहुव्रीहिसमास में उरस् प्रभृति से समासान्त कप् प्रत्यय होता है।

विशेष– कप् में पकार की इत्संज्ञा होने पर क शेष रहता है। यहां ककार की इत्संज्ञा नहीं हो सकती क्योंकि लशक्वतद्धिते में अतद्धिते कहा गया है। उरः प्रभृतिभ्यः से किया जाने वाला कप् तद्धित का है। अतः तद्धित के ककार की इत्संज्ञा नहीं होती है।

उरः प्रभृति में उरस्, सर्पिस्, पुमान्, उपानह्, अनड्वान्, पयः, नौ, लक्ष्मी, दधि, मधु आदि शब्द दर्शनीय हैं।

979. कस्कादिषु च |8 |3 |48 | |

एषु इण उत्तरस्य विसर्गस्य षोऽन्यस्य तु सः। इति सः। व्यूढोरस्कः।

सूत्रार्थ– इस सूत्र के अनुसार कस्क आदि गणपठित शब्दों में इण् प्रत्याहार से परे विसर्ग को षकार, अन्यत्र सकार निर्देशित किया गया है। स्पष्टार्थ– कहां सकार आदेश और कहां षकार आदेश होगा इसे दूसरी तरह से समझें। जहां विसर्ग से पूर्व में इण्

टिप्पणी

प्रत्याहार का वर्ण है, वहां मूर्धन्य षकार और जहां इण् नहीं है वहां दन्त्य सकार आदेश होगा।

व्यूढोरस्कः। व्यूढम् उरः यस्य (पुरुषस्य) लौकिक विग्रह और व्यूढ सु + उरस् सु अलौकिक विग्रह में समास, प्रातिपदिकसंज्ञा सु का लोप करके व्यूढ + उरस् बना। आद्गुणः से गुण होकर व्यूढोरस् बना। उरःप्रभृतिभ्यः कप् से समासान्त कप् प्रत्यय होने पर व्यूढोरस् + कप् हुआ। पकार का अनुबन्धलोप तथा व्यढोरस् के सकार का ससजुषोः रूः से रूत्व एवं खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग हुआ। व्यूढोरस्कः रूप सिद्ध हुआ।

विशेष– कालिदास के रघुवंश में प्रयोग द्रष्टव्य है–

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः।।

980. निष्ठा ।2 ।2 ।36 ।।

न्ष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। युक्तयोगः।

सूत्रार्थ– इस सूत्र के अनुसार बहुव्रीहि समास में निष्ठान्त शब्द का पूर्व में निपात होता है।

युक्तयोगः। युक्तो योगो यस्य में युज् धातु से क्त प्रत्यय होकर युक्त बना है। युक्त सु योग सु में अनेकमन्यपदार्थे से समास तथा निष्ठा से क्त प्रत्ययान्त युक्त का पूर्वनिपात हुआ है। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके युक्तयोग बना। सु विभक्ति में युक्तयोगः सिद्ध हुआ है।

विशेष– क्तक्तवतु निष्ठा से क्त और क्तवतु प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा होती है। प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् अर्थात् प्रत्यय के ग्रहण में प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है। इस नियम के अनुसार यहां सूत्रार्थ में क्त या क्तवतु प्रत्ययान्त शब्द का ग्रहण हुआ। बहुव्रीहि समास में क्त प्रत्ययान्त एवं क्तवतु प्रत्ययान्त का पूर्वनिपात हो जाता है।

981. शेषाद्विभाषा ।5 ।4 ।154 ।।

अनुक्तसमासान्ताद् बहुव्रीहेः कप्वा। महायशस्कः, महायशाः।

सूत्रार्थ– अनुक्त समासान्त बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय होता है; विकल्प से।

महायशस्कः, महायशाः। महद् यशः यस्य (पुरुषस्य) में अनेकमन्यपदार्थे से समास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सु का लोप करके महत् + यशस् निर्मित हुआ। आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः से महत् के तकार के स्थान पर आकार आदेश होकर मह + आ हुआ। सवर्णदीर्घ तथा वर्णसम्मिलन करने पर महायशस् बना। महायशस् से बहुव्रीहि में कोई भी समासान्त प्रत्यय का विधान नहीं किया गया है। यह शेष है; इसलिए शेषाद्विभाषा से विकल्प से समासान्त कप् प्रत्यय होकर महायशस् + क निर्मित हुआ। अब एकदेशविकृतन्याय से महायशस्क को प्रातिपदिक मानकर सु, रूत्वविसर्ग करने पर महायशस्कः सिद्ध हुआ। कप् प्रत्यय विकलप से होता है।

जब यह प्रत्यय नहीं होगा उस पक्ष में महायशस् से सु हुआ। सु के सकार का हल्ङ्याभ्यो दीर्घात् सुतिस्पृक्तं हल् से स् के सकार का लोप, अत्वसन्तस्य चाधातोः से उपधादीर्घ करके महायशास् बना। सकार को रूत्वविसर्ग करके महायशाः बन गया।

विशेष– उक्तादन्यः शेषः। जिन शब्दों के बहुव्रीहि समास में कोई समासान्त प्रत्यय नहीं कहे गए हैं, वे शेष कहलाते हैं।

इति बहुव्रीहि समासः

5.3.5 अथ द्वन्द्व समासः

982. चार्थे द्वन्द्वः ।2 ।2 ।29 ।।

अनेक सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते स द्वन्द्वः। समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः। तत्र 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इति परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः। 'भिक्षामट गां चानय' इत्यन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेन अन्वयोऽन्वाचयः। अनयोरसामर्थ्यात्समासो न। 'धवखदिरो छिन्धि' इति मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः। 'संज्ञापरिभाषम्' इति समूहः समाहारः।।

सूत्रार्थ– चकार के अर्थ में अनेक सुबन्तों का परस्पर समास होता है और उसकी द्वन्द्वसंज्ञा होती है।

चार्थे द्वन्द्वः में पठित 'च' इस निपात के 4 अर्थ हैं– 1. समुच्चय, 2. अन्वाचय, 3. इतरेतरयोग, 4. समाहार।

समुच्चय– जब परस्पर निरपेक्ष अनेक पद किसी एक पद में अन्वित होते हैं तो उसे समुच्चय चार्थ कहा जाता है। जैसे– ईश्वरं गुरुं च भजस्व' वाक्य में ईश्वर और गुरु दोनों परस्पर निरपेक्ष हैं। दोनों का भजन क्रिया के साथ अन्वय हुआ है। अतः यहां 'च' का अर्थ समुच्चय है।

अन्वाचय– जिनका समुच्चय हो रहा हो, ऐसे पदार्थों में एक का गौणरूप से अन्वय हो, तब उसे 'अन्वाचय' कहा जाता है। जैसे– 'भिक्षाम् अट गां च आनय' वाक्य में प्रधान कार्य है 'भिक्षा मांगना' और गाय को लाना आनुषंगिक (गौण) कार्य है। अतः यह अन्वाचय है।

इतरेतरयोग– जब दो या अधिक पदार्थ मिलकर आगे अन्वित हुआ करते हैं, तब उसे 'इतरेतरयोग' कहा जाता है। जैसे– 'धवखदिरौ छिन्धि' वाक्य में धव और खदिर आपस में मिलकर छेदन क्रिया में अन्वित हुए हैं। अतः यह इतरेतरयोग है।

समाहार– समाहार 'समूह' का नाम है। इसमें इतरेतरयोग की तरह पदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ पृथक्–पृथक् अन्व नहीं होता है प्रत्युत पदार्थो के समूह का ही अन्वय होता है। जैसे– 'संज्ञापरिभाषम्।' संज्ञा च परिभाषा च (संज्ञा और परिभाषा का समूह)। इस वाक्य में 'च' का प्रयोग 'समाहार' के अर्थ में ही हुआ है।

विशेष– 'च' के 'समुच्चय' तथा 'अन्वाचय'– इन दो अर्थों में सामर्थ्य नहीं होने से समास नहीं होता है। अतः शेष 'इतरेतरयोग' तथा 'समाहार'– इन दो अर्थों में ही द्वन्द्व समास होता है। उपरोक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है। अतएव प्रकृत सूत्र की व्याख्या इस प्रकार होगी– 'इतरेतरयोग' और 'समाहार' अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का परस्पर समास होता है, जिसे 'द्वन्द्व समास' कहा जाता है।

983. राजदन्तादिषु परम् ।2 ।2 ।31 ।।

एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात्। दन्तानां राजा–राजदन्तः।

टिप्पणी

सूत्रार्थ– राजदन्तादि गण है। इसके अन्तर्गत राजदन्त, अग्रेवण आदि शब्द आते हैं। 'उपसर्जनं पूर्वम्' (2।2।30) से 'उपसर्जनम्' की अनुवृत्ति करने पर सूत्र का अर्थ होता है– (राजदन्तादिषु) 'राजदन्त' इत्यादि शब्दों से (उपसर्जनम्) उपसर्जन का बाद में प्रयोग होता है।

(वा.) (धर्मादिष्वनियमः)। अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ– इत्यादि।

धर्मादिष्वनियमः – वार्तिक राजदन्तादिषु परम् का अपवाद है। धर्म इत्यादि गणपठित शब्दों में पूर्वानिपात अथवा परनिपात का कोई निश्चित नियम नहीं है। इस गण में पढ़े गए सभी शब्दों में से किसी भी शब्द का पूर्वप्रयोग किया जा सकता है। अतएव ध र्मश्च अर्थश्च में द्वन्द्व समास करके धर्मार्थौ या अर्थधर्मौ दोनों प्रयोग बन सकते हैं।

984. द्वन्द्वे घि ।2 ।2 ।32 ।।

द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात्। हरिश्च हरश्च हरिहरौ।

सूत्रार्थ– हरिहरौ। हरिश्च हरश्च लौकिक विग्रह एवं हरि सु + हर सु अलौकिक विग्रह है। इसमें चार्थे द्वन्द्वः सूत्र से समास हुआ। प्रातिपदिकसंज्ञा हुई, सु का लुक् हुआ, हरि + हर बन गया। द्वन्द्वे घि सूत्र में घिसंज्ञक शब्द का पूर्वप्रयोग हरि का पूर्वप्रयोग हुआ हरिहर बन गया। हरश्च हरिश्च विग्रह जैसा विग्रह न करके द्वन्द्वे घि को देखते हुए विग्रह में ही घिसंज्ञक का पूर्वप्रयोग किया जाता है। हरिहर में दो शब्द हैं इसलिए द्विवचन का औ विभक्ति आया। अकारान्त बालक के समान हरिहरौ सिद्ध हुआ।

विशेष– शेषो घ्यसखि से ह्रस्व इकारान्त तथा ह्रस्व उकारान्त की घिसंज्ञा होती है। ऐसे घिसंज्ञक शब्द का आदि में यानी पूर्व में प्रयोग होने का विधान किया गया है।

985. अजाद्यदन्तम् ।2 ।2 ।33 ।।

इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात्। ईशकृष्णौ।

सूत्रार्थ– द्वन्द्व समास में अजादि तथा अदन्त शब्दों का पूर्व में प्रयोग करना चाहिए।

ईशकृष्णौ। ईशश्च कृष्णश्च लौकिक विग्रह तथा ईश सु + कृष्ण सु अलौकिक विग्रह में चार्थे द्वन्द्वः सूत्र से समास हुआ। प्रातिपदिकसंज्ञा हुई, सु का लुक् हुआ, ईश + कृष्ण बन गया। अजाद्यदन्तम् सूत्र से अजादि तथा अदन्त ईश शब्द का पूर्वप्रयोग हुआ। द्विवचन में औ, वृद्धि इत्यादि करके ईशकृष्णौ सिद्ध हुआ।

986. अल्पाच्तरम् ।2 ।2 ।34 ।।

शिवकेशवौ।

सूत्रार्थ– द्वन्द्व समास में सभी शब्दों में जो अपेक्षाकृत कम अच् वाला हो, उसका ही पूर्वप्रयोग हो। शिवकेशवौ। शिवश्च केशवश्च लौकिक विग्रह तथा शिव सु + केशव सु अलौकिक विग्रह में चार्थे द्वन्द्वः सूत्र से समास हुआ। प्रातिपदिकसंज्ञा हुई, सु का लुक् हुआ, शिवकेशव बन गया। शिव में दो अच् हैं तथा केशव में तीन अच् हैं। दोनों में से अपेक्षाकृत कम अच् वाला शब्द शिव है, अतः अल्पाच्तरम् से शिव का पूर्वप्रयोग हुआ। द्विवचन में औ विभक्ति, वृद्धि इत्यादि करके शिवकेशवौ सिद्ध हुआ।

987. पितामात्रा ।1 ।2 ।70 ।।

मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते। माता च पिता च पितरौ, मातापितरौ वा।

सूत्रार्थ– मातृ शब्द के साथ उच्चारित किया जाने वाला पितृ शब्द विकल्प से शेष रहता है।

पितरौ, मातापितरौ वा। माता च पिता च लौकिक विग्रह तथा मातृ सु पितृ सु अलौकिक विग्रह है। चार्थे द्वन्द्वः से समास होने के उपरांत प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् हुआ। मातृ पितृ बना। पिता मात्रा सूत्र से पितृ का शेष तथा मातृ का लोप हो जाता है। यहां पितृ से मातृ का भी कथन हुआ है इसलिए द्विवचन में पितृ शब्द से पितरौ बना। एकशेष कार्य विकल्प से होता है और एकशेष न होने के पक्ष में द्वन्द्वसमास हुआ। अभ्यर्हितं च वार्तिक से मातृ के ऋकार की जगह पर आनङ् आदेश होने पर मातापितृ बना। द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन औ विभक्ति हुआ। ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः से गुण करके मातापितरौ सिद्ध होता है।

विशेष– पिता मात्रा सूत्र एकशेष समास का सूत्र है। यहां मातृ तथा पितृ शब्दों को समास में एकयोग करने पर मात्र पितृ शब्द शेष रहता है तथा मातृ का लोप होता है। 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' एक विभक्ति में सरूप दिखने वाले में से एक का शेष करता है, जबकि यह दो असरूप शब्दों, केवल माता पिता में से पिता को शेष रखता है। जहां शेष किया जाता है, वह लुप्त हुए शब्द के अर्थ का भी परिचायक होता है। यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी। अतएव एकशेष में लुप्त पदों के अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है।

इस सूत्र का कार्य द्वन्द्व समास के इतर एकशेष करना है। एकशेष द्वन्द्व से अलग एक स्वतंत्र कार्य है। एकशेष विकल्प से होता है अतएव यहां द्वन्द्व समास भी किया जाता है। द्वन्द्व की जगह पर सीधे एकशेष भी किया जा सकता है।

मातृ और पितृ में मातृ शब्द पिता दशगुण अधिक अभ्यर्हित यानी गौरवमयी होती है इसलिए मातृ का पूर्वप्रयोग होता है। स्मृतिशास्त्र में पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते आदि वचन कहे गए हैं।

988. द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्

एषां द्वन्द्व एकवत्। पाणिपादम्। मार्दङ्गिकवैणविकम्। रथिकाश्वारोहम्।

सूत्रार्थ– प्राणी, तूर्य (वाद्य विशेष) तथा सेना शब्दों के अंगवाचक शब्दों का द्वन्द्व समास एकवचन (समाहार) का हो।

पाणिपादम्। पाणी च पादौ च तेषां समाहार द्वन्द्वः। यहां चार्थे द्वन्द्वः सूत्र से समास करने के बाद द्वन्द्वश्च पाणिपादम्। पाणी च पादौ च तेषां समाहार द्वन्द्वः। यहां चार्थे द्वन्द्वः से समास करने के बाद द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् से एकवचन का विधान हुआ। सु विभक्ति आई तथा समाहार होने के कारण स नपुंसकम् से नपुंसक हुआ। अतएव अम् आदेश, पूर्वरूप करके पाणिपादम् सिद्ध हुआ। यह प्राणी के अंग का उदाहरण है।

विशेष– प्राणी, तूर्य (वाद्ययंत्र) तथा सेना के अंग के वाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवचनान्त होता है। एकवद्धाव (एकवचनान्त) करने का अर्थ यह है कि इनका समाहार अर्थ में ही द्वन्द्वसमास होता है, इतरेतरयोग में नहीं। अनेक मिलकर जब समूह बनाते हैं तब वह एक हो जाता है, इसलिए समाहार द्वन्द्व एकवचनान्त होता है। अतएव समास के विग्रह बनाते समय ही समाहार का विग्रह बनाना चाहिए।

टिप्पणी

989. द्वन्द्वात्–चु–द–ष–हान्तात्समाहारे |5 |4 |106

चवर्गान्ताद्दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट् टच् स्यात्समाहारे। वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम्। त्वक्स्रजम्। शमीदृषदम्। वाक्त्विषम्। छत्रोपानहम्। समाहारे किम्? प्रावृट्शरदौ।

सूत्रार्थ– चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त तथा हकारान्त शब्दों से समाहार द्वन्द्व में समासान्त टच् प्रत्यय होता है।

वाक्त्वचम्। वाक् च त्वक् च तयोः समाहारः लौकिक विग्रह है तथा वाच् सु त्वच् सु अलौकिक विग्रह है। चार्थे द्वन्द्वः सूत्र से द्वन्द्व समास करके प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करने पर वाच् + त्वच् बना। वाच् के चकार को चोः कुः से कुत्व होकर वाक् + त्वच् बना। अब द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे से चवर्गान्त मानकर समासान्त टच् हुआ। अनुबंध लोप होकर अ बचा। वाक्त्वच् + अ बना। वर्णसम्मिलन, प्रातिपदिक मानकर सु, समाहार में नपुंसक तथा एकवचन होकर वाक्त्वचम् सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी हैं–

त्वक् च स्रक् च – त्वक्स्रजम्।

शमी च दृषद् च – शमीदृषदम्।

वाक् च त्विट् च – वाक्त्विषम्।

छत्रं च उपानह् च – छत्रोपानहम्।

समाहारे किम्? प्रावृट्शरदौ। अगर इस सूत्र में समाहार हो, ऐसा नहीं कहते तो दकारान्त शरद् से इतरेतर योग द्वन्द्व में भी टच् हो जाता, वह न हो, इसके लिए सूत्र में समाहारे लिखा गया है।

इति द्वंद्व समासः।

5.3.6 अथ समासान्ताः

990. ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे |5 |4 |74 | |

अ अनक्षे इतिच्छेदः। ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अप्रत्ययोऽन्तावयवोऽक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न। अर्धर्चः। विष्णुपुरम्। विमलापं सरः। राजधुरा। अक्षे तु अक्षधूः। दृढधूरक्षः। सखिपथः। रम्यपथो देशः।

सूत्रार्थ– ऋक्, पुर, अप्, धुर् तथा पथिन् शब्द जिस समास के अंत में हों, तथा उसके अंत में अ प्रत्यय हो।

अ अनक्षे इतिच्छेदः स्थित आनक्षे पद में अ + अनक्षे ऐसा परिच्छेद है। अनक्षे का निषेध केवल धुर् शब्द हेतु है क्योंकि उसी में योग्यता है, दूसरों में नहीं। अक्ष (रथ के पहिए के बीच का भाग) में जो धुर् (धुरा) हो, उसको बताने वाला धुर् शब्द अंतिम हो तो अ प्रत्यय नहीं होगा।

अर्धर्चः। ऋचः अर्धम् लौकिक विग्रह तथा ऋच् ङस् + अर्ध सु अलौकिक विग्रह है। यहां अर्ध नपुंसकम् से समास हुआ। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करने पर ऋच + अर्थ तथा प्रथमानिर्दिष्ट अर्ध की उपसर्जनसंज्ञा, उसका पूर्वनिपात करके अर्ध + ऋच् बना। आद्‌गुणः से गुण होकर अर्धर्च् बना। अब ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे से समासान्त अच् होकर अर्धर्च बना और सु, रूत्वविसर्ग करने पर अर्धर्चः सिद्ध हुआ।

विष्णुपुरम्। विष्णोः पूः लौकिक विग्रह तथा विष्णु ङस् + पुर् सु अलौकिक विग्रह है। यहां षष्ठी से तत्पुरुष समास हुआ। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करके विष्णुपुर् बना। प्रथमानिर्दिष्ट से विष्णु की उपसर्जनसंज्ञा, उसका पूर्वनिपात है। अब ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे से समासान्त अच् होकर विष्णुपुर + अ बना। वर्णसम्मिलन, प्रातिपदिकत्वेन सु, नपुंसक होने के कारण सु के स्थान पर अम् आदेश तथा पूर्वरूप करके पर विष्णुपुरम् सिद्ध हुआ।

विमलापं सरः। यहां विमला आपो यस्य लौकिक विग्रह तथा विमला जस् + अप् जस् अलौकिक विग्रह है। अनेकमन्यपदार्थे से बहुव्रीहि समास करके प्रातिपदिकसंज्ञा सुप् का लुक् करके विमला–अप् बना है। सवर्णदीर्घ होकर विमलाप् और ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे से समासान्त अच् होकर विमलाप + अ बना। वर्णसम्मिलन प्रातिपदिकत्वेन सु, सरः नपुंसक होने के कारण इसका विशेषण विमलाप भी नपुंसक हुआ। सु की जगह पर अम् आदेश तथा पूर्वरूप करने पर विमलापं सरः सिद्ध हुआ।

अक्षे तु अक्षक्षूः। यहां अनक्षे का विग्रह करके, अ अनक्षे पढ़ कर अक्ष शब्द के साथ सम्बद्ध धुर्, तदन्त से अच् प्रत्यय का निषेध किया है। अतः अक्षस्य धूः षष्ठी करने के बाद अच् से रहित अक्षधूः ही बनेगा। इस प्रकार दृढधूरक्षः में, दृढा धूः यस्य में बहुव्रीहि समास करने के बाद समासान्त अच् प्रत्यय नहीं हुआ। अतएव दृढधूः ही बनेगा।

991. अक्ष्णोऽदर्शनात् ।5 ।4 ।76 ।।

अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽच् स्यात्समासान्तः। गवामक्षीव गवाक्षः।

सूत्रार्थ– जो अक्षि शब्द नेत्रवाचक न होकर उस अक्षिशब्दान्त से समासान्त अच् प्रत्यय होता है।

गवाक्षः। यहां गवाम् अक्षि इव लौकिक विग्रह, गो आम् अक्षि सु अलौकिक विग्रह है और अक्षि शब्द नेत्र वाचक न होकर नेत्र की तरह छिद्र वाली खिड़की का वाचक है। षष्ठी सूत्र के द्वारा षष्ठीतत्पुरुष समास होने के उपरांत प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्ति का लुक् करके गो + अक्षि बना। अवङ्ग स्फोटायनस्य से अवङ् आदेश, सवर्णदीर्घ होकर गवाक्षि + अ और अक्ष्णोऽदर्शनात् से समासान्त अच् प्रत्यय होकर गवाक्ष बना। इस तरह स्वादिकार्य करके गवाक्षः सिद्ध होता है।

992. उपसर्गादध्वनः ।5 ।4 ।85 ।।

प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः।

सूत्रार्थ– उपसर्ग से परे अध्वन् शब्द को समासान्त अच् प्रत्यय हो।

प्राध्वो रथः। प्रगतः अध्वानम् लौकिक विग्रह तथा प्र + अध्वन् अम् अलौकिक विग्रह में अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया वार्तिक से समास हुआ। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् करने पर प्र + अध्वन् बनता है। उपसर्गादध्वनः से अच् प्रत्यय हुआ। प्र + अध्वन् + अ हुआ। नस्तद्धिते से अध्वन् के अन् टिसंज्ञक का लोप होने पर प्र + अध्व + अ बनता है। प्र + अध्व के मध्य सवर्णदीर्घ तथा अध्व् + अ का वर्णसम्मिलन करने पर प्राध्व बनता है। स्वादिकार्य करके प्राध्वः सिद्ध हुआ है।

993. न पूजनात् ।5 ।4 ।69 ।।

पूजनार्थात्परेभ्यः समासान्ता न स्युः। सुराजा। अतिराजा।

टिप्पणी

सूत्रार्थ– पूजार्थक शब्दों से परे समासान्त प्रत्यय नहीं होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' (5।4।91) आदि सूत्रों द्वारा 'रजन' आदि से जो 'टच' आदि समासान्त प्रत्यय कहे गए हैं वे 'राजन' आदि प्रशंसावाचक शब्दों से परे होने पर नहीं होते हैं।

इति समासान्ताः।

लघुसिद्धान्तकौमुदी में तत्पुरुष, बहुव्रीहि इत्यादि प्रकरणों में समासान्त प्रत्ययों का उल्लेख किया गया है। वहां से अवशिष्ट समासान्त प्रत्ययों का उल्लेख करने हेतु यह प्रकरण पृथक् से बना है। अध्येताओं को चाहिए कि समासान्त प्रत्ययों के विचार के समय उन सूत्रों को भी स्मृति में रखें। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी में एकशेषसमास, अलुक्समास इत्यादि हेतु भी अलग से प्रकरण बनाए गए हैं, परंतु लघुसिद्धान्तकौमुदी में उन प्रकरणों को नहीं बनाया गया। प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी करने वाले छात्रों को समास अध्ययन के समय समास की स्पष्टता हेतु वैयाकरसिद्धान्तकौमुदी का भी अवलोकन करना चाहिए।

अपनी प्रगति जांचिए

3. 'घनश्यामः' शब्द का लौकिक विग्रह क्या होगा?
   (क) घनस्य श्यामः (ख) धन इव श्यामः
   (ग) घनात् श्यामः (घ) घनेन श्यामः
4. 'राजाऽहः सखिभ्यष्टच्' सूत्र से राजन्, अहन् और सखि शब्द अंत में होने पर तत्पुरुष से समासांत किस प्रत्यय का विधान किया गया है?
   (क) यत् (ख) शतृ
   (ग) टच् (घ) अण्
5. 'कर्तृकरके कृता बहुलम्' सूत्र किस समास का विधान करता है?
   (क) तत्पुरुष (ख) बहुव्रीहि
   (ग) द्विगु (घ) कर्मधारय
6. पीतं अम्बरं यस्य सः – पीताम्बरः। यह उदाहरण किस समास का है?
   (क) द्वंद्व (ख) बहुव्रीहि
   (ग) तत्पुरुष (घ) कर्मधारय
7. 'चार्थे द्वंद्वः' सूत्र किस समास का विधान करता है?
   (क) बहुव्रीहि (ख) अव्ययीभाव
   (ग) तत्पुरुष (घ) द्वंद्व

5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (घ)

टिप्पणी

3. (ख)
4. (ग)
5. (क)
6. (ख)
7. (घ)

5.5 सारांश

'समसनं समासः' अर्थात् समसन या संक्षिप्तीकरण समास कहलाता है। जब दो या दो से अधिक पद मिलकर एक पद के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, तब समास होता है। समास के विषय में जानने के लिए पदों और उनसे सम्बन्धित विभक्तियों का ज्ञान होना आवश्यक है। समास प्रकरण में पाठ्यक्रमानुसार समास, अव्ययीभाव समास, तत्पुरुष समास, बहुव्रीहि समास और द्वन्द्व समास आदि से सम्बन्धित नियम बताए गए हैं। इसके पश्चात समासान्त प्रत्यय के द्वारा अवशिष्ट समासों के विषय में बताया गया है।

समास प्रकरण में 'समर्थः पदविधि' सूत्र से उन्हीं पदों में समास के विधान का निर्देश किया गया है जिनमें संक्षिप्तीकरण का सामर्थ्य विद्यमान होता है। सुबन्तों का सुबन्तों के साथ समास होना भी स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक समास से सम्बन्धित सूत्रों के माध्यम से समास के नियमों का प्रतिपादन करते हुए उदाहरणों के द्वारा शब्दों के लौकिक विग्रह, अलौकिक विग्रह और शब्द–रूपों की सिद्धियों का निरूपण किया गया है।

इस प्रकार समास प्रकरण के अध्ययन से व्याकरण के नियमों का और संस्कृत भाषा के परिष्कृत रूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

5.6 मुख्य शब्दावली

- **सुबन्त** – सुप् आदि प्रत्ययों से सम्पन्न पद।
- **वागर्थौ** – शब्द एवं अर्थ।
- **अधिगोपम्** – गोपालों के विषय में।
- **पञ्चगङ्गम्** – पांच गंगाओं का समूह।
- **ईशकृष्णौ** – महादेव शिव और भगवान् विष्णु।

5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. अव्ययीभाव समास को उदाहरण देकर परिभाषित कीजिए।
2. कर्मधारय समास और द्विगुसमास की परिभाषा दीजिए।
3. 'चार्थे द्वंद्वः' सूत्र को उदाहरण सहित समझाइए।

4. नञ् के 'न' का लोप किस सूत्र से होता है?
5. 'अतिसीमः' समास में कौन–सा सूत्र प्रवृत्त हुआ है?

टिप्पणी

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. समास की परिभाषा देते हुए समास के भेदों का विस्तारपूर्वक निरूपण कीजिए।
2. तत्पुरुष समास का विस्तार से विवेचन कीजिए।
3. तत्पुरुष समास की सिद्धि में प्रयुक्त सूत्रों को सोदाहरण समझाइए।
4. द्वन्द्व समास के सभी सूत्र–वृत्ति उदाहरण सहित लिखिए।
5. बहुव्रीहि समास को उदाहरण सहित समझाइए।

5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. लघुसिद्धान्तकौमुदी, वरदराज, व्याख्या. धरानन्द शास्त्री घिल्डियाल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
2. लघुसिद्धान्तकौमुदी, वरदराज, व्याख्या. भीमसेन शास्त्री, भैमी प्रकाशन, दिल्ली।
3. लघुसिद्धान्तकौमुदी, वरदराज, व्याख्या. आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद।
4. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (पूर्वार्द्ध), भट्टोजिदीक्षित, प्रकाशन- मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
5. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (1-2 भाग), व्याख्या. गोपालदत्त पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।